

श्री चन्द्रघि महत्तर प्रणीत

# पंचसंग्रह

[योगोपदिग्मार्गणा अधिकार]

(मूल, शब्दार्थ, विवेचन युक्त)

हिन्दी व्याख्याकार

श्रमणसर्व प्रवर्तक भरुधरके सरी  
श्री मिथ्रीभल जी महाराज

सम्प्रेक्ष

श्री सुकलमुनि

सम्पादक

देवकुमार जैन

प्रकाशक

आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान, जोधपुर

# प्रकाशनीय

जैनदर्शन का भर्तु समझना ही ही रो 'कर्मसिद्धान्त' को अवश्यक अत्यावश्यक है। कर्मसिद्धान्त का सबौगीण तथा प्राभाणिक विवेचन 'कर्मग्रन्थ' (छह भाग) में बहुत ही विशद रूप से हुआ है, जिनका प्रकाशन करने का गौरव हमारी सभिता को प्राप्त हुआ। कर्मग्रन्थ के प्रकाशन से कर्मसाहित्य के जिजासुओं को बहुत लाभ हुआ तथा अनेक लोगों से आज उनकी मांग बराबर आ रही है।

कर्मग्रन्थ की भाँति ही 'पंचसंग्रह' यन्त्र भी जैन कर्मसाहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसमें भी विस्तार पूर्वक कर्मसिद्धान्त के समस्त अंगों का विवेचन है।

पूज्य गुरुदेव श्री मरुधरकेसरी मिश्रीभल जी महाराज जैनदर्शन के प्रीढ़ विद्वान और सुन्दर विवेचनकार थे। उनकी प्रतिभा अद्भुत थी, ज्ञान की तीव्र सूचि अनुकरणीय थी। समाज में ज्ञान के प्रचार-प्रसार में अत्यधिक रुचि रखते थे। यह गुरुदेवश्री के विद्वानुराग का प्रत्यक्ष उदाहरण है कि इतनी वृद्ध अवस्था में भी पंचसंग्रह जैसे जटिल और विशाल ग्रन्थ की व्याख्या, विवेचन एवं प्रकाशन का अद्भुत साहसिक निर्णय उन्होंने किया और इस कार्य को सम्पन्न करने की समस्त व्यवस्था भी करवाई।

जैनदर्शन एवं कर्मसिद्धान्त के विशिष्ट अभ्यासी श्री देवकुमार जी जैन ने गुरुदेवश्री के भार्तुदर्शन में इस ग्रन्थ का सम्पादन कर प्रस्तुत किया है। इसके प्रकाशन हेतु गुरुदेवश्री ने प्रसिद्ध साहित्यकार श्रीयुत श्रोत्वन्द जी सुराना को जिम्मेदारी सौंपी और वि० सं० २०३६ के आश्विन मास में इसका प्रकाशन-मुद्रण प्रारम्भ कर दिया

गया । गुरुदेवश्री ने श्री सुराना जी को दायित्व सौंपते हुए फरमाया—  
‘मेरे शरीर का कोई भरोसा नहीं है, इस कार्य को शीघ्र सम्पन्न कर  
लो ।’ उस समय वह एक सामाजिक लोटी जी, किसे ज्ञात था कि  
गुरुदेवश्री हमें इतनी जल्दी छोड़कर जायेंगे । किंतु क्रूर काल  
की विडम्बना देखिये कि ग्रन्थ का प्रकाशन चालू ही हुआ था कि  
१७ जनवरी १९६४ को पूज्य गुरुदेव के आकस्मिक स्वर्गवास से सर्वत्र  
एक सुखस्ता व रिक्तता-सी छा गई । गुरुदेव का ध्यानक प्रभाव समूचे  
संवर पर था और उसकी दिवंगति से समूचा श्रमणसंघ ही अपूरणीय  
ज्ञाति अनुभव करने लगा ।

पूज्य गुरुदेवश्री ने जिस भवाकाय ग्रन्थ पर इतना अम किया और  
जिसके प्रकाशन की भावना लिये ही जले थे, वह ग्रन्थ अब पूज्य  
गुरुदेवश्री के प्रधान शिष्य महाराष्ट्राभूषण श्री सुकन्मुनि जी महाराज  
के मार्गदर्शन में सम्पन्न हो रहा है, यह प्रसाधन का विषय है । श्रीयुत  
सुराना जी एवं श्री देवकुमार जी जैन इस ग्रन्थ के प्रकाशन-मुद्रण सम्बन्धी  
सभी दायित्व निभा रहे हैं और इसे शीघ्र ही पूर्ण कर पाठकों के समझ  
उखाँगे, यह इड विश्वास है ।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में श्रीमान् पुखराज जी जानचंद जी मुण्डोत  
मुण्डणसीगांव, हाल मुकाम ताम्बवरम् ने इस प्रकाशन में पूर्ण अर्थ-  
सहयोग प्रदान किया है, आपके अनुकरणीय सहयोग के प्रति हम सदा  
आभारी रहेंगे ।

आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान अपने कार्यक्रम में इस ग्रन्थ  
की प्राथमिकता देकर सम्पन्न करवाने में प्रयत्नशील है ।

आशा है जिजामु पाठक लाभान्वित होंगे ।

मन्त्री

आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान  
जोधपुर

## आत्मख

जीनदर्शन के सम्पूर्ण चिन्तन, मनन और विवेचन का आधार आत्मा है। आत्मा स्वतन्त्र शक्ति है। अपने सुख-दुःख का निर्भाता भी वही है और उसका फल-भोग करने वाला भी वही है। आत्मा स्वयं में अमूर्त है, परम विशुद्ध है, किन्तु वह शरीर के साथ मूलिकान द्वारा अचुद्दिता में संसार में परिभ्रमण कर रहा है। स्वयं परम ज्ञान-विवरणरूप होने पर भी सुख-दुःख के अक्ष में पिस रहा है। अजरन-अमर होकर भी जन्म-मृत्यु के प्रबाह में बह रहा है। आश्चर्य है कि जो आत्मा परम शक्तिसम्पन्न है, वही दीन-हीन, दुःखी, दरिद्र के रूप में संसार में यातना और कष्ट भी भोग रहा है। इसका कारण क्या है ?

जीनदर्शन इस कारण की विवेचना करते हुए कहता है—आत्मा को संसार में भटकाने वाला कर्म है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है—कर्म ज जाई भरभरत मूल। भगवान् श्री महावीर का यह कथन अझरशः सत्य है, तथ्य है। कर्म के कारण ही यह विश्व विविध विचित्र घटनाचक्रों में प्रतिपल परिवर्तित हो रहा है। ईश्वरवादी दर्शनों ने इस विश्ववैचित्र्य एवं सुख-दुःख का कारण जहाँ ईश्वर को माना है, वहाँ जीनदर्शन ने समस्त सुख-दुःख एवं विश्ववैचित्र्य का कारण मूलतः जीव एवं उसका मुख्य सहायक कर्म माना है। कर्म स्वतन्त्र रूप से कोई शक्ति नहीं है, वह स्वयं में पूर्दगल है, जड़ है। किन्तु राग-द्वेष-वशवर्ती आत्मा के द्वारा कर्म किये जाने पर वे इतने बलवान् और शक्तिसम्पन्न बन जाते हैं कि कर्ता को भी अपने बन्धन में बांध लेते हैं। मालिक को भी नीकर की तरह नचाते हैं। यह कर्म की बड़ी विचित्र शक्ति है। हमारे जीवन और जगत् के समस्त परिवर्तनों का

यह भुख्य बीज कर्म क्या है ? इसका स्वरूप क्या है ? इसके विविध परिणाम कैसे होते हैं ? यह बड़ा ही गम्भीर विषय है । जैनदर्शन में कर्म का बहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया है । कर्म का सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अत्यन्त गहन विवेचन जैन आगमों में और उत्तर-वर्ती ग्रन्थों में प्राप्त होता है । वह प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में होने के कारण विद्वद्भोग्य तो है, पर साधारण जिज्ञासु के लिए दुर्बोध है । योकहों में कर्मसिद्धान्त के विविध स्वरूप का वर्णन प्राचीन आचार्यों ने गूँथा है, कण्ठस्थ करने पर साधारण सत्त्व-जिज्ञासु के लिए वह अच्छा ज्ञानदायक सिद्ध होता है ।

कर्मतिन्द्रिय उपलब्धि से कर्मयज्ञ और पञ्चसंग्रह इन दोनों ग्रन्थों का महत्वपूर्ण स्थान है । इनमें जैनदर्शन-सम्मत समस्त कर्मवाद, गुणस्थान, मार्गणा, जीव, अजीव के भेद-प्रभेद आदि समस्त जैनदर्शन का विवेचन प्रस्तुत कर दिया गया है । यज्ञ जटिल प्राकृत भाषा में है और इनकी संस्कृत में अनेक टीकाएँ भी प्रसिद्ध हैं । गुजराती में भी इनका विवेचन काफी प्रसिद्ध है । हिन्दी भाषा में कर्मयज्ञ के द्वारा भागों का विवेचन कुछ वर्ष पूर्व ही परम अद्वेय गुरुदेवश्री के मार्गदर्शन में प्रकाशित हो चुका है, सर्वांग उनका स्वागत हुआ । पूज्य गुरुदेव श्री के मार्गदर्शन में पञ्चसंग्रह (दस भाग) का विवेचन भी हिन्दी भाषा में लंयार हो गया और प्रकाशन भी प्रारम्भ हो गया, किन्तु उनके समक्ष एक भी नहीं आ सका, यह कमी मेरे मन को खटकती रही, किन्तु निरूपाय । अब गुरुदेवश्री की भावना के अनुसार ग्रन्थ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है, आशा है इससे सभी लाभान्वित होंगे ।

— सुकनभुनि

## प्राक्कथन

आस्तिक माने जाने वाले सभी भानवों, चिन्तकों और धर्मनों ने इहलोक-परलोक और उसके कारण रूप में कर्म एवं कर्मफल का विचार किया है। प्रत्येक व्यक्ति यह देखना और समझना चाहता है कि वह जो कुछ भी करता है, उसका क्या फल है? इसी अनुभव के आधार पर वह यह निश्चित करता है कि किस फल के लिये कीम-सा कार्य करणीय है। यही कारण है कि प्राची-तिहासिक काल से लेकर अद्वितीय समय तक कि सभावी सामाजिक और धार्मिक चिन्तन किसी-न-किसी रूप में कर्म और कर्मफल को अपना विचार-विषय बनाता आ रहा है।

कर्म और कर्मफल के चिन्तन के सम्बन्ध में हम दो हित देखते हैं। कुछ चिन्तक यह मानते हैं कि मृत्यु के अनन्तर जन्मान्तर हैं, हाथमान इहलोक के अन्ताबा अन्य श्रेष्ठ, कनिष्ठ लोक हैं, पुनर्जन्म हैं और इस पुनर्जन्म एवं परलोक के कारण के रूप में कर्मसत्त्व को स्वीकार करते हैं। इसके लिये वे युक्ति एवं प्रमाण देते हैं कि यदि कर्म न हो तो जन्म-जन्मान्तर एवं इहलोक-परलोक का सम्बन्ध घट नहीं सकता है। अतएव जब हम पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं, तब उसके कारण रूप में कर्मसत्त्व को मानना आवश्यक है।

वे मानते हैं कि पञ्चमूलार्थक एशियर से भिन्न किन्तु उसमें विचारण एक अन्य तत्त्व जीव/आत्मा है, जो अनादि-अनन्त है। अनादिकानीन संसारयात्रा के बीच किसी विशेष भौतिक एशियर को वह धारण करता और स्पामता रहता है। जन्म-जन्मान्तर की चक्र-प्रवृत्ति का उच्छेद गवय नहीं है, किन्तु अच्छा लोक और अधिक सुख पाना है तो उसकी प्राप्ति का साधन धर्म करणीय, आचरणीय है। इस मत के अनुसार अधर्म-पाप हैं और धर्म-पूण्य उपादेय है।

इस चिन्तकवर्ग में धर्म, अर्थ और काम, इन तीन की पुस्तकार्थ रूप में स्वीकार किया। जिससे वह वह शिष्यसम्पर्कारी अथवा प्रवर्तकधर्मवादी के

रूप में प्रख्यात हुआ। इस वर्ग में बहुजन-सम्मत न्याय-नीतियुक्त सामाजिक अवस्था एवं शिष्ट आचरण को धर्म तथा निष्ठा आचरण को अधर्म कहा एवं सामाजिक सुधारस्था ही कमंकल के रूप में निश्चित की।

वर्तमान में प्रसिद्ध बाह्यण्डार्म, भीमांशुक और कर्मकाण्डी इसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं।

लेकिन पूर्वोक्त दृष्टिकोण से आंगिक रूप से सहमत होते हुए भी कुछ अन्य विशेष प्रतिभासाली विन्दक ऐसे भी रहे हैं जिनकी भाव्यता है कि श्रेष्ठ लोक (स्वर्ग) प्राप्त कर लेने में ही जीव के पुरुषार्थ की भरम परिणति नहीं है। चरम परिणति तो लब कहलायेगी जब जीव अपने को सर्वतः शुद्ध कर इस जन्म-परण रूप संवार से खदा-सर्वदा के लिये मुक्त होकर सत्-चित्-आनन्दधनरूप स्थिति को प्राप्त कर से। ऐसी स्थिति, मुक्ति व सिद्धि प्राप्त कर लेना ही ओक्ताव्रत का पुरुषार्थ है। इस प्रकार की भाव्यता को इवीकार करने वाले चिन्तन की निवारकवादी यह संज्ञा है।

इस निवारकवादी चिन्तन ने पुरुषार्थ के रूप में मोक्ष को परमोरुप स्थान दिया और एतदर्थे उसने अपनी समरूप कियार्थों को नियोजित किया। किन्तु इसके विन्दक वर्ग में अनेक पक्ष प्रचलित थे। जिनका तीन प्रकारों में व्यक्तिगत किया जा सकता है—(१) परमाणुवादी, (२) प्रधानवादी, (३) प्रधान-छांयांपक्ष परमाणुवादी।

इन तीनों में से परमाणुवादी पक्ष यद्यपि मोक्ष का समर्थक है, किन्तु प्रबर्तक धर्म का उत्तरा विरोधी नहीं, जिनने उत्तर के दो पक्ष हैं। यह पक्ष न्याय-वैशेषिक दर्शन के नाम से प्रसिद्ध हुआ। दूसरा प्रधानवादी पक्ष आत्मनिक कर्म-निवृत्ति का समर्थक है। यह पक्ष साध्य-योग के नाम से प्रख्यात हुआ। यह प्रबर्तक धर्म-थीति-स्मार्त को हेतु बताता है। आगे चलकर इसी के तत्त्वज्ञान की शून्यिका वर्त्तेदानत्त्वर्थान तथा संभासमार्थ की स्थापना हुई। तीसरा पक्ष प्रधान-छांयांपक्ष परमाणुवादी अर्थात् परिणामी परमाणुवादी दूसरे पक्ष की तरह ही प्रबर्तक धर्म का विरोधी है। इस पक्ष का नाम जैन अथवा निर्गंत्र दर्शन है।

बीज दर्शन भी प्रवर्तक कार्म का विरोधी है, किन्तु वह स्वतन्त्र नहीं बल्कि दूसरे और तीसरे पक्ष के मिश्रण का उत्तरदाती विकास है।

उक्त पक्ष या कर्म भेद वालों की स्वभावमुक्तक उपला-मृष्टा एवं कर्तिपूर्ण अर्थों में सत्त्वज्ञान की अपनी-अपनी प्रक्रिया पर अवलम्बित है। किर भी इस लक्ष्य के प्रति सर्वतिमना मत्तैका रहा कि जीव अपनी मौलिक अवस्था को प्राप्त करें संसार से मुक्त हो, पुनः संसारदण्डा को प्राप्त न करें।

उपर्युक्त अंकन से यह तो अद्वगत हो चुका है कि आस्तिकावादी चिन्तकों की प्रवर्तक और निवर्तक धाराओं ने कर्म के बारे में विचार किया है। लेकिन प्रवर्तकधारा एक निश्चित परिधि से अंत नहीं रही, शुद्ध कर्म और उसके कलशोग तक केन्द्रित रही। जिससे वह जीव को उसकी असीम और शुद्ध शक्ति का बोध नहीं करा सकी। लेकिन निवर्तकधारा ने लक्ष्य धारा फैयर तथा जीव का संसार में अमरण करने रहना खिड़क्यना है। इस विडम्बनापूर्ण स्थिति के प्रति समर्पित रहने में जीव के पुनर्जागर्ण का यांत्रिक रूप प्रयत्न नहीं होता है। वह तो तभी लगट होगा जब मुक्त, सिद्ध, बुद्ध होगा, समस्त दुःखों का अन्त करेगा। समस्त दुःखों का अन्त तभी हो सकेगा जब उसके कारण का क्षय होगा और वे कारण हैं कर्म।

जहाँ निवर्तकधारा परम पुरुषार्थ के रूप में भौति और उसके प्रतिबंधक कारण के रूप में कर्म और स्त्रीकार कर चुकी तब इसकी मानने वाले जितने भी चिन्तक थे, उन्होंने मोक्ष के स्वरूप और उसकी आप्ति के साधनों एवं प्रतिबंधक कारण कार्यतत्त्व के विषय में विचार किया। यह विचार करना कर्म और उसके भेदों की परिभाषायें कर देने सक सीमित नहीं रहा, किन्तु कार्यकारण की हृषि से कर्मतत्त्व का विविध लकार से वर्गीकरण किया। कर्म की फलदान शक्तियों का विवेचन किया। विषाक की कालभयदा का चिन्तन किया। कर्मभेदों के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार किया। इस प्रकार निवर्तकधारा में व्यवस्थित एवं बृहत्यमाण में कर्म विषयक साहित्य निर्मित हो गया और उत्तरोत्तर नये-नये प्रश्नों और उनके समाधान के हारा उसकी वृद्धि होती रही।

प्रारम्भ में ही वह प्रवृत्ति व्यवस्थित रूप से चली। जब तक इन उत्तरका-

ध्येय प्रवर्तकधर्म का खण्डन करना रहा, तब तक उनमें पारस्परिक विचार-विनियम भी होता रहा और एकवाक्यता भी बनी रही। लेकिन उसके बाद ऐसा समय आ गया जब निवर्तकवादियों में पहले जैसी निकटता नहीं रही। प्रत्येक दल अपने-अपने हृषिकीण एवं तत्त्वज्ञान की भूमिका के आधार से विचार करने लगा। परिणामतः परिभाषा, भाव, वर्णकरण आदि में शहशः और अर्थशः बहुत कुछ सम्भव होते हुए भी विभिन्नताएँ बढ़ती गईं। जिनका संक्षेप में यहाँ संकेत करते हैं।

कर्म के बंधक कारणों और उनके उच्छ्लेषक उपायों के बारे में तो सभी निवर्तकवादी समाज रूप में गौण-मुहूर्य भाव से सहमत हैं, किन्तु कर्मतत्त्व के स्वरूप के बारे में मतभिन्नता नहीं रहा। परमाणुवादी सोक्षमादर्शी वैज्ञानिक आदि ने कर्म को चेतननिष्ठ मानकर उसे चेतनधर्म तथा प्रधानवादी सारुद्य-योग ने उसे अनुकरण (मन) निष्ठ मानकर जड़धर्म बताया, परस्तु आस्था और परमाणु की परिणामी भानने वाले जैन ने अपनी चिन्तनजीली के अनुसार कर्म को चेतन और जड़ उभय परिणाम से उभय रूप भाना। जिसके भावकर्म और द्रव्यकर्म यह अपर नाम हैं।

इसके साथ ही अन्य निवर्तकवादी अन्यान्य विषयों के चिन्तन की ओर प्रवृत्त हो गये, लेकिन जैन चिन्तकों ने कर्मतत्त्व को अपने चिन्तन में प्रमुख एवं प्रथम स्थान दिया। कर्मसिद्धान्त जैनवर्णन का शाण है। जैन कर्मसिद्धान्त में यह चिन्तन यम्भीरता और विस्तार से किया गया है कि विश्व के मूल तत्त्व क्या हैं और उनमें किस प्रकार के विपरिवर्तनों द्वारा प्रकृति और जीव में कैसी विषयताएँ गृह्ण विकिस्तायें उत्पन्न होती हैं। प्रकृति जड़ है और जीव चेतन, इसीलिये यह स्वीकार किया कि विश्व के मूल तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव अथवा चेतन और जड़। निर्जीव अवस्था में पृथकी, जल, अग्नि और वायु ये सब एक ही जड़ तत्त्व के रूपान्तर हैं। जिसे जैनवर्णन में पुद्यल कहा है। आकाश और काल भी जड़तत्त्व हैं, किन्तु वे पृथकी आदि के समान मूर्त नहीं असूर्य हैं। जीव/आस्था इनसे पृथक् तत्त्व है और उसका लक्षण चेतना है। वह स्वयं की सत्ता का अनुभव करता है और परपदायों का भी ज्ञायक

है। उसकी इस छिद्रिधकृति को दर्शन और ज्ञान रूप उपयोग कहा है। जीव अपने मूल स्वभाव से अमूर्त है, परन्तु देहिकास्था में रामदेवात्मक भनवचनकाय की प्रवृत्तियों द्वारा सूक्ष्मतम् पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण करता है और उनके द्वारा नाना प्रकार के आन्तरिक संस्कारों की उत्पन्न करता है। जिन सूक्ष्मतम् पुद्गल परमाणुओं को जीव ग्रहण करता है, उन्हें जैनदर्शन में कर्म कहा है। आत्मप्रदेशों में उनके आ मिलने की प्रक्रिया का नाम आत्मदृष्टि है और इस मेल के द्वारा जीव में स्वरूपविषयक जो विकृतियाँ आदि उत्पन्न होती हैं, उनका नाम बंध है। कर्म और उसके बंध की इसी प्रक्रिया को समझाना जैन कर्मसिद्धान्त का अभिधेय है।

जैन कर्मसिद्धान्त में क्रमबद्ध रूप से अपने अभिधेय की प्रकृतियाँ की हैं। अथ से लेकर इति तक उठने वाले सम्बन्धित प्रश्नों का समाधान किया है। प्रत्येक प्रश्न का उसर संयुक्ति है, किसी प्रकार की अस्पष्टता नहीं है। बुद्ध एक प्रश्न इस प्रकार है—

कर्म क्या है? कर्म के साथ आत्मा का सम्बन्ध कैसे होता है? इसके लाभ क्या है? किस कारण से कर्म में कैसी शक्ति उत्पन्न होती है? आत्मा के साथ कर्म कर्म-से-कर्म और अधिक-से-अधिक किलने समय तक लगा रहता है? संबद्ध कर्म किलने समय तक फल देने में असमर्थ रहते हैं? कर्म का विषाक्षसमय बढ़ा भी जा सकता है या नहीं? यदि बढ़ा जा सकता है तो उसके लिये आत्मा के कैसे परिणाम आवश्यक हैं? कर्म की शक्ति को तीव्रता और मंदता में रूपान्तरित करने वाले कौन-से आत्मपरिणाम कारण होते हैं? किस कर्म का विपाक किस अवस्था तक नियत और किस अवस्था में अनियत है? इसी प्रकार के अन्यान्य प्रश्नों का संयुक्ति का विस्तृत और विविह विवेचन जैन कर्मसिद्धान्त एवं साहित्य में किया गया है।

जैन साहित्य में कर्मसिद्धान्त का जिस क्रम से सिर्फ़ किया गया है, उससे पहुँचाना पड़ता है कि जैनदर्शन की विशिष्ट कर्मविद्या भवावान् पाश्चर्यनाथ से भी पूर्व हितर हो चुकी थी और वह अप्रायणीयपूर्व तथा कर्मप्रवदमूर्द्ध के नाम से विश्वृत हुई। बुद्धिय से पूर्व ग्रन्थ कालक्रम से विनष्ट हो गये, किन्तु

उन्हीं के अधिकार से पश्चाद्वर्ती समय में विभिन्न आदाएँ ने कर्मसिद्धान्त विवेचक ग्रन्थों की रचना की, जिनको दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) आकर कर्मशास्त्र, (२) प्राकरणिक कर्मशास्त्र।

आकर कर्मशास्त्रों की रचना पूर्वार्थक कर्मशास्त्र का बाधार सेकर की गई है। भगवान् महाबीर के बाद करीब ४०० या ५००० वर्ष तक क्रमिक ह्लास के रूप में पूर्वविद्या का अस्तित्व रहा और तत्त्वज्ञान ऐसा समय तक भया जब पूर्वार्थक कर्मशास्त्र का मूल अंश विद्यमान न रहने पर आकर ग्रन्थों की रचना होना प्रारम्भ हो गया। वह आकर विभाग पूर्वार्थक कर्मशास्त्र से यद्यपि छोटा है, फिर भी वर्तमान अभ्यासियों के लिये समझने और पढ़ने के लिये पर्याप्त है। इसमें कहीं-कहीं शृंखला खंडित हो जाते पर भी कुछ-न-कुछ पूर्व से उद्धृत अंश सुरक्षित हैं।

प्राकरणिक कर्मशास्त्र में कर्मविषयक शोटे-चड़े अनेक प्रकरण ग्रन्थ सम्प्रिलित हैं। जिनका आकर ग्रन्थों में प्रबोध करने की हिंदित से महत्व है। इस साम्राज्य से पाठकों को कर्मशास्त्र के अध्यास में सरलता अवश्य हो मर्ह पर सम्प्रशास्त्र का सूर्योपर सम्पर्कसूत्र खण्डित हो गया और ऊपरी तीर पर कर्मसिद्धान्त के स्थूल अंशों का जान करना पर्याप्त समझ लिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि कर्मसिद्धान्त के अध्ययन-अध्यापन में व्यवधान आया और कुछ ह सम्प्रकरण उपेक्षणीय हिंदित से देखा जाने लगा। अबकि कर्मशास्त्र का कर्मवश्व अध्ययन किया जाये तो उससे सुगम अन्य कोई शास्त्र नहीं है।

साहित्य में अध्ययन-अध्यापन की प्रवृत्ति की बैग मिलने से शिक्षित वर्ग में साहित्य के सभी अंगों और विद्याओं को जानने की उत्सुकता बढ़ी है। साहित्यिक अनुसंधान कार्य में सैकड़ों शिक्षाशास्त्री संलग्न हैं। इसी सन्दर्भ में जैन कर्म-साहित्य पर भी विद्वानों की हिंदित मर्ह है। जिससे कर्मसिद्धान्त के विवेचक ग्रीष्म ग्रन्थ प्रकाश में आये और उनका अध्ययन करने वालों का भी एक अच्छा विद्व-मंडल बनता जा रहा है। इसके अतिरिक्त इर्द्दनास्तरगत कर्मविवेचन के साथ जैन कर्मसिद्धान्त की तुलना के लिये अनुशीलन कार्य भी हो रहे हैं।

इस प्रकार से भूमिकाके रूप में कर्मविषयक कुछ विश्वाओं पर प्रकाश डालने के पश्चात् अब यन्थ का संक्षेप में परिचय प्रस्तुत करते हैं ।

## ग्रन्थपरिचय

यह 'पञ्चसंघ्रह' ग्रन्थ कर्मसिद्धान्त विवेचक एक विशिष्ट रचना है । इसके रचयिता आचार्य चन्द्रिणि महस्तर हैं । आपथी ने विलोप्त पूर्वसाहित्य का आधार लेकर इसको लिखा है । भाषा प्राकृत है तथा गाथा संख्या १००५ है तथा वर्णविषय को स्पष्ट करने के लिये स्वोपज्ञवृत्ति भी स्वयं ग्रन्थकार आचार्य हारा लिखी गई है । जिसका प्रमाण लगभग नौ से दस हजार श्लोक है तथा बाचार्य भलयगिरि ने कठीन अठारह हजार श्लोकप्रमाण की संस्कृत दीक्षा रखी है ।

उक्त दो वृत्तियों और मूल ग्रन्थ के प्रमाण से ग्रन्थ की गम्भीरता एवं विशालता सहज ही जात हो जाती है । आचार्यप्रवर ने इस ग्रन्थ की रचना स्व प्रशंसा, प्रख्याति के लिये नहीं, किन्तु एक विषय की पूर्ति के लिये की है । उन्हींने अनुभव किया कि उत्तरोत्तर पूर्वज्ञान के अध्येताओं के कालकदलित होते जाने से पूर्वज्ञानवर्णविषयों का खंड-खंड में विभक्त आंशिक भाग शेष रह गया है और कह भी अब ऐसप्राप्त होने जा रहा है । यदि इन अवधिष्ठ खंडों को लिपिबद्ध कर दिया जाये तो युक्ति पाठकों को साम्प्रद होगा । यही कारण है कि आचार्यप्रवर ने ग्रन्थ में कहीं भी अपने परिचय के लिये दो शब्द नहीं लिखे हैं । मात्र स्वोपज्ञवृत्ति की अन्तिम प्रणस्ति में इतना संकेत किया है — 'पार्श्वविषय के ग्राह्य ग्रन्थार्थि नामक साधु हारा ।' ग्रन्थ की विशालता को देखकर जहाँ उनके अमाझ पाठिय के प्रति प्रभोदभाव की सहस्रमुखी वृद्धि होती है, वहीं उनकी निरभिभानता एवं विनाशक श्रद्धावनत हीने के लिये प्रेरित करती है ।

आचार्यकी ने (१) सत्तक, (२) सप्ततिका, (३) कषायप्रामुख, (४) सत्कर्मप्रामुख और (५) कर्मप्रकृति इन पांच घण्यों के विषयों का संघ्रह करते के साथ-साथ (१) शोभीयकोणमार्गण, (२) वेदक, (३) वेदव्य, (४) वेद-

हेतु, (५) वंचविधि, इन पांच द्वारों का वर्णन किये जाने से ब्रंश का 'वंचसंग्रह' यह सार्थक नामकरण किया है। ग्रंथ में जिन पांच शब्दों अथवा प्रकरणों का संग्रह है, उनमें से एकाध को लोडकर प्रायः सभी शब्दों, प्रकरणों के रचयिताओं के मास्त्रादि अभी तक अज्ञात हैं।

दिगम्बर जैन साहित्य-परम्परा में भी वंचसंग्रह नाम बाले निष्ठलिखित ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—

(१) प्राकृत वंचसंग्रह, (२) संस्कृत वंचसंग्रह (प्रथम), (३) संस्कृत वंचसंग्रह (द्वितीय), (४) प्राकृत वंचसंग्रह टीका, (५) प्राकृत वंचसंग्रह मूल और प्राकृत दृति। इनमें से प्रथम शब्द के कर्ता का नाम अभी तक अज्ञात है। शेष के कर्मणः कर्ता आचार्य अमितधर्ति, श्रीपाल सुल श्री डड्डा, श्री सुमिति-कीर्ति और श्री पदमनन्दि हैं।

इन सभी में कर्मसिद्धान्त के आधारभूत वंश, वंशक आदि विषयों का वर्णन किया गया है। जिससे स्पष्ट है कि दोनों जैन परम्पराओं के जावाहों ने अपने समय में उपलब्ध कथाध्याभूत आदि शब्दों का आधार लेकर अपने शब्दों की रचना की और प्राचीन शब्दों का सार संकलित होने से वंचसंग्रह यह नामकरण किया और स्फटीकरण के लिये टीका-टिप्पण और चूणियों को लिखा।

ग्रंथ के सम्बन्ध में उक्त संक्षिप्त संकेत पर्याप्त है। उपलब्ध समस्त वंचसंग्रह नामक शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन अनुसन्धान का विषय होने से यहाँ कुछ भी प्रकाश नहीं ढाल रहे हैं और यदि ऐतृविषयक कुछ उल्लेख कर भी दिया जाता तब भी श्रव्य का गीरव वही रहता जैसा अभी है। अतएव अब श्रीगोप्यीप्रमाणिणा अधिकार के अधिकृत वर्णन का सारांश प्रस्तुत करते हैं।

### विषयप्रवेश

कालिकार ने लूट में अन्धकार अस्त्राद्यशी ने 'मंगलभय महापुरुषों' के पुण्य-समरणपूर्वक इन्द्र के साम और जामकरण के कारण को स्पष्ट करके प्रकरण के प्रतिपाद्य योग और उपयोग के स्वरूप और उनके भेदों का विवेश किया है।

तत्त्वज्ञान इनकी जीवस्थान, मार्गिणास्थान और गुणस्थान के क्रम से मार्गिण-भवेषणा की है। इसी सम्बन्ध में जीवस्थानों आदि के भेदों की विस्तृत व्याख्या की है।

इस दृष्टि से इस प्रकरण के मुख्य तीन विभाग हैं—(१) जीवस्थान, (२) मार्गिणास्थान और (३) गुणस्थान, जिनमें संसारी जीवों की आत्मरिक और ब्रह्म सभी स्थितियों का विवरण स्पष्ट हो जाता है। जीवस्थान मात्रीरिक विकास और इन्द्रियों की न्यूनाधिकता के बोधक है। मार्गिणास्थान में जीव की शब्दात्मिक-वैभाविक दण्डाओं का वर्णन है तथा गुणस्थान आत्मा के अल्पोत्तर विकास की दर्शक भूमिकाएँ हैं। जीवस्थान कर्मजन्य होने से हेय ही है और मार्गिणास्थानों में जो अस्वाभाविक हैं, वे भी हेय हैं, किन्तु गुणस्थान विकास की ऐंगियां होने से जो य एवं उपादेय हैं। इनके द्वारा यह जात होता है कि इस स्थिति में वर्तमान जीव ने विकास की किस भूमिका पर अरोहण कर लिया है और विकासोन्मुखी आत्मा आगे किस अवस्था के प्राप्त करने में समर्थ होगी।

जीवस्थानों आदि में अधुक थोग और उपयोग क्यों होते हैं? इस प्रश्न का समुचित समाधान किया है। इसके सिवाय यथाप्रसंग विषय से सम्बन्धित मतान्तरों का भी उल्लेख किया गया है। जिनमें से कतिपय संदृग्दिति और कार्यप्रन्थिक हैं और कुछ का अन्य आचार्यों से सम्बन्ध है। इसके साथ ही मार्गिणास्थान के बासठ भेदों में चौदह जीवस्थानों तथा गुणस्थानों की सम्भवता का अन्वेषण कर अधिकार को समाप्त किया गया है।

गाथामुसार उक्त वर्णन का क्रम इस प्रकार है—गाथा ६ से ८ तक चौदह जीवस्थानों में थोगों और उपयोगों का, गाथा ६ से १५ तक बासठ मार्गिणा भेदों में थोगों और उपयोगों का, तत्पञ्चाल् गाथा १६ से २० तक गुणस्थानों में थोगों और उपयोगों का विचार करके गाथा २१ से ३४ तक बासठ मार्गिणास्थानों में सम्भव जीवस्थानों तथा गुणस्थानों का निरूपण किया गया है। अन्त में अधिकार समाप्ति का और द्वितीय बंधक अधिकार का विवेचन प्रारम्भ करने का संकेत किया है।

आशा है उक्त संक्षिप्त भूमिका के आधार पर पाठक द्वय का प्रकारणा-  
नुसार यथाक्रम से अध्ययन-स्थानाधार्य करेंगे। जिससे उन्हें जैन लम्बसिद्धान्त की  
विशेषताओं का ज्ञान होगा तथा उनकी स्थानाधार्य प्रत्युति में सहयोगी बनने से  
मुक्ति सामन्तिक आल्लाद एवं आत्मिक सम्बोध प्राप्त होगा। इसी विश्वास के  
साथ अब विश्वाम लेता हूँ।

खजांची मोहल्ला  
श्रीकान्तेर ३३४००१

— ऐष्टुमार जैन  
सम्पादक



प्रियोगिता विश्वाम एवं लम्बसिद्धान्त की विश्वास

## श्रमणसंघ के भीष्म-पितामह

श्रमणसूर्य स्व. गुरुदेव श्री मिश्रीमल जी महाराज

स्थानकवासी जैन परम्परा के ५०० वर्षों के इतिहास में कुछ ही ऐसे गिने-चुने महापुरुष हुए हैं जिनका विराट व्यक्तित्व अमन्त्र असीम नभोमण्डल की भाँति व्यापक और सीमातील रहा हो। जिनके उपकारी से न सिर्फ स्थानकवासी जैन, न सिर्फ श्वेताम्बर जैन, न सिर्फ जैन किन्तु जैन-जजैन, बालक-बृद्ध, नारी-पुरुष, श्रमण-श्रमणी सभी उपकृत हुए हैं और सब उस महान् विराट व्यक्तित्व की शीतल छाया से लाभान्वित भी हुए हैं। ऐसे ही एक आकाशीय व्यक्तित्व का नाम है—श्रमण-सूर्य प्रवर्तक मरुधरके सरी श्री मिश्रीमल जी महाराज !

पता नहीं ये पूर्वजन्म की कथा अखूट पुण्यार्द्ध लेकर आये थे कि काल-सूर्य की भाँति निरन्तर तेज-प्रताप-प्रभाव-यश और सफलता की तेज-स्थिता, प्रभास्वरूप से बढ़ते ही गये, किन्तु उनके जीवन की कुछ विलक्षणता यही है कि सूर्य मध्याह्न बाद क्षीण होने लगता है, किन्तु यह श्रमणसूर्य जीवन के मध्याह्नोत्तर काल में अधिक अधिक दीप्त होता रहा, ज्यों-ज्यों यीवन की नदी चुड़ापे के सागर की ओर बढ़ती गई त्यों-त्यों उसका प्रवाह तेज होता रहा, उसकी धारा विशाल और विशालतम होती गई, सीमाएं व्यापक बनती गई, प्रभाव-प्रवाह सी-सी धारा एं बनकर गांव-नगर-बन-उपवन सभी को लृप्त-परिवृप्त करता गया। यह सूर्य द्वबने की अंतिम घड़ी, अंतिम क्षण तक तेज से दीप्त रहा, प्रभाव से प्रचण्ड रहा और उसकी किरणों का विस्तार अमन्त्र असीम यग्न के दिक्कोणों को छूता रहा।

जैसे लड्डू का प्रत्येक दाना मीठा होता है, अंगूर का प्रत्येक अंश मधुर होता है, इसी प्रकार गुरुदेव श्री मिश्रीमल जी महाराज का

जीवन, उनके जीवन का प्रत्येक क्षण, उनकी जीवनशारा का प्रत्येक जलविन्दु मधुर मधुरतम जीवनदायी रहा । उनके जीवन-सागर की गहराई में उत्तरकर गोता लगाने से शुणों की विविध बहुमूल्य भणियां हाथ लगती हैं तो अनुभव होता है, मानव जीवन का ऐसा कौन सा शुण है जो इस महापुरुष में नहीं था । उदारता, सहिष्णुता, दयालुता, प्रभावशीलता, समता, क्षमता, गुणज्ञता, विद्वत्ता, कथित्वशक्ति, प्रबन्धनशक्ति, अदम्य साहस, अद्भुत नेतृत्वक्षमता, संघ-समाज की संरक्षणशीलता, युगचेतना की धर्म का नया बोध देने की कुशलता, न आते किसने उदात्त शुण व्यक्तित्व सागर में छिपे थे । उनकी गणना करना असंभव नहीं तो दुःसंभव अवश्य ही है । महान तार्किक आचार्य सिद्धसेन के शब्दों में—

कल्यान्तवान्तपथसः प्रकटोऽपि शस्त्रान्  
मीथेत केव जलधेनर्मु रत्नाशोः

कल्यान्तकाल की पवन से उत्प्रेरित, उच्चाले खाकर बाहर भूमि पर गिरी समुद्र की असीम अवर्णित भणियां सामने दीखतीं झँझर हैं, किन्तु कोई उनकी गणना नहीं कार सकता, इसी प्रकार महापुरुषों के शुण भी दीखते हुए भी गिनती से बाहर होते हैं ।

### जीवन रेखाएँ

श्रद्धेय गुरुदेव का जन्म वि. सं० १६४८ श्रावण शुक्ला चतुर्दशी को फाली शहर में हुआ ।

पांच वर्ष की आयु में ही माता का वियोग हो गया । १३ वर्ष की अवस्था में भयंकर बीमारी का आक्रमण हुआ । उस समय श्रद्धेय गुरुदेव श्री मानमलजी म. एवं स्व. गुरुदेव श्री बुधमलजी म. ने मंगलपाठ सुनाया और घमत्कारिक प्रभाव हुआ, आप शीघ्र ही स्वस्थ हो गये । काल का ग्रास बनते-बनते बच गये ।

गुरुदेव के इस अद्भुत प्रभाव को देखकर उनके प्रति हृदय की असीम शक्ति उमड़ आई । उनका शिष्य बनने की तीव्र उत्कौंठा जग

पड़ी । इस बीच गुरुदेवश्री मानमलजी म. का वि. सं. १९७५, माघ बढ़ी ७ को जोधपुर में स्वर्गवास हो गया । वि. सं. १९७५ अक्षय तृतीया को पूज्य स्वामी श्री बुधमलजी महाराज के कर-कमलों से आपने दीक्षा-रत्न प्राप्त किया ।

आपकी छुट्ठि बड़ी विचक्षण थी । प्रतिभा और स्मरणशक्ति अद्भुत थी । छोटी उम्र में ही आगम, थोकड़े, संस्कृत, प्राकृत, गणित, ज्योतिष, काव्य, छन्द, अलंकार, व्याकरण आदि विविध विषयों का आधिकारिक ज्ञान प्राप्त कर लिया । प्रबन्धशैली की ओजस्विला और प्रभावकरता देखकर लोग आपश्री के प्रति आकृष्ट होते और यों सहज ही आपका वर्चस्व, लेजस्व बढ़ता गया ।

वि. सं. १९८५ पौष वदि प्रतिपदा को गुरुदेव श्री बुधमलजी म. का स्वर्गवास हो गया । अब तो पूज्य रघुनाथजी महाराज की संप्रदाय का समस्त दायित्व आपश्री के कंधों पर आ गिरा । किन्तु आपश्री तो सर्वथा सुयोग्य थे । गुरु से प्राप्त संप्रदाय-परम्परा को सदा विकासोन्मुख और प्रभावनापूर्ण ही बनाते रहे । इस हाँट से स्थानांगसूत्र-वर्णित चार शिष्यों ( पुत्रों ) में आपको अभिजात ( शेष्ठतम् ) शिष्य ही कहा जायेगा, जो प्राप्त छुट्ठि-वैभव को दिन दूना रात चौयुना बढ़ाता रहता है ।

वि. सं. १९९३, लोकाशाह जयन्ती के अवसर पर आपश्री को मरु-धरकेसरी पद से विभूषित किया गया । वास्तव में ही आपकी निर्भीकता और ज्ञान्तिकारी सिंह गर्जनाएँ इस पद की शोभा के अनुरूप ही थीं ।

स्थानकवासी जैन समाज की एकता और संगठन के लिए आपश्री के अग्रीरथ प्रयास श्रमणसंघ के इतिहास में सदा अमर रहेंगे । समय-समय पर दूटती कड़ियां जोड़ना, संघ पर आये संकटों का दूरदृश्यता के साथ निवारण करना, संत-सतियों की आन्तरिक व्यवस्था की सुधारना, भीतर में उठती भत्तेश की कटुता को दूर करना—यह आपश्री की ही क्षमता का नमूना है कि बहुत श्रमणसंघ का निर्माण हुआ, बिखरे घटक एक हो गये ।

किन्तु यह बात स्पष्ट है कि आपने संगठन और राजस्व के साथ कभी सौदेबाजी नहीं की। सब्ये सब कुछ होते हुए भी सदा ही पद-मोह से दूर रहे। श्रमणसंघ का पदवी-रहित नेतृत्व आपश्री ने किया और जब सभी का पद-ग्रहण के लिए आपहु हुआ तो आपश्री ने उस नेतृत्व चादर की अपने हाथों से आचार्यसभाठ (उस सभय उपाचार्य) श्री बानन्दशृणिजी महाराज को ओढ़ा दी। यह है आपश्री की त्याग व निष्पुहता की वृत्ति।

कठोर सत्य सदा कटु होता है। आपश्री प्रारम्भ से ही निर्भीक वक्ता, स्पष्ट चिन्तक और स्पष्टवादी रहे हैं। सत्य और नियम के साथ आपने कभी समझीता नहीं किया, भले ही वर्षों से साथ रहे अपने कहलाने काले साथी भी साथ छोड़ कर चले गये, पर आपने सदा ही संगठन और सत्य का पक्ष लिया। एकता के लिए आपश्री के अगणित वलिदान श्रमणसंघ के गौरव को युग-युग तक बढ़ासे रहेंगे।

संगठन के बाद आपश्री की अभिरुचि काव्य, साहित्य, शिक्षा और सेधा के क्षेत्र में बढ़ती रही है। आपश्री की वहुमुखी प्रतिभा से प्रसूत सैकड़ों काव्य, हजारों पद-चन्द्र आज सरस्वती के शृंगार बने हुए हैं। जैन राम यशोरसायन, जैन पांडव यशोरसायन जैसे महाकाव्यों की रचना, हजारों कविता, स्तवन की सर्जना आपकी काव्यप्रतिभा के बेजोड़ उदाहरण हैं। आपश्री की आशुकवि-रत्न की पदवी स्वर्य में सार्थक है।

कर्मग्रन्थ (छह भाग) जैसे विशाल गुरु गम्भीर ग्रन्थ पर आपश्री के जिदेशन में व्याख्या, विवेचन और प्रकाशन हुआ जो स्वर्य में ही एक अनूठा कार्य है। आज जैनदर्शन और कर्मसिद्धान्त के सैकड़ों अध्येता उनसे जाभ उठा रहे हैं। आपश्री ने सान्निध्य में ही पञ्चसंग्रह (दस भाग) जैसे विशालकाय कर्मसिद्धान्त के अतीव गहन ग्रन्थ का सम्पादन विवेचन और प्रकाशन प्रारम्भ हुआ है, जो वर्तमान में आपश्री की अनुपस्थिति में आपश्री के सुयोग्य शिष्य श्री सुकन्तमुनि जी के जिदेशन में सम्पन्न हो रहा है।

प्रवचन, जैन उपन्यास आदि की आपश्री की पुस्तकों भी अत्यधिक लोकप्रिय हुई हैं। लगभग ६-७ हजार पृष्ठ से अधिक परिमाण में आपश्री का साहित्य आंका जाता है।

शिक्षा क्षेत्र में आपश्री की दूरदृष्टिता जैन समाज के लिए वरदान-स्वरूप सिद्ध हुई है। जिस प्रकार भगवान् मालवीय जी ने भारतीय शिक्षा क्षेत्र में एक नई क्रांति—नया दिशादर्शन देकर कुछ अमर स्थापनाएँ की हैं, स्थानकवासी जैन समाज के शिक्षा क्षेत्र में आपको भी स्थानकवासी जगत का 'मालवीय' कह सकते हैं। लोकाशाह गुरुकुल (सावडी), राणावास की शिक्षा संस्थाएँ, जयतारण आदि के छात्रावास तथा अनेक स्थानों पर स्थापित पुस्तकालय, बाचनालय, प्रकाशन संस्थाएँ शिक्षा और साहित्य-सेवा के क्षेत्र में आपश्री की अमर क्रांति गाथा गा रही हैं।

लोक-सेवा के क्षेत्र में भी महाराजे सरो जी महाराज भामाशाह और सेमा देदराणी वाँ चुभ परम्पराओं को जीवित रखे हुए थे। फक्त यही है कि वे स्वयं धनपति थे, अपने धन को दान देकर उन्होंने राष्ट्र-एवं समाज-सेवा की, आप एक अकिञ्चन श्रमण थे, अतः आपश्री ने धनपतियों को प्रेरणा, कर्तव्य-बोध और मार्गदर्शन देकर महारा के गांव-गांव, नगर-नगर में सेवाभावी संस्थाओं का, सेवात्मक प्रवृत्तियों का व्यापक जाल बिछा दिया।

आपश्री की उदारता की गाथा भी सैकड़ों व्यक्तियों के मुख से सुनी जा सकती है। किन्हीं भी संत, सतियों को किसी वस्तु की, उपकरण आदि की आवश्यकता होती तो आपश्री निस्संकोच, बिना किसी भेदभाव के उनकी सहयोग प्रदान करते और अनुकूल साक्षन-सामग्री की व्यवस्था करते। साथ ही जहाँ भी पष्ठारते वहाँ कोई स्वरण, असहाय, अपाहिज, जरूरतमन्द गृहस्थ भी (भले ही वह किसी वर्ण, समाज का हो) आपश्री के चरणों में पहुंच जाता तो आपश्री उनकी दयनीयता से द्रवित हो जाते और तत्काल समाज के समर्थ व्यक्तियों द्वारा उनकी उपयुक्त व्यवस्था करा देते। इसी कारण गांव-गांव में

किसान, कुम्हार, आहुण, सुभार, भाली आदि सभी कीम के व्यक्ति आपश्री को राजा कर्ण का अवतार मानने लगे और आपश्री के प्रति श्रद्धावनत रहते । यही है सच्चे संत की पहचान, जो किसी भी भेदभाव के बिना मानव मात्र की सेवा में रुचि रखे, जीव मात्र के प्रति करुणाशील रहे ।

इस इकार स्थान, देवा, संगठन, साहित्य आदि विविध क्षेत्रों में सतत प्रवाहशील उस अजर-अमर यजोधारा में अवगाहन करने से हमें मरुधरके सरी जी म० के व्यापक व्यक्तित्व की स्पष्ट अनुभूतियाँ होती हैं कि कितना विराट्, उदार, व्यापक और महान् था वह व्यक्तित्व !

अमण्ससंघ और मरुधर के उस महान् संत की छत्र-छाया की हमें आज बहुत अधिक आकर्षकता भी किन्तु भास्य की दिङ्मवना ही है कि विगत वर्ष १७ जनवरी, १९८४, वि० सं० २०४०, पौष सुदि १४, मंगलवार को वह दिव्यज्योति अपना प्रकाश विकीर्ण करती हुई इस धराघाम से ऊपर उठकर अनन्त असीम में लीन हो गयी थी ।

पूज्य मरुधरके सरी जी के स्वर्गवास का उस दिन का हृष्य, शब्द-यात्रा में उपस्थित अगथित जनसमूद्र का चित्र आज भी लोगों की स्मृति में है और शायद शताव्दियों तक इतिहास का कीर्तिमान बनकर रहेगा । जैतारण के इतिहास में क्या, सम्भवतः राजस्थान के इतिहास में ही किसी सन्त का महाप्रयाण और उस पर इतना अपार जन-समूह (सभी कौमों और सभी वर्णों के) उपस्थित होना यह पहली घटना थी । कहते हैं, लगभग ७५ हजार की अपार जनमेदिनी से संकुल शब्द-यात्रा का वह जलूस लगभग ३ किलोमीटर लम्बा था, जिसमें लगभग २० हजार तो आस-पास व शांवों के किसान बंधु ही थे, जो अपने दूरकरणे, बैलगाड़ियों आदि पर चढ़कर आये थे । इस प्रकार उस महायुरुष का जीवन जितना व्यापक और विराट् रहा, उससे भी अधिक व्यापक और अद्वा परिपूर्ण रहा उसका महाप्रयाण ।

उस दिव्य पुरुष के श्रीचरणों में शत-शत बन्दन !

—श्रीचन्द्र सुराना 'सरस,

# मिष्ठान की विचारकीय

श्रीमद्भद्रेवेन्द्रसूरि विरचित कर्मग्रन्थों का सम्पादन करने के सन्दर्भ में जैन कर्मसाहित्य के विभिन्न ग्रन्थों के अकलोकन करने का प्रसंग आया। इन ग्रन्थों में श्रीमदाचार्य चन्द्रधिष महत्तरकृत 'पञ्चसंग्रह' प्रमुख हैं।

कर्मग्रन्थों के सम्पादन के समय यह विचार आया कि पञ्चसंग्रह को भी सर्वजन सुलभ, पठनीय बनाया जाये। अन्य कार्यों में लगे रहने से तत्काल तो कार्य प्रारम्भ नहीं किया जा सका। परन्तु विचार तो था ही और पाली (मारवाड़) में विराजित मूर्ज्य गुरुदेव महावरके सरी, श्रमणसूर्य श्री मिश्रीमल जी म. सा. की सेवा में उपस्थित हुआ एवं निवेदन किया—

भन्ते ! कर्मग्रन्थों का प्रकाशन तो हो दुका है, अब इसी क्रम में पञ्चसंग्रह को भी एकाशित कराया जाये।

गुरुदेव ने करमाया विचार प्रश्नस्त है और चाहता भी हूँ कि ऐसे ग्रन्थ प्रकाशित हों, मानसिक उत्साह होते हुए भी धारीरिक स्थिति साथ नहीं दे पाती है। तब मैंने कहा—आप आदेश दीजिये। कार्य करना ही है तो आपके आशीर्वाद से सम्पन्न होगा ही, आपश्री की प्रेरणा एवं मार्गदर्शन से कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होगा।

'तथास्तु' के मांगलिक के साथ ग्रन्थ की मुरुता और गम्भीरता को सुगम बनाने हेतु अपेक्षित मानसिक श्रम को नियोजित करके कार्य प्रारम्भ कर दिया। 'शनैःकथा' की गति से करते-करते आषे से अधिक ग्रन्थ गुरुदेव के बगड़ी सज्जनपुर चानुमसि तक तैयार करके सेवा में उपस्थित हुआ। गुरुदेवश्री ने प्रमोदभाव व्यक्त कर फरमाया—  
चरैवैति-चरैवैति।

इसी बीच शिवशर्मसूरि विरचित 'कर्मपथडी' (कर्मप्रकृति) ग्रन्थ के सम्पादन का अवसर मिला। इसका लाभ यह हुआ कि बहुत से जटिल माने जाने वाले स्थलों का समाधान सुन्यमता से होता गया :

अर्थबोध की सुगमता के लिए ग्रन्थ के सम्पादन में पहले मूलगायथा और यथाक्रम शब्दार्थ, गाथार्थ के पश्चात् विशेषार्थ के रूप में भाषा के हार्द को स्पष्ट किया है। यथास्थान ग्रन्थान्तरों, मतान्तरों के मत्तव्यों का टिप्पण के रूप में उल्लेख किया है।

इस समस्त कार्य की सम्पन्नता पूज्य गुरुदेव के वरद जाशीनिदि का सुफल है। एतदर्थं कृतज्ञ हूँ। साथ ही मरुषरारत्न श्री रजतमुनि जी एवं मरुधरभूषण श्री सुकन्तमुनिजी का हार्दिक आभार मानता हूँ कि कार्य की पूर्णता के लिए प्रतिसमय प्रोत्साहन एवं प्रेरणा का पार्थेय ग्रदान किया।

ग्रन्थ की मूल प्रति की प्राप्ति के लिए श्री लालभाई दलपतभाई संस्कृत विद्यामन्दिर अहमदाबाद के निदेशक एवं साहित्यानुरागी श्री दलसुखभाई मालवणिया का सन्मेह आभारी हूँ। साथ ही वे सभी धन्यवादार्ह हैं, जिन्होंने किसी रूप में अपना-अपना सहयोग दिया है।

ग्रन्थ के विवेचन में पूरी सावधानी रखी है और ध्यान रखा है कि सैद्धान्तिक भूल, अस्पष्टता आदि न रहे एवं अन्यथा प्ररूपण भी न हो जाये। फिर भी यदि कहीं चूक रह गई हो तो विद्वान् पाठकों से निवेदन है कि प्रमादजन्म स्वल्पना मानकर छुटि का संशोधन, परिमाणेन करते हुए सूचित करें। उनका प्रयास मुझे जानवृद्धि में सहायक होगा। इसी अनुग्रह के लिए सानुरोध आग्रह है।

आवशा तो यही थी कि पूज्य गुरुदेव अपनी कृति का अवलोकन करते, लेकिन सम्भव नहीं हो सका। अतः 'कालाय तस्मै नमः' के साथ-साथ विनाश शब्दाज्जिति के रूप में—

त्वक्षीर्थं वस्तु गोकिन्द्र ! मुम्पद्येव समर्पयेत् ।

के अनुसार उन्हीं को सावर समर्पित है।

खजांची मोहल्ला  
श्रीकान्तेर, ३३४००१

विनीत  
देवकुमार जैन

## विषयालुक्रमणिका

<b>गाथा १</b>	<b>३-८</b>
सर्व विष्वोपशांति के लिए मंगलाचरण	३
मंगल पदों की व्याख्या	४
पद सार्थक्य	५
ग्रन्थ रचना का प्रयोजन	६
<b>गाथा २</b>	<b>८-१०</b>
ग्रन्थ के नामकरण की हृष्टि	८
<b>गाथा ३</b>	<b>१०-१५</b>
पांच द्वारों के नाम	१०
पांच अथधिकारों के लक्षण	११
<b>गाथा ४</b>	<b>१६-३०</b>
योग के भेद	१६
मनोयोग के भेदों के लक्षण	१७
वचनयोग के भेदों के लक्षण	२०
काययोग के भेदों के लक्षण	२१
योगों का क्रमविन्यास	२६
<b>गाथा ५</b>	<b>३०-४६</b>
उपयोग विचारणा	३०
ज्ञातोपयोग के भेद	३३
इष्टनोपयोग के भेदों के लक्षण	३६
उपयोगों का क्रमविन्यास	४१
जीवस्थान, मार्गस्थान, गुणस्थान के लक्षण	४२

गाथा ६

४६—६४

जीवस्थानों में योग-प्ररूपणा	४६
जीवस्थान के भेदों का आधार	४७
एकेन्द्रियों के सूक्ष्म, बादर भेद का कारण	५०
पञ्चेन्द्रियों में संक्षी, असंक्षी भेद मानने का कारण	५१
पर्याप्त और अपर्याप्त की व्याख्या	५३
जीवस्थानों में थोग	५२

गाथा ७

६५—७२

लौ जीवस्थानों में योग का वर्णन	६५
मतान्तर से जीवस्थानों में योग	६८

गाथा ८

७२—८२

जीवस्थानों में उपयोग	७२
----------------------	----

गाथा ९, १०, ११, १२

८२—११०

मार्गणा के भेद	८४
मार्गणाओं में योग	८१
प्रत्येक मार्गणाओं में सम्बन्ध योग	८६

गाथा १३, १४

११०—११४

मार्गणास्थानों में उपयोग	११०
--------------------------	-----

गाथा १५

११४—१२८

शेष मार्गणाओं में उपयोग वर्णन	११४
मार्गणाओं में योग-उपयोगों की तालिका	१२२

गाथा १६, १७, १८

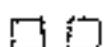
१२६—१५७

युगस्थानों में योग विचारणा	१२६
युगस्थानों के भेद	१३०
युगस्थानों का स्वरूप	१३६

गुणस्थानों का कालप्रमाण	१५१
गुणस्थानों में योग	१५२
गाथा १६, २०	१५३—१५३
गुणस्थानों में उपयोग	१५७
गाथा २१	१६२—१६४
मार्गणास्थानों के नाम व भेद	१६२
गाथा २२	१६४—१६६
मार्गणास्थानों में जीवस्थान	१६४
गाथा २३	१६७—१७०
काय और योग मार्गणा के भेदों में जीवस्थान	१६७
गाथा २४	१७०—१७१
पाच मार्गणाओं के भेदों में जीवस्थान	१७०
गाथा २५	१७१—१७७
मार्गणा के भेदों में जीवस्थान	१७५
गाथा २६	१७५—१७६
ज्ञानादि मार्गणाओं में जीवस्थान	१७८
गाथा २७	१८८—१८५
ज्ञान और दर्शन मार्गणा के अवान्तर भेदों में जीवस्थान	१८०
गाथा २८	१८५—१८७
मार्गणास्थानों में गुणस्थान	१८५
गाथा २९	१८८—१८८
काय आदि मार्गणाओं में गुणस्थान	१८८
गाथा ३०	१८९—१९०
वैद, काषाय, लेश्या मार्गणाओं में गुणस्थान	१९९

गाथा ३१	१६०-१६८
लेश्या मार्गणा का विशेष स्पष्टीकरण से वर्णन	१६०
गाथा ३२	१६८-२००
भवय और संज्ञी मार्गणा में गुणस्थान	१६९
गाथा ३३	२००-२०२
वेदक, क्षायिक और उपशाम सम्बन्धित मार्गणाओं में गुणस्थान	२०१
गाथा ३४	२०२-२०४
आहारक मार्गणा में गुणस्थान, अन्थ का उपसंहार और वंथक अधिकार के कथन का सूचन	२०२
<b>परिचाल</b>	<b>१—६८</b>
१. योगोपयोग मार्गणा-अधिकार की मूल गाथाएँ	१
२. (१) दिगम्बर साहित्य में अपेक्षाभेद से जीवस्थानों के भेदों का वर्णन	४
(२) संज्ञी-असंज्ञी सम्बन्धी विशेषावश्यक भाष्यगत विवेचन	१२
(३) प्रज्ञापत्तासूत्र एवं तत्त्वार्थभाष्यगत पर्याप्ति सम्बन्धी वर्णन	१५
(४-५) दिगम्बर कर्मसाहित्य में जीवस्थानों में योग-उपयोग का निर्देश	१६
(६) सामायिक आदि पांच चारिओं का परिचय	२२
(७) औपशामिक सम्यकत्व-प्राप्ति विषयक प्रक्रिया का सारांश	२६
(८) दिगम्बर कर्मग्रन्थिकों का मार्गणास्थानों में योग का कथन	३२
(९) दिगम्बर कर्मसाहित्य में मार्गणास्थानों में उपयोग-विचार	३५

(१०) अपूर्वकरण गुणस्थान में उत्तरोत्तर अपूर्व स्थिति बंध		३८
एवं अव्यवसाय-वृद्धि का विवेचन		३८
(११) केवलि-समुद्रधातु सम्बन्धी प्रक्रिया		४२
(१२) दिगम्बर साहित्य में गुणस्थानों में योग-उपयोग निर्देश		५२
(१३) दिगम्बर कर्मधन्यों में वर्णित मार्गणास्थानों में जीव-		५४
स्थान		५४
(१४) दिगम्बर साहित्य में निर्दिष्ट मार्गणास्थानों में गुणस्थान		५७
<b>तालिकाएँ :</b>		
चतुर्दश गुणस्थानों में योगों का प्रारूप		६०
चतुर्दश गुणस्थानों में उपयोगों का प्रारूप		६१
मार्गणाओं में जीवस्थानों का प्रारूप		६२-६४
विशेष (स्पष्टीकरण)		६५
मार्गणाओं में गुणस्थानों का ग्राह्य		६६-६८
गाथाओं की अकारादि अनुक्रमणिका		६९



श्रीमदाचार्य चन्द्रपिंडमहत्तर-विरचित

## पंचसंग्रह

(सूल, शब्दार्थ तथा विवेचन सुकृत)

योगोपयोगमार्गणा  
अधिकार

१

## उत्थानिका

शिष्ट जन हृष्ट देव के नमस्कारपूर्वक हो अभीप्रियस कार्य में प्रवृत्ति करते हैं, अथवा मंगलवाचक शब्दों के उच्चारणपूर्वक कार्य प्रारम्भ करते हैं। अतः आचार्यप्रबाद भी शिष्टजनसम्मल परम्परा का अनुसरण करते हुए विज्ञोपशांति के लिए सर्वप्रथम मंगलवाचण करते हैं—

नमित्तं जिषं वीरं सम्म दुदृढृठकमनिदृठवरं ।  
बोध्यामि पञ्चसंग्रहमेय महूर्धं अहूर्धं च ॥१॥

**शब्दार्थ—**नमित्तं—नमस्कार करके, जिषं—जिस, वीरं—वीर की, सम्म—सम्यक् प्रकार से—विधिपूर्वक, दुदृढृठकमनिदृठवरं—दुष्ट अंड कमी का नाश करने वाले, बोध्यामि—कहैगा, पञ्चसंग्रह—पञ्चसंग्रह को, एव—इस, च—और, महूर्धं—महान अर्थ वाले, अहूर्धं—दूसरे ।

**गाथार्थ—**दुष्ट अष्ट कमी का नाश करने वाले जिस भगवान् महावीर की सम्यक् प्रकार से विधिपूर्वक नमस्कार करके महान अर्थ वाले इस 'पञ्चसंग्रह' नामक प्रथा को यथार्थ रूप में कहैगा ।

**विवेचार्थ—**आचार्यप्रबाद ने गाथा में हृष्ट देव के रूप में वीर जिनेश्वर को नमस्कार करते हुए प्रथा का नामोल्लेख और उसका माहात्म्य प्रदर्शित किया है ।

मंगलवाचण के दो प्रकार हैं—निष्ठ और अनिष्ठ, अथवा अवक्त और अव्यक्त । निष्ठ और अव्यक्त मंगल वचनरूप और अनिष्ठ—अव्यक्त मंगल स्मरणरूप होता है । ऐ दोनों मंगल भी आदि, मध्य और अन्त के येद से तीन प्रकार के हैं । आदिमंगल प्रारम्भ किये जा रहे कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए, मध्यमंगल प्राप्त सफलता के

मुल्यांकन एवं प्राप्त सफलता से उत्तम अभिमान-वत्ति के उपशमन के लिये और अन्तमंगल स्व की तरह इतर जिज्ञासुजनों को अभीषित कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए किया जाता है।

प्रस्तुत गाथा आदिमंगल रूप है और मध्य एवं अन्त मंगल यथात्मान प्रस्तुत किये जायेंगे।

### मंगलाचरणात्मक पदों की व्याख्या

सामान्यतया इस सभी अपने से बढ़ों की विनय, सम्मान और नमस्कार करने की परम्परा का अनुसरण करते हैं। ऐसा करना मंगलकारी भी है और साथ ही ऐसा करने पर हृदय में हर्ष एवं उल्लास की अनुभूति होती है। लेकिन यथार्थ विनय, नमस्कार वही है कि जिससे उन महापुरुषों के अनुरूप बनने की सूक्ष्मति व प्रेरणा प्राप्त हो।

गाथा का पूर्वीं मंगलाचरणात्मक है। प्रथकार आचार्य ने उसमें इसी प्रकार का साधक नमस्कार किया है। साथ ही वीर जिनेश्वर को नमस्कार करने के कारण का भी संकेत किया है। जिसका स्फटीकरण इस प्रकार है—

‘जिण’, ‘वीर’ और ‘दुष्टकम्मनिदृवग’ इन तीनों पदों में से ‘वीर’ शब्द श्रमण भगवान् महावीर के नाम का द्वोतक होने के साथ-साथ उनकी विशेषता बताने वाला भी है और शेष दो शब्द विशेषण रूप हैं।

जीव के संसारभ्रमण का कारण कर्म है। जब तक जीव और कर्म का संयोग बना रहेगा, तब तक जीव किसी न किसी योनि का शरीर छारण करते हुए संसार में परिभ्रमण करता रहेगा और शारीरिक क्षमता एवं शक्ति की तरतमता के कारण आत्म-स्वरूप को प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो सकेगा। लेकिन भगवान् महावीर ने संसार के कारण-सूत दुष्ट अष्ट कर्मों का निःशेष रूप से नाश कर दिया है। स्व-

पुरुषार्थ से राग-द्वेष-मोह आदि कर्मबन्ध के कारणों पर विजय प्राप्त करके सदा-सर्वदा के लिए सुक्ति प्राप्त कर ली है। इसी कारण उनको यही नमस्कार किया है।

इसके साथ ही अत्यकार ऐ नर्मजिदुकिं के उपर्युक्त और अदर्श को यथार्थ रूप में अवतरित करने वाले बीर जिनेश्वरदेव की नमस्कार करने के द्वारा प्रत्येक संसारी जीव को बोध कराया है कि अब तक राग-द्वेष-मोह आदि भावकर्मों और ज्ञानावरणादि अष्ट द्रव्यकर्मों के साथ सम्बन्ध बुड़ा हुआ है, तब तक जन्म-न्मरण आदि रूप दुःखों को ओगना हो पड़ेगा।

भंगलाचरणात्मक पदों की व्याख्या इस प्रकार है—

‘विज’ (जिन) —रागादिशब्दवेत्तुत्वादिजनस्ते—यह जिन पाद की अनुत्पत्तिमूलक व्याख्या है। अर्थात् स्व-स्वरूपोपलब्धि में बास्तक राग-द्वेष-मोह-काम-क्लोध आदि अन्तर्गत शब्दों और ज्ञानावरणादि अष्ट द्रव्यकर्मरूप शब्दों की जीतने वाले जिन कहलाते हैं।

बीर—‘बीर’ धातु पराक्रम के अर्थ में प्रयुक्त होती है। अतः ‘बीर-वित्तस्म बीर’ अर्थात् क्राय आदि अन्तर्गत बीर उपसर्ग, परीक्षह आदि बाह्य शब्दसूह को जीतने में जिन्होंने पराक्रम किया है, वे बीर हैं।

अथवा ‘ईर’ गतिप्रेरणाद्योः, अतः ‘वि विशेषेण ईरयति, गमयति, स्फेठयति कर्म, प्रापयति वा शिवं, प्रेरयति शिवाभिमुखमितिवा बीर’—ईर धातु गति और प्रेरणार्थक है, इसलिए विशेष प्रकार से जो कर्म को दूर करते हैं, अन्य भव्य आत्माश्वर्त्रों को भीक्ष प्राप्त करते हैं अथवा जो भीक्ष के सम्बुद्ध होने की प्रेरणा देते हैं, वे बीर कहलाते हैं।

अथवा ‘ईर गती’—‘वि-विशेषेण अपुनभविन ईर्ते स्म याति स्म शिवमिति बीर’—अर्थात् ‘वि’ उपसर्गद्वार्वक गत्यर्थक ‘ईरि’ धातु से बीर शब्द निष्पत्त हुआ है। अतः पुनः संसार में न जाना पड़े, इस प्रकार

के अपुनभवित जो मोक्ष में चले गये हैं, जिन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया है, उन्हें वीर कहते हैं। अथवा

विदारयति यस्कर्म तपसा च विश्वते ।

तपोबीर्येण युक्तश्च सस्माध् वीर इतिस्मृतः ॥

अथत् जो कर्मों का विदारण करते हैं और तप से विराजित-शोभित हैं, तपोबीर्य से युक्त हैं, उन्हें वीर कहते हैं।

अथवा 'वि—विशिष्टां, हि—लक्ष्मो, र—राति—ददाति आत्मीयत्वेन गृहणातीति वा वीरः ।' अथवा 'वि—विशेषेण, अनन्त ज्ञानादि आत्म-गुणान्, हर्—ईरयति प्रापयति वा वीरः, अथत् अनन्तज्ञान-दर्शन और आत्मा के असाधारण गुणों रूपी लक्ष्मी को जो प्राप्त करने वाले हैं और दूसरों को भी इन्हीं की प्राप्ति में समर्थ सहयोगी बन सकते हैं, वे वीर कहलाते हैं।

**दुष्टदृढकर्मनिष्ठावर्ग (दुष्टानामष्टानां कर्मणा निष्ठापको-विनाशकस्तं)**—अथत् संसार के कारणभूत अत्यन्त दुष्ट एव साम-हृषि आदि भावकर्मों और उनके कार्यभूत ज्ञानावरण आदि वृष्ट द्रव्यकर्मों का विनाश करने वाले दुष्टाष्टकर्मनिष्ठापक (विनाशक) कहलाते हैं।

उक्त विशेषणों की व्याख्या का सारांश यह है कि श्रम्भकार आधार्य ने संसार के कारणभूत कर्मपाश का निष्ठेष रूप से मेदन करने वाले, जन्म-जरा-सरण आदि रूप भयों का विनाश करने वाले, अव्यजनों के हृदयकमल को विकसित करने वाले और प्रबल उपसर्ग-परीक्षणों के उपस्थित होने पर मेरुवत् अचल-अडिग रहने वाले होने से वीर जिनेश्वर को नमस्कार किया है।

### प्रत्यक्षार्थकम्

कदाचित् यह कहा जाये कि विघ्नोपशमन के लिये किये गये संग्रामावरण में 'विण', 'वीर' और 'दुष्टदृढकर्मनिष्ठावर्ग' इन तीन

पदों में से एक पद ही पर्याप्त है। क्योंकि जब तीनों पदों का समान अर्थ है तो फिर उन तीनों पदों को देने की क्या उपयोगिता है? अधिक अन्तर के सिवाय उनमें अन्य कोई विशेषता हृष्टिमोचर नहीं होती है। तो इसका समाधान यह है कि—

‘नत्वा जिन’ इतना पद देने पर यथासम्भव रागादि शत्रुओं के विजेता, धूतज्ञानी, अवधिज्ञानी आदि को भी जिन कहा जा सकता है। क्योंकि वे जिन तो हैं लेकिन साधात् जिन नहीं हैं। अतः उनका निषेध करने के लिए ‘बीर’ पद दिया। और भी अनेक प्रकार के ही सकते हैं। जैसे कि जोकप्रसिद्ध कार्यों में सफलता प्राप्त करने वालों को भी बीर कहा जाता है, अथवा कोई नाम से भी बीर होता है अथात् किसी का नाम भी बीर होता है। अतः इन लोकप्रसिद्ध बीरों और नामतः बीरों का नियन्त्रण करने के लिए विशेषण दिया और नामतः बीरों का नाम करने वाला है ‘दुष्टाष्टकर्मनिष्ठापक’। जो अष्ट कर्मों का नाश करने वाला है, वही यथार्थ जिन और बीर है। इसीलिए एक दूसरे की विशेषता बताने वाले होने से मंगलाचरण में तीन पद सार्थक हैं तथा इन तीनों पदों से मंगलकर्ता आचार्यदेव ने आत्मा की चरमशुद्ध स्थिति के से प्राप्त होतो है, इसका भी संकेत किया है।

अतः—‘दुष्टाष्टकर्मनिष्ठापक’ और ‘जिन’ यह दोनों पद ती समानार्थक विशेषण हैं। क्योंकि दुष्ट अष्ट कर्म को नष्ट करने वाला ही जिन कहलाता है। इसी अर्थ को स्वयं आपने स्वीकार किया है। अतः दोनों में से कोई एक विशेषणपद देना चाहिए था।

जल्द—संसारमोचक आदि कितने ही प्रभतावस्थाद्वयों का भंतव्य है कि हिंसा, मैथुन आदि राग-द्वेष की बढ़ाने वाले पाप कार्यों से दुष्ट अष्टकर्मों का नाश होता है। अतः ऐसी विपरीत प्रकृपणा करने वाले उन संसारमोचकादि का निषेध करने के लिए ‘जिन’ विशेषण दिया है। ‘जिन’ ही राग-द्वेष आदि आत्मशत्रुओं के नाश करने वाले होने से अष्ट कर्मों का विनाश करने वाले हैं। अन्य कोई जिन—जीलमें

बाले नहीं हो सकते हैं। इसीलिए 'जिन' और 'टुड्टाइटकमेनिड्डापक' यह दोनों सार्थक विशेषण हैं और दोनों पृथक्-गृथक् दो विशेषताओं का बोध करते हैं।

यह विशेषताये साक्षात् रूप से बीर जिनेश्वर में प्राप्त हैं। अन्यत्र सम्भव नहीं होने से 'सम्म'—सम्यक् प्रकार से—विशिष्टपूर्वक उनकी 'नभिकण'—नमस्कार करके आचार्य अपने प्रन्थरचना रूप कार्य में प्रदृश होते हैं।

इस प्रकार गाथागत पूर्वार्थ के मुख्य पदों की सार्थकता बतलाने के बाद उत्तरार्थ की व्याख्या करते हैं कि—

'बोल्हामि पञ्चसंगह'—पंचसंघह नामक ग्रन्थ का विवेचन करूँगा, कहूँगा। यद्यपि यह ग्रन्थ संश्वह रूप है तथापि 'महत्थ'—'महार्थम्' गम्भीर अर्थ वाला है। संश्वहात्मक होने पर भी इसके अर्थगांभीर्य में किञ्चिन्नात्र भी न्यूनता नहीं है। इसके साथ ही 'जहत्थ'—'यथार्थम्' जिनप्रबन्ध से अविरोधी अर्थ वाला है।

### प्रन्थरचना का प्रयोजन

स्व-इडट की सिद्धि को प्रयोजन कहते हैं। प्रयोजन के दो प्रकार हैं—१. अनन्तर (साक्षात्)-प्रयोजन और २. परम्पर-प्रयोजन। श्रोता की अपेक्षा ग्रन्थ के विषय का ज्ञान होना और कर्ता की अपेक्षा परोपकार अनन्तरप्रयोजन है तथा कर्म का स्वरूप समझकर कर्मक्षय के लिए प्रवृत्त होकर मोक्ष प्राप्त करना कर्ता और श्रोता का परम्पर-प्रयोजन है।

इस प्रकार सामान्य से ग्रन्थ के महत्थ को प्रदर्शित करने के पश्चात् अब ग्रन्थकार ग्रन्थ का प्रारम्भ करते हैं।

### ग्रन्थ के नामकरण की दृष्टि

ग्रन्थ को प्रारम्भ करने के प्रसंग में सर्वप्रथम ग्रन्थ के नामकरण के कारण को स्पष्ट करते हैं—

सद्यगाइ पञ्च ग्रन्था अहरिहं जेण एत्थ संक्षिप्ता ।

दाराणि पञ्च अहवा, तेण अहत्याभिहामनियं ॥२॥

**प्राचीर्थ**—सद्यगाइ—शतकादि, पञ्च—पांच, ग्रन्था—एवं, अहरिहं—यथायोग्य रीति से, जेण—जिस कारण, एत्थ—यही, संक्षिप्ता—संक्षिप्त करके, दाराणि—गाइ, पञ्च—पांच, अहवा—हत्या, तेण—उससे, अहत्याभिहामनियं—यथार्थ नामकाला, इष्ट—यह ।

**ग्रन्थार्थ**—यथायोग्य रीति से जिस कारण शतक आदि पांच ग्रन्थों का अथवा पांच द्वारों का यहीं संक्षिप्त रूप में संग्रह किया गया है, उससे इस ग्रन्थ का 'पञ्चसंग्रह' यह सार्थक नाम है ।

**विशेषार्थ**—गाथा में ग्रन्थ के सार्थक नामकरण के कारण को स्पष्ट किया है कि इसमें शतक आदि पांच ग्रन्थों का सारांश संकलित किया गया है । उन ग्रन्थों के नाम हैं—

१. शतक, २. सत्ततिका, ३. कथाध्यामृत, ४. शतकम् और ५. कर्म-प्रकृति ।<sup>१</sup>

इन पांच ग्रन्थों का संक्षेप में संग्रह किये जाने से 'पञ्चसंग्रह' यह सार्थक नाम है ।

अथवा नामकरण का दूसरा कारण यह है कि इसके बर्णन के पांच अर्थाधिकार हैं । इन अर्थाधिकारों में अपने-अपने अधिकृत विषय का यथायोग्य रीति से विवेचन किया जायेगा । इस अपेक्षा से भी इस प्रकरण का 'पञ्चसंग्रह' यह नाम सार्थक है ।

१ इन ग्रन्थों के नामों का उल्लेख आखार्य मन्दिरिजिति ने अपनी टीका में किया है । इन नामों वाले ग्रन्थ तो आज भी उपलब्ध हैं, लेकिन ये वही ग्रन्थ हैं, जिनका यही उल्लेख है, निश्चित रूप में नहीं कहा जा सकता है । ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार के समय में कोई प्राचीनतम् ग्रन्थ रहे होंगे जो उपलब्ध ग्रन्थों से भी अधिक गम्भीर अर्थ वाले रहे होंगे और उन्हीं का सारांश पञ्चसंग्रह में संकलित है ।

सारोश यह है कि संकलन अथवा बर्णविषयों की अपेक्षा नामकरण के कारण का विचार किया जाये तो पूर्व गाथा में जो 'बोऽग्नामि पञ्चसंग्रहं' पद दिया था, तदनुरूप ही ग्रन्थ का 'पञ्चसंग्रह' नाम यथार्थ सिद्ध होता है।

### पांच द्वारों के नाम

जिज्ञासु यहीं प्रश्न पूछता है कि आपने पांच द्वारों का संकेत तो कर दिया, लेकिन वे द्वार कौनसे हैं? उनके नाम क्या हैं? यह नहीं बताया, तो इसके उत्तर में ग्रन्थकार पांच द्वारों का निर्देश करते हैं—

एत्य य बोगुब्योगाणमन्त्राणा बन्धगा य बस्तव्या ।

तह बन्धिवृद्ध य बन्धहेत्यो बन्धविहिणो य ॥३॥

**शब्दार्थ**—एत्य—यहीं, इस प्रकरण में, य—और, जोगुब्योगाणमन्त्राणा—योग-उपयोग मार्गथा, बन्धगा—बन्धक, य—और, बस्तव्या—कथन किया जायेगा, तह—तथा, बन्धिवृद्ध—बन्धव्य, बन्धहेत्योग्य, य—और, बन्ध-हेत्यो—बन्धहेतु, बन्धविहिणो—बन्धविधि, य—और।

**गाथार्थ**—इस प्रकरण में योगोपयोगमार्गण्य, बन्धक, बन्धव्य, बन्धहेतु और बन्धविधि इन पांच द्वारों का कथन किया जायेगा।

**विशेषार्थ**—गाथा में ग्रन्थ के पांच अर्थात् विधिकारों के नाम बताये हैं कि वे कौन हैं और प्रत्येक में किस-किस विषय का विवेचन किया जायेगा। उन अर्थात् विधिकारों के नाम इस प्रकार हैं—

१. योगोपयोगमार्गणा—योग और उपयोग के सम्बन्ध में विचार।

२. बन्धक—बाधने वाले कौन जीव हैं? इसका विचार।

३. बन्धव्य—बाधने वायक क्या है? इसका विचार।

४. बन्धहेतु—बाधने योग्य कर्मों के बन्धहेतुओं का विचार।

५. बन्धविधि—प्रकृतिबल्द्ध आदि बन्ध के प्रकारों का विचार।

पांच ग्रन्थों के संग्रह की तरह पांच अर्थात् विधिकार होने से इस प्रकरण का 'पञ्चसंग्रह' यह सार्थक नामकरण किया गया है।

उक्त पांच अर्थात् अधिकारों के क्रमविन्यास पर जिज्ञासु प्रश्न पूछता हि कि—

**प्रश्न**—यह कैसा अर्थात् अधिकारों का क्रमविधान है ? यह विधान तो युक्तिसंगत नहीं है । क्योंकि सभी लिङ्गार्थे कर्ता के अद्वीत होने से सर्वप्रथम बन्धक, तत्पत्तात् योगोपयोग, अनन्तर बन्धव्य और उसके बाद क्रमशः बन्धहेतु और बन्धविधि का विधान करना चाहिये था ।

**उत्तर**—अभिप्राय को न समझने के कारण उक्त प्रश्न असंगत है । क्योंकि योग और उपयोग जीव के असाध्यरण गुण हैं और अविनाशात्मीय होने से उसके द्वारा अतोन्त्रिय आत्मा का सरलता से बोध हो जाता है तथा दूसरी बात यह है कि छद्मस्थ जीव प्रायः गुण से गुणी को जानते हैं, न कि साक्षात् । अतः उक्त दोनों अर्थों का बोध करने के लिए सबसे पहले योग-उपयोग का उपन्यास किया है और उसके पश्चात् बन्धक आदि का विन्यास किया है ।

### पांच अर्थात् अधिकारों के लक्षण

पूर्व में पांच अधिकारों के वार्य विषयों का संक्षेप में संकेत किया है । अब उन्हीं को कुछ विशेष रूप में स्पष्ट करते हैं ।

प्रथम अर्थात् अधिकार का नाम 'योगोपयोगमार्गः' है । इसमें योग और उपयोग की मार्गषा—विचारणा—विवेचना की जायेगी । अतः सर्वप्रथम योग और उपयोग का स्वरूप बतलाते हैं ।

**योग**—अथात् जीव की वीर्यशक्ति अथवा जीव का वीर्य परिस्पन्द (परिणाम), जिसके द्वारा द्वौड़ना, कूदना आदि अनेक क्रियाओं में जीव संबद्ध हो—प्रदृढ़िति करे उसे योग कहते हैं ।<sup>१</sup>

अथवा मन, वचन और जाय से मुक्त जीव का जो वीर्य परि-

१ योजने योगी जीवस्य वीर्यपरिस्पद इत्यर्थः यद वा युज्यते संबद्धते धावनवल्लासादिक्रियामु जीवोऽनेति योगः ।

योग अथवा प्रदेश-परिस्थिति रूप प्रणियोग होता है, वह योग कहलाता है।<sup>१</sup>

अथवा जीवप्रदेशों का जो संकोच-विकोच व परिभ्रमण रूप परिस्थिति होता है, वह योग है।<sup>२</sup>

अथवा मन, वचन और काय के व्यापार-प्रवृत्ति अर्थात् हलन-चलन को योग कहते हैं।<sup>३</sup>

अथवा पुद्गलविषयकी शरीरनामकर्म के उदय से मन-वचन-काय से युक्त जीव की जो कर्मों के प्रहृण करने में कारणभूत शक्ति है, उस को योग कहते हैं।<sup>४</sup>

योग, व्रीर्य, स्वास, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति, सामर्थ्य, चित्त, यह सब योग के प्रयोगिकाची अपर नाम हैं।<sup>५</sup>

यह तो वार्तिक समाज जीवों में एवं जगती है और इह तीर्थन्तराय कर्म के देशकाय एवं सर्वकाय से उत्पन्न होती है। देशकाय से छद्मस्थ-संसारी जीवों में और सर्वकाय से सयोगि-अयोगि के बीची, भुक्त जीवों में

१ मणसा वाया काण्ण वा वि जुलस्स विरिथयश्चामो ।

जीवस्सप्तगिनोगो जीयो लि जिणेहि णिदिद्ठो ॥

—दि. पंचसंघटह १/८८

२ जीव धेसाण परिष्फदो संकोचविकोचभ्रमणसरुवजो ।

—धवला १०/४, २, ४, १७५/४३७

३ कायशङ्गमनःकर्म योगः ।

—लस्वार्थसूत्र ६/१

४ पुद्गलविषयाइडेहोदयेण मणवयणकायजुलस्स ।

जीवस्स जा हु सत्ती कम्मायम कारणंजोगो ॥

—शेषमटसार, जीवकाण्ड गाथा २१६

५ जीगो विरियं याभो उच्छाह परककमो तहा चिट्ठा ।

सत्ती सामर्थ्यं विय जीवस्स हर्षति पञ्जया ॥

—कर्मप्रकृति, पृ० १८

उत्पन्न होती है। संसारी जीव सलेश्य हैं और मुक्त जीव अलेश्य। प्रस्तुत में सलेश्य-संसारी जीव की योगशक्ति अभिप्रेत है।

संसारी जीवों के पास परिणमन, अवलम्बन और ग्रहण के साधन रूप में मन, वचन और काय रूप सहकारी कारणों के भेद से योग के युद्ध तीन भेद हैं<sup>१</sup> और उनके अवधारण फलद्वारा भेद होते हैं। जिनके नाम यथाप्रसंग आगे बतलाये जायेंगे।

**उपयोग**—जीव की चेतनाशक्ति का व्यापार। जिससे आत्मा वस्तुओं को जानने के प्राप्त प्रदृष्टि करती है, ऐसी जीव की स्वरूपभूत चेतनाशक्ति का व्यापार उपयोग कहलाता है।<sup>२</sup>

अथवा जीव का जी भाव वस्तु को ग्रहण करने के लिये प्रदृष्ट होता है, उसे उपयोग कहते हैं।<sup>३</sup>

अथवा आत्मा के चेतन्यानुविधायी परिणाम को उपयोग कहते हैं।<sup>४</sup>

चेतना की परिणतिविशेष का नाम उपयोग है। उपयोग जीव का असाधारण लक्षण है।<sup>५</sup>

उपयोग के बारह भेद हैं। इनके नाम और लक्षण आगे यथाप्रसंग बतलाये जायेंगे।

योगयोगमार्गिणी में इन योग और उपयोग की मार्गणि-विचारणा

१ परिणामालंबग्रहणसाहण लेण लक्षनाभितिं।

—कर्मप्रकृति, गा० ४

२ उपद्युज्यते वस्तुपरिच्छेदं प्रति व्यापार्यते जीवोऽनेनेत्युपयोगः, योग्य-  
रूपो जीवरूपं वित्तन्यानुभूतो व्यापारः। —पञ्चसंग्रह दीका, पृ० ५

३ वस्तुभित्तो भावो जीवो जीवस्तु होति उपयोगो। —गो, जीवकाण्ड, गाचा ६७२

४ चेतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः। —शब्दर्थसिद्धि २/८

५ उपयोगो लक्षणम्। —तत्त्वार्थसूत्र २/८

जीवस्थानों, मार्गिणास्थानों और गुणस्थानों में की जायेगी साथ साथ ही मार्गिणास्थानों में जीवस्थानों और गुणस्थानों का भी विचार किया जायेगा।

**बन्धक—**जो स्व आत्मप्रदेशों के साथ आठ प्रकार के कर्मों को सम्बद्ध करते हैं—जोड़ते हैं, उन्हें बन्धक कहते हैं।<sup>१</sup> इन कर्मों द्वारा जीवों का विचार बन्धक नामक दूसरे अर्थात् विकार में किया जायेगा।

**बन्धव्य—**बन्धक जीवों द्वारा द्वारा द्वारा योग्य आठ प्रकार के कर्मों को बन्धव्य कहते हैं।<sup>२</sup> इनका विचार तीसरे बन्धव्य अर्थात् विकार में किया जायेगा।

**बन्धहेतु—**कर्म-परमाणुओं के साथ आत्म-प्रदेशों का अग्नि और लोहपिण्ड के समान परस्पर एकाकार सम्बन्ध होने को बन्ध कहते हैं।<sup>३</sup>

अथवा कर्म-प्रदेशों का आत्म-प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाह हो जाना बन्ध है।<sup>४</sup>

१ (क) बहनन्त्यष्टप्रकारं कर्मं स्वप्रदेशैरिति बन्धकः ।

—पञ्चसंग्रह, स्वोपशटीका पृ. ३

(ख) बधन्ति संबहनन्त्यष्टप्रकारं कर्मं स्वप्रदेशैः सहेति बन्धकः ।

—पञ्चसंग्रह, मलयगिरिटीका पृ. ४

२ (क) बन्धव्यम् इति बन्धनीयं जीवे रात्मप्रदेशैः ।

—पञ्चसंग्रह, स्वोपशटीका पृ. ३

(ख) बन्धव्यं तदेवाष्टप्रकारं कर्म ।

—पञ्चसंग्रह, मलयगिरिटीका पृ. ४

३ कर्मपरमाणुभिः सहात्मप्रदेशानां बन्धाश्चिद्विवद्यन्योऽन्यानुगमलक्षणं सेवन्त्वा बन्धः ।

—पञ्चसंग्रह, मलयगिरिटीका पृ. ४

४ आत्मकर्मणोरन्योर्मयप्रदेशानुप्रवेक्षलक्षणो बन्धः ।

—तत्त्वार्थराजवाचिक १/४/१७/२६/२६

इस बन्ध के हेतुओं—मिथ्यात्मादि को अन्धहेतु कहते हैं। इनका विचार चौथे बंधहेतुद्वारा में किया जायेगा।

**बन्धविधि**—पूर्वोत्तर स्वरूप साले बंध के प्रकृतिबंध आदि प्रकारों को बन्धविधि कहते हैं। इनका विचार बन्धविधि नामक पांचवें द्वार में किया जायेगा।

इस प्रकार से इन पांच द्वारों का संक्षेप में स्वरूप और उनमें किये जाने वाले वर्णन की स्पष्टिका जानना। चाहिये।

अब यथार्थ से उनका विस्तार से विवेचन करते हैं।

---

## १. योगोपयोगमार्गणः

योग के भेद

उहेएव के अनुसार निर्देश-प्रतिपादन किया जाता है—इस न्याय से सर्वप्रथम पहले अथर्विकार योगोपयोगमार्गणः का कथन प्रारम्भ करते हैं। योग-उपयोग में पहला योग है। योग का स्वरूप पहले बताया जा चुका है। अतः अब योग के भेद और उनका स्वरूप बताते हैं—

सद्व्याहारसत्त्वं उभयं असत्त्वमोहं यजोवर्द्धं आद्य ।

येऽव्याहारोरात्मिससुद्धाणि कम्मयन् ॥४॥

सत्त्वार्थ—सद्व्याहारसत्त्वं—सत्य, असत्य, उभय—उभय—मिथ, असत्त्व-  
मोह—असत्यामृषा, यजोवर्द्ध—मन, और वचन, अट्ठ—आठ, येऽव्याहारो-  
रात्म—वैकिय, आहारक और औदारिक, मिससुद्धाणि—मिथ और शुद्ध, कम्म-  
यन—कम्मजक-कार्मण ।

पात्त्वार्थ—सत्य, असत्य, उभय—मिथ और असत्यामृषा इस  
प्रकार मन और वचन के आहार-व्याहार प्रकार होने से कुल आठ तथा  
वैकिय, आहारक, औदारिक ये तीन मिथ एवं शुद्ध तथा कार्मण  
(इस प्रकार काययोग के सात भेद हैं, इनको मिलाने पर योग के  
कुल पन्द्रह भेद होते हैं) ।

यित्तेषार्थ—योग के पन्द्रह भेदों के नाम गाथा में बतलाये हैं। ये  
भेद संसारी जीव के ग्रहण आदि के साधनभूत मन, वचन और काय  
के अवलोकन से होते हैं। अतः उनकी अपेक्षा योग के पन्द्रह भेद हैं।  
यित्तका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

व्याप्तिसन, वचन और काय के पुद्गलों के अवलोकन से उत्पन्न  
हुए जीव के वीर्य-व्यापार को योग कहते हैं और वही वीर्य-व्यापार

मुख्य रूप से योग का बाबक है। लेकिन यहाँ जो पुद्गल उस वीर्य-व्यापार में कारण हैं, उन मन, वचन और काय के पुद्गलों में ही कार्य का आरोप करके उन पुद्गलों को योग शब्द से विवक्षित किया है। इसी अपेक्षा से मनोयोग के चार, वचनयोग के चार और काययोग के सात भेद होते हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

**मनोयोग**—१ सत्य मनोयोग, २ असत्य मनोयोग, ३ सत्य-असत्य मनोयोग, ४ असत्य-अभूता मनोयोग (व्यवहार मनोयोग)।

**वचनयोग**—१ सत्य वचनयोग, २ असत्य वचनयोग, ३ सत्य-असत्य वचनयोग, ४ असत्य-अभूता वचनयोग (व्यवहार वचनयोग)।

**काययोग**—१ वैक्रियकाययोग, २ वैक्रियमिश्र काययोग, ३ आहारक काययोग, ४ आहारकमिश्र काययोग, ५ औदारिक काययोग, ६ औदारिकमिश्र काययोग, ७ कार्यण काययोग।<sup>१</sup>

अब योग के उक्त पन्द्रह भेदों का स्वरूप बतलाते हैं :

### मनोयोग के भेदों के लक्षण

**सत्य मनोयोग**—सत् अर्थात् प्राणी, जीव, आत्मा आदि। उनके लिये जो हितकर हो उसे सत्य कहते हैं।<sup>२</sup> अथवा 'सत्' यानि मुनि या पदार्थ। जो मुनि और पदार्थ को साधु—हितकर हो वह सत्य कहलाता है।<sup>३</sup> अथवा सम्यग्ज्ञान के विषयभूत पदार्थ को सत्य कहते हैं। अर्थात् जैसा हो वैसा ही चिन्तन करना और कहना सत्य का सामान्य लक्षण है।

१ इस प्रकार से काययोग के भेदों के अभिविज्ञान का कारण आगे स्पष्ट किया जायेगा।

२ संतः प्राणिनोऽभिधीयन्ते, सेभ्यो हितं सत्यम्।

—पञ्चसंघ्रह, स्वीपक्षवृत्ति पृ. ४

३ संतो मुनयः पदार्थी वा सेषु………साधु सत्यम्।

—पञ्चसंघ्रह, मलदण्डिका पृ. ४

अथवा पदार्थ के ग्राहार्थ स्वरूप के चिन्तन करने को सत्य कहते हैं और इस प्रकार से पदार्थों की विषय करने वाले मन को सत्यमन कहते हैं।<sup>१</sup> जैसे कि जीव है, वह द्रव्यरूप में सत् और पर्यायरूप में असत् है और अपमे-अपमे पर्यायप्रमाण है, इत्यादि रूप में जिस प्रकार से वस्तु का स्वरूप है, उसी प्रकार से उसका विचार करने में तत्पर मन सत्यमन कहलाता है। अर्थात् समीक्षीन रूप से पदार्थ की विषय करने वाले मन को सत्यमन कहते हैं और उसके द्वारा होने वाले योग को सत्य मनोयोग कहते हैं।

**असत्य मनोयोग**—सत्य से विवरीत की असत्य कहते हैं।<sup>२</sup> जैसे कि जीव नहीं है, अथवा एकान्त नित्य है या एकान्त अनित्य है, इत्यादि, जिस प्रकार से वस्तु का स्वरूप नहीं है, उस रूप में उसका विचार करने में तत्पर मन असत्यमन कहलाता है और उसके द्वारा होने वाले योग को असत्य मनोयोग कहते हैं।

**सत्यासत्य मनोयोग**—इसकी संक्षेप में उभय या मिश्र मनोयोग भी कहते हैं। सत्य और असत्य से मिश्रित अर्थात् जिसमें सत्यासत् भी हो और आंशिक असत्य भी हो, इस प्रकार सत्य-असत्य से मिश्रित को सत्यासत्य कहते हैं।<sup>३</sup> जैसे कि धृव, छदिर और पलाश आदि से मिश्रित और अधिक अशोकद्रुक्ष वाले वन को 'यह अशोकवन ही है' ऐसा विकल्पात्मक चिन्तन सत्यासत्य कहलाता है और उस प्रकार के मन को सत्यासत्य—मिश्रमन कहते हैं तथा उसके द्वारा होने वाले योग को सत्यासत्य (मिश्र—उभय) मनोयोग कहते हैं।

१ सङ्घावमणो सत्त्वो ।

—गोमटसार, जीवकांड गाथा २१६

२ (क) तद्विपरीतमसत्यम् ।

—पञ्चसंग्रह, स्वोपशब्दवृत्ति पृ. ४

(ख) सत्यविषयत्वसत्यम् ।

—पञ्चसंग्रह, मलयविरटीका पृ. ५

(ग) तत्त्ववरीओ भीसो ।

—गोमटसार, जीवकांड गाथा २१७

३ (क) सत्यासत्यं द्विस्थाप्तं ।

—पञ्चसंग्रह, स्वोपशब्दवृत्ति पृ. ४

(ख) आशुभृयं असत्त्वमोत्तिः ।

—गोमटसार, जीवकांड गाथा २१७

किंश्च मनोयोग के स्वरूप का उक्त कथन व्यवहारस्थापेक्षा समझता चाहिये । यथार्थतया तो उसका असत्य में अन्तभव होता है । क्योंकि जिस रूप में वस्तु का विचार किया है, उस रूप में वह वस्तु नहीं है ।<sup>१</sup>

**असत्यामृषा मनोयोग**—जो मन न लो सत्य हो और असत्य रूप भी नहीं हो, उसे असत्यामृषा मन कहते हैं । अर्थात् मन के द्वारा किया जाने वाला विचार सत्यरूप भी न हो, उसी प्रकार असत्यरूप भी न हो, तब वह असत्यामृषा कहलाता है और उसके द्वारा जो योग होता है, उसको असत्यामृषा मनोयोग कहते हैं ।<sup>२</sup>

जब किसी विषय में विप्रतिष्ठिति—विकाद उपस्थित हो, तब पदार्थ की स्थापना करने की बुद्धि से सर्वज्ञ के मतानुसार जो विकल्प किये जाते हैं, जैसे कि जीव है और वह द्रव्यरूप से सत् और पर्यायरूप से असत् है तो इस प्रकार का विकल्प सत्य कहलाता है । क्योंकि इस प्रकार का निर्णय करने में आराधकभाव है । लेकिन विकाद के प्रसंग में जब अपने मतान्य को पुष्ट करने के लिए सर्वज्ञ के मत के विपरीत स्वबुद्धि से वस्तु की स्थापना करने हेतु विकल्प किये जायें, जैसे कि जीव नहीं है, अथवा एकान्त नित्य है या एकान्त अनित्य है, वह असत्य है । क्योंकि ऐसा विकल्प करने में विराधकभाव है । किन्तु इस प्रकार का स्वरूप वाला सत्य या असत्य दोनों जिम्में न हो और जो विकल्प पदार्थ के स्थापन या उत्थापन की बुद्धि के बिना ही मात्र सदरूप का विचार करने में प्रयुक्त हो, यथा—देवदत्त घड़ा लाओ, मुझे मर्यादो दृत्यादि; वह असत्यामृषा मन कहलाता है । क्योंकि इस प्रकार

१ व्यवहारस्थापेक्षया चैवमृज्यते, परमार्थिः पुनरिदमस्थिषेद्, यथा विकल्पताथयोगान् । —पञ्चसंवह, यत्यग्निर्टीका पृ. ५

२ ए य मञ्चमोसजुलो जो हु मणो सो असञ्चमोक्षणो ।

जो जोओ लेण हुवे असञ्चमोक्षो दु मणजोगो ॥

के विकल्प द्वारा भाव स्वरूप का ही विचार किये जाने से यदोक्त लक्षणरूप सत्य वा असत्य नहीं है। इस रूप में भन के द्वारा किया जाने वाला विचार असत्यामृषा मनोयोग कहलाता है।

उक्त कथन भी व्यवहारनायापेक्षा आमना चाहिये। कथ्यव्याप्रतारण—ठगाई आदि दुष्ट-मलिन आशयपूर्वक थदि विचार किया जाता है तो उसका असत्य में और शुद्ध आशय से विचार किया जाता है तो उसका सत्य में अन्तर्भवि हो जाता है।

सारांश यह है कि सत्य और असत्य यह दो विकल्प मुख्य हैं और जोष दो विकल्प—सत्यासत्य और असत्यामृषा व्यवहारहितसापेक्ष हैं। लेकिन निष्ठय और व्यवहार ये दोनों नयसापेक्ष हैं, अतः उनको भी भेद रूप में माना है। क्योंकि मानसिक चिन्तन के ये रूप भी ही सकते हैं।

इस प्रकार से मनोयोग के चार भेद जानना चाहिये।

### वचनयोग के भेदों के लक्षण

विचार की तरह वचन के भी सत्य आदि चार प्रकार होते हैं। अतः मनोयोग की तरह वचनयोग के चार भेद हैं और नाम भी तदनुरूप हैं—

१. सत्य वचनयोग, २. असत्य वचनयोग, ३. उभय वचनयोग, ४ असत्यामृषा वचनयोग।

इस प्रकार के सत्य<sup>१</sup> अर्थ के बाचक वचन को सत्य वचन और उससे होने वाले योग को सत्य वचनयोग कहते हैं तथा इससे जो विपरीत है, उसको मृषा—असत्य और जो कुछ सत्य और कुछ असत्य का

१ अनपदसत्य, समतिसत्य, स्थापनासत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीतिसत्य, व्यवहारसत्य, सम्भाषनासत्य, भावसत्य, उपमासत्य, इस प्रकार सत्य के दस भेद हैं।

वाचक है, उसको उभय वचनयोग कहते हैं” तथा जो न सत्य रूप हो और न भयरूप हो, हो उसे असत्यामृषा—अनुभव वचनयोग कहते हैं।<sup>३</sup>

इस प्रकार मनोयोग और वचनयोग के आर-वार भेदों के लक्षणों का विचार करने के पश्चात् अब काययोग के सात भेदों के लक्षण बतलाते हैं।

### काययोग के भेदों के लक्षण

काययोग के सात भेदों में से आदि के छह भेदों का सक्रित करने के लिए गाथा में ‘वेउव्याहारोरालमिस्समुद्धाणि’ पद दिया है। अर्थात् वैक्रिय, आहारक और औदारिक ये तीन शरीर मिश्र भी होते हैं और शुद्ध भी हैं। जिसका अर्थ यह हुआ कि मिश्र शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध होने से वैक्रियमिश्र, आहारकमिश्र और औदारिकमिश्र ये तीन भेद मिश्र के हुए और ‘मुद्धाणि’ यानी मिश्र शब्द के संयोग से रहित वैक्रिय, आहारक और औदारिक ये तीन भेद शुद्ध के हैं। इस प्रकार से मिश्र और शुद्ध की अपेक्षा काययोग के छह भेदों के नाम यह है—

१ वैक्रिय, २ वैक्रियमिश्र, ३ आहारक, ४ आहारकमिश्र, ५ औदारिक, ६ औदारिकमिश्र।

गाथा में उत्पत्ति क्रम को हड्डि में रखकर मिश्र काययोगों का निर्देश करने के बाद शुद्ध काययोगों का निर्देश किया गया है। यानी पहले वैक्रियमिश्र, अनन्तर शुद्ध वैक्रिय काययोग आदि होते हैं।<sup>४</sup>

१ दसविंशत्तीने वर्णणे जो जीवों सो तु सच्चवचिजीवो ।

तम्भवरीभी भोसो जाणुधर्यं सच्चमोसोनि ॥

—गोप्यटसार, जीवकांड गा. २१६

२ जो गेव सच्चमोसो सो जाण असच्चमोसवचिजीवो ।

—गोप्यटसार, जीवकांड गा. २२०

३ गाथायां पूर्वं मिश्रनिर्देशो भवन क्रमसूचवार्थः ।

—पञ्चसंप्रद्यु, मलयमिरि शीका पृ. ५

तथापि शुद्ध भेदों की व्याख्या किये बिना मिथ भेदों की समझना सम्भव नहीं होने से प्रथम शुद्ध वैक्रिय काययोग आदि तीनों की व्याख्या करते हैं—

**वैक्रिय काययोग**—अनेक प्रकार की अथवा विशिष्ट क्रिया को विक्रिया कहते हैं और उसको करने वाला शरीर वैक्रियशारीर कहलाता है।<sup>१</sup> अर्थात् विक्रिया जिस शरीर का प्रयोजन हो उसे वैक्रियशारीर कहते हैं। जिसको इस प्रकार समझना चाहिए कि यह शरीर एक होकर भी अनेक हो सकता है, आकाशगामी होकर भी भूमि पर चलता है, जमीन पर चलने वाला होकर भी आकाशचारी होता है, दृश्य होकर भी अदृश्य होता है और अदृश्य होकर भी दृश्य ही सकता है। इस प्रकार की विविध क्रियायें हस्त शरीर के द्वारा शक्य होने से यह शरीर वैक्रिय कहलाता है और वैक्रियशारीर के द्वारा होने वाले योग को याजी वैक्रियशारीर के अवलम्बन से उत्पन्न परिस्पन्द द्वारा होने वाले प्रयत्न को वैक्रिय काययोग कहते हैं।<sup>२</sup>

वैक्रियशारीर के द्वी प्रकार हैं—(१) औपपातिक और (२) लघिध-प्रत्ययिक।<sup>३</sup> इनमें से उपपात—देव, नारकों का जन्म—जिसमें कारण हो उसे औपपातिक कहते हैं। औपपातिक तो जन्म के निमित्त से निश्चिह्न रूप से होता है। यह उपपातजन्म वैक्रियशारीर देव और नारकों का होता है<sup>४</sup> और लघिध—शक्ति, तदनुकूल वीर्यनितरायकर्म का क्षयोपशम जिसमें प्रत्यय—कारण हो, वह लघिधप्रत्ययिक वैक्रिय-

१ विविध विशिष्टा वा क्रिया विक्रिया स्त्रियों भवं वैक्रियम् ।

—पंचसंग्रह, भलदगिरि टीका पृ. ५

२ लिख्मे भव च शेयं वेगुल्लिधकायजोमो सो ।

—शोभ्मदसार, जीक्काँड गा. २३१

३ वैक्रियमौपपातिक । लघिधप्रत्यय च ।

—तत्त्वार्थसूत्र २/४६, ४७

४ नारकदेवानायुपातः ।

—तत्त्वार्थसूत्र २/३५

शारीर कहलाता है। वह किन्हीं-किन्हीं लिंगच और मनुष्यों को होता है। वयोंकि सभी तिर्यचों व मनुष्यों को वैक्रियशालविष नहीं होती है।

उक्त वैक्रियशारीर जब तक पुर्ण नहीं होता है, तब तक उसके वैक्रियमिश्र कहते हैं। अर्थात् वैक्रियशारीर की उत्पत्ति के प्रारम्भिक समय से लगाकर शारीरण्याधित पुर्ण होने तक अन्तर्ग्रहीर्ण के मध्यवर्ती अपूर्ण शारीर को वैक्रियमिश्र कहते हैं और उसके द्वारा होने वाले शोष को वैक्रियमिश्र काययोग कहते हैं।<sup>१</sup>

वैक्रियमिश्र देवों और नारकों को अस्याप्त अवस्था में होता है और मनुष्य, तिर्यच जब वैक्रियशारीर ती विकृवणा करते हैं, तब उसके प्रारम्भ काल और त्याग काल में होता है।<sup>२</sup>

**आहारक काययोग**—तीर्थकर भगवान् की ऋद्धि के दर्शन करने अथवा इयी प्रकार के अन्य किसी विशिष्ट प्रयोजन के उपस्थित होने पर, जैसे कि प्रह्लिद्या, सूक्ष्म पदार्थों का निर्णय करने में शक्त उत्पन्न होने पर उसका निर्णय करने के लिए समीप (भरत-एरवत थोक) में केवली भगवान् का संयोग न मिलने से संशय को दूर करने के लिए महाविदेहस्थोक में औद्यारिकशारीर से जाना शक्य न होने पर विशिष्ट लविष्ट के बास चतुर्वशपूर्वकारी संयत के द्वारा आहारक-वर्गण के पुद्गलों को ग्रहण करके जो निमित किया जाता है, उसे आहारकशारीर कहते हैं।<sup>३</sup>

१ वेगुच्छिय उ तर्थं विज्ञानमिस्सं तु अपरिषुण्णं तं ।

जो तेष संपजोमि वेगुच्छियमिस्सं जीगो सो ॥

—गोमाटकार, जीवकांड गाथा २३३

२ वैक्रियमिश्र देवनारकाथरमध्यर्थाद्वाव्यायां नरतिरप्त्वं वा वैक्रियस्य प्रारम्भकाले परित्यगकाले वा। अवचित् ।

—पञ्चसंग्रह, मलयगिरि दीका पृ. ५

३ वाणिदवरिद्विदं सणसुहुभपयत्वाकगहण हेऽसा ।

संस्कृतोल्लेखत्वं गमण विश्वायसुलभिम् ॥१॥

(कमलः)

यह आहारकशरीर शुभ, विशुद्ध और व्याघातरहित है।<sup>१</sup> अर्थात् यह आहारकशरीर रस, संब्रर वादि सप्त धातुओं से रहित, शुभ पुद्गलों से निमित्त, शुभ प्रशस्त अवयव और प्रशस्त संस्थान—समचतुरखसंस्थान, स्फटिकाशेषा के सनान अथवा हृस के रमण अक्ल पूर्ण वाला और सर्वांगसुन्दर होता है। वैक्षियशरीर की अपेक्षा अत्यन्त प्रशस्त होता है तथा इसका काल अन्तमूर्हृत प्रमाण है।<sup>२</sup>

यह आहारकशरीर किन्हीं-किन्हीं श्रूतकेवलियों को होता है, सभी को नहीं। क्योंकि सभी श्रूतकेवलियों को आहारकलन्धि नहीं होती है और जिनको होती भी है, वे भी उपयुक्त कारणों के होने पर अन्ति का उपयोग करते हैं।

इस आहारकशरीर द्वारा उत्पन्न होने वाले योग को आहारक काययोग कहते हैं।

आहारकशरीर की उत्पत्ति प्रारम्भ होने के प्रथम समय से लेकर शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने तक अन्तमूर्हृत के मध्यवर्ती अपरिपूर्ण शरीर को आहारकमिश काय और उसके द्वारा उत्पन्न होने वाले योग को आहारकमिश काययोग कहते हैं।

ओदारिक काययोग—युस, महत्, उदार, उराल ये एकार्थवाची शब्द हैं। अतः जो उदार (स्थूल) पुद्गलों से बना हुआ हो, उसे ओदारिक-शरीर कहते हैं।

(ऋग्वेदः) कञ्जन्मि समुप्पन्ने सुय केवलिणा विसिट्ठलङ्घीए।

ज एत्य आहरिज्ज्वह भण्मि आहारणं तं तु ॥

—पंचसंग्रह, मलयगिरिटीका पृ. ५

१ शुभ विशुद्धभव्यात्ति आहारक.....

—तत्त्वार्थसूत्र २/४६

२ अंतोमुहुस्तकालद्विदी जहृषिणदे ।

—पीडीटसार, जीवकार्य वांचा २४७

अथवा जो शरीर उदार अर्थात् प्रधान, शेष हो, वह औदारिक-  
शरीर कहलाता है। इस शरीर का प्राधान्य—शेषत्व तीर्थकरों और  
गणधरों के शरीर की अपेक्षा समझना चाहिये। यद्यपि देवों में  
अनुत्तर देवों का शरीर भी अद्यन्त कान्तिवाला और प्रशस्त है, लेकिन  
वह शरीर सी तीर्थकरों और गणधरों के शरीर की अपेक्षा अत्यन्त  
भुग्नहीन है।

अथवा उदार मोटा, स्थूल जो शरीर हो उसे औदारिकशरीर  
कहते हैं। क्योंकि यह शरीर कुछ अधिक एक हजार योजन प्रमाण वज़े  
में बड़ा हो सकता है।<sup>१</sup> जिससे शेष शरीरों की अपेक्षा बहुत प्रमाण  
वाला है। वैक्रियशरीर से इस शरीर की बहुत अवधारणोद्योगी<sup>२</sup>  
स्वाभाविक मूल शरीर की अपेक्षा से जानना चाहिये, अन्यथा तो उत्तर  
वैक्रियशरीर<sup>३</sup> एक लाख योजन प्रमाण वाला भी होता है।

यह औदारिकशरीर मनुष्यों और तिर्यकों में पाया जाता है।  
लेकिन मनुष्यों में इतनी विशेषता है कि तीर्थकरों और गणधरों का  
शरीर प्रधान (मारयुक्त) पुद्गलों से और शंख मनुष्यों और तिर्यकों का  
शरीर असार पुद्गलों से बनता है।

इस औदारिकशरीर से उत्पन्न शक्ति के द्वारा जीव के प्रदेशों में  
परिस्पर का कारणभूत जो प्रयत्न होता है, वह औदारिक कायथोग  
कहलाता है।

पूर्वोक्त औदारिकशरीर जब तक पूर्ण नहीं होता है, तब सक  
औदारिकमिश्र कहलाता है। अर्थात् औदारिकशरीर की उत्पत्ति

- १ प्रस्त्रीक वनस्पतिकाय का शरीर कुछ अधिक एक हजार योजन का है।
- २ जन्म से मरण पर्यंत जो शरीर रहे, उसे अवधारणीय शरीर कहते हैं।
- ३ अपने मूल शरीर से अन्य जो शरीर किया जाता है, उसे उत्तरवैक्रिय  
कहते हैं। उत्तर यानी दूसरा। यह शरीर एक साथ एक अस्वा उससे भी  
आधिक किया जा सकता है।

प्रारम्भ होने के प्रथम समय से लगाकर शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने से पूर्व अन्तमुद्दत्त तक मध्यवर्ती काल में कार्मणशरीर की सहायता से होने वाले औदारिक काययोग को औदारिकमिश्र काययोग कहते हैं।<sup>१</sup>

यह औदारिकमिश्र प्रभुओं द्वारा लिखी गई अस्थापित अवस्था में तथा केवल समुद्रधातावस्था में भी दूसरे, छठे और सातवें समय में होता है।<sup>२</sup>

इस प्रकार से वैक्रिय आदि शुद्ध और मिश्र के छह काययोगों का स्वरूप जानना चाहिये।

यदि इन औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीरों में उत्पत्ति-सम्बन्धीयितेष्टता का विचार किया जाये तो औदारिकशरीर भव-प्रत्ययिक और आहारकशरीर लज्ज्वल-प्रत्ययिक ही है लेकिन वैक्रिय शरीर भव-प्रत्ययिक और लज्ज्वल-प्रत्ययिक दोनों प्रकार का है।

अब काययोग के अन्तिम ऐद कार्मणकाय योग का स्वरूप बताते हैं।

**कार्मण काययोग**—कार्मण जो शरीर है, वह कार्मणशरीर है। अर्थात् आत्मा के साथ दूष-परानी की तरह एकाकार हुई जानावरणादि आठों कर्मों की अनन्तानन्त वर्गणाओं का जो पिण्ड है, वह कार्मणशरीर है। जनवदा जो कर्म का विकार—कार्य है, जानावरणादि आठ प्रकार के

१ औराक्य उ सत्य दिजाण मिस्स तु अपरिपुण्ण तं।

ओ लेण संपज्जोगो ओरालियमिस्स जोको सो॥

—गोमटसार, औककांड गाथा २३०

२ औदारिकमिश्र नरतिद्रव्यामयपर्याप्तावस्थाया केवलिसमुद्रधातावस्थाया वा।

—पंचमंग्रह, मलयग्निर्दीक्षा पृ. ५

विचित्र कर्मों से बना हुआ है और समस्त शरीरों का कारणभूत है, उसे कार्मणशरीर जानना चाहिए।<sup>१</sup>

यह कार्मणशरीर औदारिक आदि समस्त शरीरों का कारणभूत—बीजभूत है। क्योंकि भवप्रवृत्ति को वृद्धि के बीज—कार्मणशरीर का जब तक सद्भाव है, तब तक ही संसार और शरीर है, किन्तु जब मूल से इसका नाश हो जाता है, तब शेष शरीरों को उत्पत्ति सम्भव नहीं है और न संसार ही रहता है। यह कार्मणशरीर ही एक गति से हृषकी गति में जाने के लिए मूलभूत साधन है। अर्थात् वर्तमान भव का त्याग करने के पश्चात्—मरण होने पर जब भवान्तर का शरीर अहण करने के लिए जीव गमन करता है, तब कार्मणशरीर के योग से गमन करके उत्पत्तिस्थान को और जाता है और उस तरीन भव के शरीर को धारण करता है। इस प्रकार यह कार्मणशरीर आगामी मर्व कर्मों का प्रयोग—आधार, उत्पादक और त्रिकाल विषयक समस्त सांसारिक सुख-दुःखादि का बीज है।

कार्मणशरीर अवयवी है और जानशब्दशादि आठों कर्मों की उत्तर प्रकृतियों अवयव हैं। कार्मणशरीर और उत्तर प्रकृतियों का अवयव-अवयवीभाव सम्बन्ध है।

इस कार्मण शरीर के द्वारा होने वाले योग को कार्मणयोग कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि अन्य औदारिक आदि शरीरवर्गाओं के बिना सिफ़ कर्म से उत्पन्न हुए वौद्य (शक्ति) के निमित्त से आत्मप्रदेश-परित्यन्त रूप जो प्रयत्न है, उसे कार्मण कायदीग जानना चाहिये।

१ (क) कम्मविमारो कम्मणमट्टविहिचितकम्मनिष्कर्ण ।

—पञ्चसंग्रह, मध्यमिरिटीका पृ. ५

(ख) कर्मण निवृत्ति कार्मण, कर्मणि भव वा कार्मण, कर्मात्मक वा कार्मणनिति । —पञ्चसंग्रह, स्वीकारजडृति पृष्ठ ४

कार्यण काययोग से ही संसारी आत्मा नरणदेश को छोड़कर उत्पस्तिस्थान की ओर जाती है, इसको आधार बनाकर जिज्ञासु प्रश्न पूछता है कि—

**प्रश्न**—जब कार्यणशरीरयुक्त आत्मा एक गति से गत्यन्तर में जाती है, तब जाते-आते वह दृष्टिगोचर क्यों नहीं होती—दिखती क्यों नहीं है ?

**उत्तर**—आत्मा अचार्यूप है और कर्म पुद्गलों के अत्यन्त सूक्ष्म होने से वे चक्र आदि इन्द्रियों के विषयभूत नहीं होते हैं। जिससे एक भव से दूसरे भव में जाते हुए भी वाच में भवशरीर—भव के साथ सम्बन्ध दाला शरीर होने पर भी निकालते और प्रवेश करते समय सूक्ष्म होने से वह दिखलाई नहीं देती है, किन्तु दिखलाई न देने मात्र से उसका अभाव नहीं समझना चाहिए।<sup>१</sup>

इस प्रकार से चार मनोयोग, चार वचनयोग और सात काययोग, कुल पन्द्रह योगों का स्वरूप जानना चाहिये।

अब तैजस काययोग न मानने और योगों के क्रम विन्यास के बारे में विचार करते हैं।

जिज्ञासु तैजस काययोग न मानने के सम्बन्ध में वर्षनी जिज्ञासा प्रस्तुत करता है।

**प्रश्न**—बीदारिकादि शरीरों की तरह तैजस भी शरीर है, जो खाये हुए आहार-भोजन के पाक का कारण है और जिसके द्वारा विशिष्ट तपोविषेष से उत्पन्न हुई तेजोस्तथालिङ्घ वाले पुरुष की तेजोस्तथा का निकालना होता है। इस प्रकार तैजसशरीर के निमित्त से आत्मप्रदेश-परिस्पन्दरूप प्रयत्न होता है। अतः उसको काययोग

१ अंतराभवदेहोऽपि सूक्ष्मत्वान्तोपलभ्यते ।

तिष्ठकामन् वा प्रविष्ठक् वा नाभाद्योऽनीक्षणादपि ॥

के मेदों में यहाँ करके काययोग के आठ और योगों के कुल सोलह ऐद मानना चाहिए।

**उत्तर—** कार्मणशरीर के माथ सदैव अव्यभिचारी नियत सम्बन्ध वाला होने से कार्मण के ग्रहण द्वारा तैजसशरीर का भी ग्रहण कर लिया गया समझना चाहिए तथा तैजस और कार्मण यह दोनों अदिनाभावपूर्वक अनादिकाल से जीव के माथ सम्बद्ध हैं। अतः तैजस काययोग का पृथक् निर्देश नहीं किया है।<sup>१</sup> इसीलिये योगों के पन्द्रह ऐद बताये हैं।

### योगों का क्रम विन्यास

**प्रश्न—** योगों का यह कैसा क्रमविन्यास ? क्योंकि समस्त संसारी जीवों में सर्वप्रथम काययोग, तत्पश्चात् बचनयोग का विकास देखा जाता है और मनोयोग तो सभी जीवों में न होकर सिर्फ संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों में ही पाया जाता है। अतः इसी क्रम से योगों के मेदों का विन्यास करना चाहिए था। अर्थात् काययोग तो पञ्चेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के सभी जीवों में समान रूप से है, अतः पहले काययोग का निर्देश करना चाहिये था और बचनयोग द्वीन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक के जीवों में पाया जाता है, अतः काययोग के बाद बचनयोग का और मनोयोग तो मात्र संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों में होता है, अतः उसका सबसे अन्त में विन्यास करना चाहिये था। जिससे उनकी विशेषता जात होती। परन्तु ऐसा न करके पहले मनोयोग, पश्चात् बचनयोग और अन्त में काययोग के कथन करने का क्या कारण है ?

**उत्तर—** अलाक्षकत्वता के कारण तथा मनोयोग की प्रधानता बताने के लिये एवं आगम में इसी प्रकार का क्रम प्रसिद्ध होने से तथा योगनिरोधकाल में इसी प्रकार से निरोध किये जाने के

१ (क) सदा कार्मणम सहाव्यभिचारितया तस्य तदग्रहणेनैव गृहीतत्वात् ।

—पञ्चसंग्रह, प्रलयगिरिटीका पृ. ३

(ल) अनादिसम्बन्धे च ।

—तत्त्वार्थसूक्त २/४४

कारण वश्वानुपूर्वी से भन, वचन और काय योग का क्रमोपन्न्यास किया है।

मनोयोग आदि के उल्लेखों के क्रमविधान के विषय में यह हृष्टिकोण है—

प्रश्नान् मुख्य होने से पहले सत्य मनोयोग का, सत्यस्त्रात् उससे विपरीत, प्रतिपक्षी होने से असत्य मनोयोग का, अनन्तर उभयाश्रयी होने से सत्यमृष्या का और अन्त में विकलाविहीन मन का बोध कराने और आगम में हसी प्रकार से उल्लेख किये जाने के कारण असत्यामृष्या मनोयोग का विधान किया है। हसी प्रकार से वज्रनयोग के भेदों के क्रम के लिये भी समझना चाहिये।

काययोग के भेदों में पहले वैकिय का निर्देश चतुर्भूति के जीवों में सम्भव होने से किया है। सत्यस्त्रात् वैकिय से भी अधिक श्वेष होने से वैकिय के बाद आहारक योग का और भौषण्यात्मित का साधन होने से, वैकिय और आहारक से भी श्वेष तथा निष्ठात्मय वैकियशरीर और आहारकशरीर का आधार होने से उनके बाद औदात्किशरीर का क्रमविधान किया है और कार्यण काययोग के अन्त होने पर संसार का भी अन्त ही जाता है, यह बताने के लिए यहसे अन्त में कार्यण काययोग का निर्देश किया है।

इस प्रकार संशोगविषयक विवेचन जानना चाहिये।

### उदययोग-विचारणा

अब योग के अनन्तर क्रम प्राप्त उपयोग के भेदों का प्रतिवादन करते हैं—

अस्ताणतिगं नाणाणि, वंच इह अट्ठहा उ सागारे ।

अस्तकुरुदस्त्वाइउचउहुवओगो अणागारे ॥५॥

शब्दार्थ—अस्ताणतिग—(अज्ञानविक) लीन अज्ञान, नाणाणि—ज्ञान, वंच—प्राप्त, इह—इस प्रकार, अट्ठहा—आठ प्रकार का उ—और, सागारे—

साकारोपयोग, अचक्षुद्दण्डयोग—अचक्षुद्दण्डनादि, चतुर—चार प्रकार का—  
उपयोग—उपयोग, अणामारो—अनाकार ।

**गाथार्थ—** तीन अज्ञान और पाँच ज्ञान, इस प्रकार साकारोपयोग आठ प्रकार का है और अचक्षुद्दण्डनादि चार प्रकार का अनाकारोपयोग है ।

**विशेषार्थ—** गाथा में उपयोग के प्रकारों, उनके मेदों की संख्या और नाम बताये हैं ।

उपयोग का वक्षण पहले कहा जा चुका है । वैसस्यानुविष्टारी परिणामरूप यह उपयोग जीव के मिवाय अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता है । जीव की प्रबुन्नि में मर्देव अन्यरूप से उसका परिणमन होता रहता है । जीव का स्वरूप होने से उपयोग का दैसे तो कोई भेद नहीं किया जा सकता है, लेकिन वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है ।<sup>१</sup>

वे सामान्य और विशेष सर्वथा स्वतन्त्र धर्म नहीं हैं । क्योंकि जैसे सामान्य से सर्वथा भिन्न विशेष नाम का लोड पदार्थ नहीं है, वैसे ही अपने विशेष को छोड़कर केवल सामान्य भी कहीं पर नहीं पाया जाता है ।<sup>२</sup> किन्तु सामान्य से अनुविद्ध होकर ही विशेष की उपलब्धि होती है और विशेष से अनुस्यूत सामान्य की ।<sup>३</sup>

फिर भी इन दोनों में कथाचित् भेद है । क्योंकि सामान्य अन्य, निविकला लक्षण बाला है और विशेष व्यतिरेक, सविकल्प स्वरूप बाला । उपयोग के द्वारा वस्तु के दोनों धर्म प्रहण किये

१ सामान्यविशेषात्मक वस्तु ।

—आप्तपरीक्षा ६

२ निविशेष हि सामान्यं अनेत्वरविशेषत्वं ।  
सामान्यरहितवाल्च विशेषस्तदवदेष्व हि ॥

—आप्तपरीक्षा ६

३ ए सामान्यविविलो विसेसो वि अतिव, सामरण्णयुविद्धसेव विसेसस्तु वलं-  
भादो ।

—कषेत्रधर्महुङ्कृ २९

जाते हैं। जिससे उपयोग के दो मेन हो जाते हैं—(१) अनाकारोपयोग और (२) साकारोपयोग ।<sup>१</sup>

निविकल्प, सामान्य को ग्रहण करने वाले उपयोग को अनाकारोपयोग<sup>२</sup> और सविकल्प, विशेष को ग्रहण करने वाले उपयोग को साकारोपयोग कहते हैं ।<sup>३</sup>

साकार और अनाकार उपयोग के क्रमशः ज्ञान और दर्शन से अपर नाम हैं ।<sup>४</sup> ज्ञान और दर्शन को क्रमशः साकार और अनाकार रूप मानने का कारण यह है कि ज्ञान पदार्थों की विशेष-विशेष करके अष्टत् नाम, जाति, गण, लिंगादि धर्मों की ओर अभिमुख होकर जातता है, इसीलिए ज्ञान साकारोपयोगी है जबकि दर्शन साकार-विशेषस्मक पदार्थों के आकार-विशेष वो ग्रहण से करके केवल निविकल्प रूप से स्वरूप मात्र सामान्य का ग्रहण करने वाला होने से अनाकारो-

१ (क) सो दुकिहो जायक्षो सायारो चेवणायारो ।

—गोमटसार, जीवकांड गाथा ६७१

(ख) स दिविशोऽप्तचतुर्भेदा । —नर्तवार्यसूक्त २/६

२ (क) .....अनाकार, पूर्वोक्तव्यरूपाकारविवित उपयोगः ।

.... पञ्चसंग्रह, मलयगिरिटीका पृ. ७

(ख) यत्सामान्यमनाकारं । —पञ्चाण्यायी उ० ३६४

(ग) विसेसिङ्ग जं ग्रहण उवजोगो सो अणागरो ।

—गोमटसार, जीवकांड गाथा ६७४

३ (क) वाकारः प्रतिवस्तुनियतो ग्रहण परिणामः 'आगरो उ विसेसो' इति वचनात्, सह आकारेण वर्तत इति साकारः ।

—पञ्चसंग्रह, मलयगिरिटीका पृ. ७

(ख) सहाकारेण वर्तत इति साकारः यस्तु व्यवहायधारणरूपो विशेषज्ञानमिति । —पञ्चसंग्रह, म्बोपज्जवुति पृ. ५

(ग) साकारं तदिशेषभाक् । —पञ्चाण्यायी उ० ३६४

४ साकारं ज्ञानम् अनाकारं दर्शनमिति । —सर्वार्थसिद्धि २/६

दर्शकी है। अर्थात् ज्ञान यह घट है, यह पट है, इत्यादि रूप से प्रत्येक पदार्थ को उन-उनको विशेषताओं की मुख्यता से विकल्प करके पृथक्-पृथक् रूप में ग्रहण करता है और दर्शन पदार्थगत ज्ञानान्य अंश को ग्रहण करता है। यही उनके साकार और अवाकार कहलाने का कारण है।

उक्त कथन का सारांश यह है कि द्रव्य की स्वरूपव्यवस्था ही ज्ञान और दर्शन उपयोगों को क्रमशः साकार, अवाकार कहलाने की कारण है। क्योंकि वस्तु उत्पादन्यय-ध्रीव्यात्मक है। उत्पाद-ध्रीव्यात्मक अंश पर्याप्ति और ध्रीव्यात्मक अंश श्रिकाल अस्तित्व काला है। प्रतिक्षण परिवर्तनशील होने के कारण पृथक्-पृथक् रूपों को घारण करने वाली दोनों से पर्यायों का हृष्ण-न-काल ज्ञानाकार अवाकार होता है, जिससे वे विशेष कहलाती हैं। लेकिन ध्रीव्यात्मक रूप उन पर्यायों में सदैव अनुभूत रहता है। पर्यायों के परिवर्तित होने रहने पर भी वस्तु के अस्तित्व—सदात्मकता में किन्तु भी अन्तर नहीं पड़ता। न्यूनाधिकता नहीं आती। इसीलिये इस न्यूनाधिकता के न होने से वस्तु को अवाकार—ज्ञानान्यात्मक माना जाता है। उनमें से ज्ञान वस्तुगत विशेष प्रभाव—उत्पन्न-विनाशात्मक पर्यायों का बोध कराता है और दर्शन द्वारा वस्तु के सदृश्य ध्रीव्यात्मक ज्ञानान्यधर्म की प्रतीक्षा होती है। इसी कारण ज्ञान और दर्शन साकार-अवाकारोपयोग के अपर नाम कहे जाते हैं।

इस प्रकार उपयोग के प्रकारों का विचार करने के पश्चात् अब इन दोनों भेदों के नाम और संख्या पर विचार करते हैं।

### ज्ञानोपयोग के भेद

वस्तु के विशेषधर्मप्राप्ति ज्ञानोपयोग (साकारोपयोग) के आठ भेद हैं—‘अन्तर्गतिभूत ज्ञानाणि पञ्च’। वस्तु के पदार्थ बोध को ज्ञान कहते हैं और विपरीत ज्ञान को अज्ञान। अज्ञान अब्द में ‘अ’ मिथ्या—विपरीत अव्यक्ति वाचक है। उसके तीन भेद हैं—१ भूत-अज्ञान, २ धूत-अज्ञान,

३ विभंगज्ञान और ज्ञान के पांच भेद हैं—१ मतिज्ञान, २ अनुज्ञान, ३ अवधिज्ञान, ४ मन पर्यवज्ञान, ५ केवलज्ञान। इस प्रकार तीन ज्ञान और पांच ज्ञान, कुल मिलाकर ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं।<sup>१</sup>

ज्ञानोपयोग के उक्त आठ भेदों में अज्ञानशिक को प्रहृष्ट करने का कारण यह है कि मिथ्यात्म के उदय से ये विपरीत अभिप्राय वाले होते हैं, लेकिन जब ये तीनों ही सम्यकत्व के सद्भाव में विपरीत अभिनिवेश का अभाव होने से सम्भव होते हैं तो सम्यग्ज्ञान कहलाते हैं। सारांश यह है कि ज्ञान जीव का गुण है और गुण, गुणी के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं पाया जाता है। अज्ञान भी ज्ञान का रूप है लेकिन मिथ्यात्म के कारण विपरीत है, जो औपाधिक है और उस उपाधि के दूर होने पर सहज स्वाभाविक ज्ञान रूप में परिणत हो जाता है।

उक्त आठ प्रकार का ज्ञानोपयोग प्रत्यक्ष और परीक्षा के भेद से दो प्रकार का है।<sup>२</sup> परन्तु मिसापेक्ष पदार्थ सम्बन्धी विज्ञान को परीक्षा<sup>३</sup> और परन्तु मिसी के बिना साक्षात् आत्मा के हारा होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं।<sup>४</sup>

१ (क) सामारोक्षण्ये ण भते ! कतिविहे पण्णते ?

गोप्यम ! अद्भुविहे पण्णते । —पञ्चांगना, चद २६

(ख) पण्णं अद्भुवियष्टं मदि मुदि ओही अणाणणाणाणि ।

पण्णवज्ज्वलमस्ति पञ्चवलपरोऽनुभेदं च ॥

—पञ्चांगसंग्रह, गाथा ५

(ग) सर्वार्थमिद्धि २/६

२ पञ्चवलं च परीक्ष्य अणेण णाणे ति णं वैति ।

—गोप्यमसार औक्तकांड, गाथा २६२

३ जं परदो विष्णाणं तं तु परीक्ष्य ति भणिदमद्धेसु ।

—पञ्चवलमसार, गाथा ५८

४ (क) जदि केवलेण णादे हुवदि हि जीवेण पञ्चवलं ।

—पञ्चवलनसार, गाथा ५८

मति-श्रुत ज्ञान और मति-धूत अज्ञान ये चार ज्ञान पदार्थ को ज्ञानने से पर-मिमिसों की अपेक्षा बाले होने से परोक्ष हैं तथा अवधिः, मनःपर्यव और केवलज्ञान तथा विभेदज्ञान प्रत्यक्ष हैं। इनमें भी अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और विभेदज्ञान मूर्त पदार्थों की ज्ञानने बाले होने से देशप्रत्यक्ष हैं तथा मूर्त-अमूर्त सभी श्रिकालवर्ती पदार्थों को ज्ञानने बाला होने से केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष कहलाता है।

अब ज्ञानोपदेश के उक्त आठ भेदों का सरलता से बोध कराने के लिये पहले पांच ज्ञानों के लक्षणों का विचार करते हैं और इन्हीं के द्वितीय प्रसंग तीन अज्ञानों के लक्षणों का भी उल्लेख किया जायेगा।

**अतिज्ञान—** 'मन् अवबोधे' अर्थात् मन् धातु ज्ञानने के अर्थ में प्रयुक्त होती है। अतः मनन करना, ज्ञानना, उसे मति कहते हैं। अथवा पांच इन्द्रियों और मन के द्वारा जो नियत वस्तु का बोध होता है, उसे मति कहते हैं। अर्थात् जिस योग्य देश में विद्यमान विषय को इन्द्रियों ज्ञान सकें, उस स्थान में रहे हुए विषय का पांच इन्द्रियों और मन स्वयं साधन के द्वारा जो बोध होता है, उसे मतिज्ञान कहते हैं।<sup>१</sup>

मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अप्रिनिबोध, ये सभी मतिज्ञान के नामान्तर हैं।<sup>२</sup>

(ब) अक्षोति व्याप्तोति ज्ञानातीत्यक्ष आत्मा । तपेव……प्रतिनिष्ठते  
प्रत्यक्षस् । —सर्वार्थसिद्धि १/१२

१ मनने मति: धर्मा मन्यते उद्विद्यमनोद्वारेण नियतं वस्तु एविद्युत्त्वतेऽन्यैति  
मति, धीर्घदेशात्प्रस्थितवस्तुविषय उद्विद्यमनोनिमित्तोऽवामविषयः,  
मतिष्वासौ ज्ञानं च मतिज्ञानम् ।

—पञ्चसंश्लेष्म भूतविगिर्दीका, पृ. ३

२ मति: स्मृति: संज्ञा चिन्ता अप्रिनिबोध इत्यनवृत्तरम् ।

—तत्त्वार्थसुल १/१३

**श्रुतज्ञान—‘अवणं श्रुतं’—श्रवण करना— सुनना, यह श्रृत है। वाच्य-वाचकभाव के सम्बन्धपूर्वक शब्दसम्बन्धी अर्थ को जानने में हेतुश्रृत ज्ञानविशेष श्रुतज्ञान कहलाता है।** जलधारण आदि अर्थक्रिया करने में समर्थ अमुक प्रकार की आकृति वाली वस्तु घट शब्द द्वारा वाच्य है—इत्यादि रूप से जिसमें समानपरिणाम प्रधान रूप से है, इस प्रकार घट और अर्थ की विचारणा का अनुसरण करके होने वाला इन्द्रिय और मनोनियितक बोध श्रुतज्ञान है।<sup>१</sup> अथवा मतिज्ञान के अनन्तर होने वाला और शब्द तथा अर्थ की पर्यालोचना जिसमें हो, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।<sup>२</sup> जैसे कि घट शब्द को सुनकर और आँख से देखने के बाद उसके बाने वाले, रंग, रूप आदि सम्बन्धी भिन्न-भिन्न विषयों का विचार श्रुतज्ञान द्वारा किया जाता है।

**अवधिज्ञान—‘अव’ शब्द अधः (नीचे) अर्थ का वाचक है। अतः ‘ब्रह्मोज्यो विस्तृतं वस्तु धीयते परिचित्वाते अनेन इत्यवधिः’—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना जिस ज्ञान के द्वारा आत्मा नीचे-नीचे विस्तार वाली वस्तु जान सके, वह अवधिज्ञान है।<sup>३</sup> अथवा अवधि शब्द का अर्थ पर्यावार भी होता है। अवधिज्ञान रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष करने की योग्यता वाला है, अरूपी को प्रहण नहीं करता है, यही**

१ श्रवण श्रुतं वाच्यवाचकभावात् तस्मीकारेण शब्दसंस्कृष्टार्थप्रहृष्टहेतुरूप-लविष्यविशेषः। —पञ्चवंशह मलयगिरिटीका, पृ. ६

२ .....शब्दार्थपर्यालोकनानुसारी डायंड्रियमनोनियितो ज्ञानविशेषः, श्रुतं च तद्ग्राह्यं च श्रुतज्ञानम्। —पञ्चमंशह मलयगिरिटीका, पृ. ६

३ अस्थादो अत्यंतश्रुत्वलभूतं भण्डि सृदणाणः  
आभिगिद्वौद्विष्यपुर्वं.....

—गोमयटकार जीवकांड, गाथा ३१५

४ यह कथन वैभानिक देवों की अपेक्षा समझना चाहिए। वर्णोक्ति वे नीचे-नीचे अधिक-अधिक जानते हैं, किन्तु ऊपर तो अपने विभान की छवजा तक ही जानते हैं। —समादक

उसकी मर्यादा है। अतः इसे द्रव्य की ही जातनेका मर्यादा वाला आत्मा की जो प्रत्यक्षज्ञान हीता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं।<sup>१</sup> अथवा बाह्य अर्थ को साक्षात् करने वाले आत्माके व्यापार को अवधिज्ञान कहते हैं।<sup>२</sup>

ये तीनों ज्ञान—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान जब मिथ्यात्मपीड़ि के रूप से अनुभित होते हैं, तब वस्तुस्वरूप को यथार्थरूप से न जानने वाले होने के कारण अनुक्रम से मति-ज्ञान, श्रुत-ज्ञान और विभंगज्ञान कहताते हैं।<sup>३</sup> विभंगज्ञान में 'विश्व' शब्द विपरीत अर्थ का वाचक है। अतः जिसके द्वारा इसी द्रव्य का विपरीत खण्ड—बोध होता है, वह विभंगज्ञान कहताता है।<sup>४</sup> यह ज्ञान अवधिज्ञान से उलटा है।

**मनःपर्यवेक्षनम्**—‘मन’, ‘परि’ और ‘अव’ इन तीन का संयोगज रूप मनःपर्यवेक्षन है। इनमें से ‘परि’ शब्द सर्वथा अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, ‘अवनं अवः’—ज्ञानना, ‘मनसि मनसो वा पर्यवः मनःपर्यवः’—मन के भावों का सर्वथा रूप से जो ज्ञान होता है, उसे मनःपर्यवेक्षन कहते हैं। अर्थात् जिसके द्वारा ढाई ढोप में रहे हुए संज्ञा पञ्चेन्द्रिय जीवों के मनोगत भावों, विचारों को जाना जा सके, उसे मनःपर्यवेक्षन कहते हैं। अथवा संयुक्तया मन को जो जाने वह मनःपर्यवेक्षन

१ (क) यद्या अवधिर्मर्यादा रूपिष्ठवेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा, तदुपलक्षितं ज्ञानमध्यवधिः, अवधिव्यासौ ज्ञानं न अवधिज्ञानम्।

—पञ्चसंग्रह भस्यगिरि टीका, पृ. ५

(ख) रूपिष्ठवधे।

—तत्त्वार्थसूत्र १/२८

२ यद्या अवधानम् आत्मनोऽर्थसाक्षात्करणव्यापारोऽवधिः अवधिव्यासौ ज्ञानं अवधिज्ञानम्।

—मन्दीरसूत्र टीका

३ मतिश्रुतावधयो विषयवश्च।

—तत्त्वार्थसूत्र १/३२

४ विभंगमति विपरीतो भङ्गः परिच्छिप्तिप्रकारो वस्य तद् किञ्चङ्गम्।

—पञ्चसंग्रह भस्यगिरि टीका, पृ. ६

अथवा मन की परमियो—धर्म—बाह्यवस्तु के चिन्तन करने के प्रकार का विचार करने पर मनोवर्गणायें विशिष्ट आकार रूप में परिणत होती है, उनका जो ज्ञान है, वह मनोपर्यायज्ञान कहलाता है।

केवलज्ञान—केवल अर्थात् एक। अतः एक जो ज्ञान वह केवलज्ञान है। एक होने का कारण यह है कि यह ज्ञान मति आदि कायोपशमिक ज्ञाननिरपेक्ष है। जैसे यि वार्ता में है—“एटुमि छाद्यत्विद्या ज्ञाने” १ मत्यादि छाद्यस्थिक ज्ञानों के नष्ट होने पर केवलज्ञान होता है। अथवा केवल अर्थात् शुद्ध। अतः पूर्ण ज्ञान की आवश करने वाले केवलज्ञान कलाक का सर्वथा नाश होने से शुद्ध जो ज्ञान है, वह केवल-ज्ञान है। अथवा केवल अर्थात् सम्पूर्ण। अतः केवलज्ञानावरण का सर्वथा अय होने से सम्पूर्णरूप में जो उत्पन्न होता है, वह केवलज्ञान है। अथवा केवल अर्थात् असाधारण। अतः उसके सदृश दूसरा ज्ञान न होने से जो असाधारण ज्ञान है, वह केवलज्ञान है। अथवा केवल अर्थात् अनन्त। अनन्त ज्ञेय वस्तुओं की जानने वाला होने से अनन्त जो ज्ञान है, वह केवलज्ञान है।<sup>२</sup>

१ आवश्यकनिर्युक्ति, गत्या ५३६

२ (क) शुद्ध वा केवलम्, लदावरणमनकलक्त्विगमात्। सकलं वा केवलम्,  
प्रयग्नल एकाऽप्तेषतदावरणविगमलः सम्पूर्णित्पतोः। असाधारणं  
वा केवलं, अनन्यसदृशत्वात्। अनन्तं वा केवलं, ज्ञेयाग्रन्तत्वात्।  
केवलं च लंदज्ञानं च केवलज्ञानम्।

—पंचसंश्लेष्मलयगिरिटीका, पृ. ७

(ख) केवलमसहायसंकृतीयं ज्ञानं केवलज्ञानमिति।

—पंचसंश्लेष्मस्वेषज्ञवृत्ति, पृ. ६

(ग) संपूर्णं तु समर्गं केवलमसवत्स सञ्चभावग्यं।  
सीयोलोद्वितिमिर्द केवलज्ञानं मुण्डम्ब्यं ॥

—गोमटसार जीवकोड, गत्या ४६०

सारांश यह कि जो ज्ञान के बल, असदृश्य और अद्वितीय ही, उसे केवल ज्ञान कहते हैं।

ये पांच ज्ञान और तीन अज्ञान, साकारोपयोग (ज्ञानोपयोग) के आठ भेद हैं।

### दर्शनोपयोग के भेदों के लक्षण

साकारोपयोग (ज्ञानोपयोग) के आठ भेदों के लक्षणों का निर्देश करने के पश्चात् अब दर्शनोपयोग (अनाकारोपयोग) के भेद और उनके लक्षण बताते हैं।

दर्शनोपयोग के चार भेद हैं—१. अचक्षुदर्शन २. चक्षुदर्शन ३. अवच्छिदर्शन ४. केवलदर्शन।<sup>१</sup>

नाम आति, लिङ आदि विशेषों का विद्या किये बिना पदार्थ का जो सामान्य ज्ञान होता है, उसे दर्शन कहते हैं।<sup>२</sup>

अतः चक्षु के सिवाय शेष हम्मियों और मन से अपने-अपने विषय का जो सामान्य ज्ञान होता है, उसे अचक्षुदर्शन कहते हैं और चक्षुहम्मिय के द्वारा अपने विषयमूल पदार्थ का जो सामान्य ज्ञान हो, वह चक्षुदर्शन है।<sup>३</sup>

१ चक्षु अचक्षु ओही इसणमध्यकेवलं जेयं । —द्रश्यसंग्रह, गाथा ४

२ (क) जो सामण्डे महाणं भावाणं षेव कट्टुवायात् ।  
अविसेसिक्षण अट्ठे इसणमिदि अण्डे मामाए ॥ —दि. गीतसंग्रह १/१३८

(ख) भावाणं सामण्डविसेसयार्थं सल्लवमेलं जं ।

बण्डणहीणमहाणं जीवेण य इसणं होहि ॥

—गोम्भटसार, जीवकोड, गाथा ४८२

३ (क) चक्षूण जं पयासह दीसह तं चक्षुदसणं देति ।

सेसिदिध्यप्ययासो यायवो सो अचक्षुति ॥

—गोम्भटसार, जीवकोड, ४८३

(क्रमसः)

पाँच इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना पर्यादा में रहे हुए रूपी पदार्थों का जो सामान्य ज्ञान अर्थात् उनके सामान्य ग्रंथ का प्रहण हो, वह अवधिदर्शन है।<sup>१</sup>

लोक तथा अल्लीक में रहे हुए अमस्त रूपों-अरूपी पदार्थों का जो सामान्य लोधि, वह केवल दर्शन कहलाता है।<sup>२</sup>

दर्शनोपयोग के उक्त चार भेदों में से अचक्षु, चक्षु और अवधि दर्शन का अंतर्गत कारण अपने-अपने दर्शनावरणकर्म का क्षयोपशम और केवल दर्शन का कारण केवल दर्शनावरण कर्म का क्षय है।

दर्शनोपयोग के अचक्षु-दर्शन आदि चार भेद एवं उनमें पर जिजासु प्रश्न पूछता है—

**प्रश्न—**इन्द्रिय और मन द्वारा होने वाले पदार्थ के सामान्यबोध को संक्षेप में इन्द्रियदर्शन कहकर अवधि तथा केवल दर्शन, इस प्रकार दर्शनरूप अनाकारोपयोग के तीन भेद कहना युक्तिसंगत है। यदि विस्तार से ही भेद बताना इष्ट है तो स्पष्टीभ आदि पाँच इन्द्रियों और मन द्वारा होने वाले पदार्थ के सामान्यबोध को १ स्पष्टीनेन्द्रिय-दर्शन, २ रसनेन्द्रियदर्शन, ३ ग्राणेन्द्रियदर्शन, ४ चक्षुरिन्द्रियदर्शन ५ शोत्रनिंद्रियदर्शन और ६ मनोदर्शन कहकर अवधि और केवल दर्शन सहित दर्शनोपयोग के आठ भेद बताना चाहिये। फिर दर्शनोपयोग के चार भेद ही क्यों बतलाये हैं?

**उत्तर—**लोकव्यवहार में चक्षु की प्रधानता होने से उसके द्वारा

(ब) तत्र अचक्षु चक्षुर्बंजेषेवेन्द्रियमनोभिर्दर्शनं स्वस्यविषये सामान्यप्रहण  
चक्षुर्दर्शनम्। चक्षुर्दर्शनं रूप सामान्यप्रहणं चक्षुर्दर्शनम्।

—पंचसंग्रह भलयगिरिटीका, पृ. ७

१ रूपिसामान्यप्रहणमवधिदर्शनम्।

—पंचसंग्रह भलयगिरिटीका, पृ. ७

२ सकलजगद्माविवस्तुसामान्यपरिच्छेदरूपं दर्शनं केवल दर्शनं।

—पंचसंग्रह भलयगिरिटीका, पृ. ७

होने वाले सामाज्यबोध को चक्रुदर्शन कहकर ऐसे इन्द्रियों तथा मन द्वारा होने वाले सामाज्यबोध का विस्तारन करके लाभव के लिये पृथक्-पृथक् दर्शन न बताकर अचक्षुदर्शन में उनका समझेण कर लिया गया है। जिससे दर्शनोपयोग के चार भेद ही मानना युक्ति-संगत है।

एतद्विषयक विशेष विवेचन प्रथम कर्मशब्द गाथा १० के टबा में किया गया है।

इस प्रकार दर्शनोपयोग के चार भेद और उनके लक्षण जानना चाहिये।<sup>१</sup>

### उपयोगों का क्रमविन्यास

साकारोपयोग के पश्चात् अनाकारोपयोग का क्रमविन्यास प्रधान-

१ चक्रुदर्शन आदि केवल दर्शन पर्यावरण दर्शन के चार भेद प्रसिद्ध हैं। मनःपर्यायदर्शन नहीं मानने का कारण यह है कि मनःपर्यायज्ञान अवशिज्ञान की तरह स्वभूतेन विषयों को नहीं जानता है, किन्तु प्रत्यक्षीय मनविषयाली से जानता है। पर्याप्ति मन अलील व अनागल अर्थों का विचार, चिन्तन तो करता है, लेकिन देखता नहीं। इसी तरह मनःपर्यायज्ञानी भी भूत और भविक्षय को जानता नहीं है किन्तु देखता नहीं। वह वर्तमान भी मन को विषय-विशेषज्ञाकार से जानता है, जब सामाज्यावलोकनपूर्वक प्रवृत्ति न होने से मनःपर्यायदर्शन नहीं माना जाता है। परन्तु किन्हीं-किन्हीं आधारों ने मनःपर्यायदर्शन को भी स्वीकार किया है—‘केचिल्लमन्यन्ते प्रश्नापनायां मनःपर्यायज्ञामे दर्शनतापद्यते’ (तत्त्वार्थज्ञाय १/२४ की दीक्षा)

यही दृष्टि श्रुतदर्शन न मानने के लिये भी समझना चाहिये। व्योक्ति श्रुतज्ञान पूर्वक होता है तथा श्रुतज्ञान का व्यापार ज्ञात्य पदार्थ है, अंतरंग नहीं; जबकि दर्शन का विषय अंतरंग पदार्थ है। इसलिये श्रुतज्ञान के पश्चले दर्शन नहीं होने से श्रुतदर्शन को पृथक् से मानने की आवश्यकता नहीं रहती है।

प्रधान की विवक्षा से किया गया है। अर्थात् प्रधान होने से पहले साकारोपयोग का और उसके बाद अप्रधानता के कारण अनाकारोपयोग का क्रम उपन्यास किया है<sup>१</sup> तथा साकारोपयोग के आठ भेदों में प्रथम अज्ञान के भेदों का निर्देश यह बताने के लिए किया है कि सभी जीवों को मिथ्यात्व का सद्वाद रहने में, पहले अज्ञान होता है और उसके बाद सम्यक्त्व प्राप्त होने पर वह ज्ञान कहलाता है।<sup>२</sup> दर्शनोपयोग के भेदों में अनशुदर्शन का प्रथम प्रतिविधान करने का कारण यह है कि वह तभी जीवों में सामान्यता से तापा जाता है और उसके परमात्मदावान रूपों का अनशुदर्शन होते हैं तब अनशुदर्शन आदि दर्शनोपयोगों की प्रवृत्ति होती है।

इस प्रकार से संक्षेप में उपयोग के भेदों का स्वरूप समझना चाहिये।

### जीवस्थान, मार्गणस्थान, मुण्डस्थान के लक्षण

धीम और उपयोग के भेदों का निष्पाण करने के पश्चात् अब योगीपयोगमांगणा के विवेचन की रागरेखा के अनुसार जीवस्थानों, मार्गणस्थानों श्रीम मुण्डस्थानों में इनका प्रतिविधान करना संगत है। लेकिन इसके पूर्व जीवस्थान आदि तीनों का स्वरूप समझना आवश्यक होने से संक्षेप में उनके लक्षण बतलाते हैं। जो इस प्रकार है—

**जीवस्थान**—जो जीता है, जीता था और जीयेगा, इस प्रकार के ऐकालिक जीवनगुण वाले को जीव कहते हैं।<sup>३</sup>

१ प्रधानत्वात् साकारोपयोगः प्रथममुक्तः, तदनन्तरभनाव ऽरोपयोगोऽप्रधान-स्वाद्। —पञ्चसंख्य स्वोपज्ञवृत्ति, पृ. ६

२ अशानानि पूर्वं भवन्ति पश्चाद् शानानीन्यनीकारणेन पूर्वंभजानानामुपन्यासः पश्चात् ज्ञानानां। —पञ्चसंख्य स्वोपज्ञवृत्ति, पृ. ६

३ .....किञ्चु कलेयु जीवनानुभवमात् 'जीवति, अजीवीत् जीविक्यति' इति वा जीवः। —सप्तवर्षराष्ट्रातिक १/४

जीव को जीवित रहने के आधार हैं—द्रव्यप्राण और भावप्राण। इन्द्रिय, बल, आःशु और श्वासोच्छ्वास, ये द्रव्यप्राण हैं और ज्ञान, दर्शन, चैतन्य आदि भावप्राण कहलाते हैं। अतः जीव या जलस्थान वह हूँगा कि जो द्रव्य और भाव प्राणों से जीवित है, जीवित था और जीवित रहेगा, वह जीव है।<sup>१</sup>

जीव अनन्त है और जीवत्व की कल्पना सभी जीवों का उद्देश्य एक जैसा है। लेकिन जीवों के दो प्रकार हैं—संसारी और मुक्त। जन्म-मरणरूप संसार में यतिभ्रमण करने वाले कर्मबद्ध जीव संसारी और निषेधरूप से कर्मविरल का द्वय करके आत्मस्वरूप में अवस्थित जीव मुक्त कहलाते हैं। इस प्रकार कर्मसहित और कर्मरहित अवस्था की दृष्टि से जीवों के ये भेद हैं।

संसारी जीव भी अनन्त हैं और मुक्त जीव भी अनन्त हैं। इन दोनों प्रकार के जीवों में चैतन्यरूप भावप्राण तो समान रूप से रहते हैं। लेकिन संसारी जीव ज्ञान, दर्शन आदि भावप्राणों के साथ यथायोग्य इन्द्रिय आदि द्रव्यप्राणों सहित हैं और मुक्त जीवों में सिर्फ़ ज्ञान, दर्शन आदि मुणात्मक भावप्राण होते हैं। जब तक इन्द्रिय आदि कर्मजन्य द्रव्यप्राण हैं और जीव कर्मबद्ध है, तब तक वे यथायोग्य इन्द्रियों आदि से मुक्त हैं और कर्ममुक्त हो जाते पर उनमें सिर्फ़ ज्ञान, दर्शन आदि सूप चैतन्यपरिणाम—भावप्राण रहते हैं।

१ स्पर्शम्, रसम् आदि पांच इन्द्रिय, मन्, वचन और काय ये तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आःशु, कुल मिलाकर वस द्रव्यप्राण होते हैं—

पञ्च त्रि इन्द्रियपाणा मणवचिकारोमु लिङ्गं वक्तव्याणा ।

आःशापाणापाणा आउगपाणेण होति वस पाणा ॥

—गोमटसार जीवकांड, गत्ता १२६

२ तिकाले चतुपाणा इन्द्रियबलमात्तुअणपाणो य ।

कवहारा सो जीवो मिल्लयपथदो दु चेदणा जस्त ॥

—द्रव्यसंसह, गत्ता ३

मुक्त जीवों के निवर्कर्म होने से उनमें किसी प्रकार का मेद नहीं है। सभी स्थानों से परिपूर्ण और समान हैं, किन्तु संसारी जीवों के कर्म-सहित होने से उनमें गति, जाति, शरीर आदि-आदि की अपेक्षाओं से अनेक प्रकार की विभिन्नतायें, विविधतायें और विचित्रतायें दिखाई देती हैं। ये कर्मजन्य अवस्थायें अनन्त हैं, जिनका एक-एक जीव की अपेक्षा ज्ञान करना छद्मस्थ व्यक्ति के लिए सहज नहीं है, किन्तु जीवस्थान द्वारा उनका स्पष्टरूप से बोध होता है।

सर्वज्ञ केवलज्ञानी भगवन्तों ने सभस्त संसारी जीवों का एकेन्द्रिय जाति, द्विन्द्रिय जाति आदि के रूप में विभागानुसार वर्गीकरण करके लौटहु वर्ग बताए हैं। उनमें ताहि लंबागी जीवों का समावेश हो जाता है।

संसारी जीवों के इन वर्गों अथवा सूक्ष्म, बादर एकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय आदि रूप में होने वाले प्रकारों—मेदों को जीवस्थान कहते हैं।

कर्मसाहित्य में प्रयुक्त जीवस्थान शब्द के लिये आगमों में ‘भूतप्राप्त’<sup>१</sup> और दिग्म्बर ग्रन्थों में ‘जीवसमाप्त’<sup>२</sup> शब्द का प्रयोग किया है। ऐकिन शब्दप्रयोग के सिवाय अर्थ और मेदों में अन्तर नहीं है।

**मार्गिचास्थान**—मार्गिणा का अर्थ है मधेषणा, धीमासा, विचारणा,

१ समवायांग १४/१

२ ऐहि अण्डा जीवा पञ्जसे बहुविहा वित्तज्ञादी।

ते पुण संगहितथा जीवसमाप्ता ति विष्णेय। ॥

—गोमटसार जीवकाँड, गाथा ७०

—दि. पंचमश्लह, १/३२

—जिन द्वर्मविशेषों के द्वारा नाना जीव और उनकी नाना प्रकार की जातियाँ जानी जाती हैं, उन प्रकारों का संग्रह करने वाले द्वर्मविशेषों को जीवसमाप्त जानना चाहिये।

अनुसन्धान आदि। दृहा, कृहा, अपोहा, मार्गणा, मवेषणा और सीमांसा, ये एकाथंवाचक नाम हैं। मार्गणा के स्थानों को मार्गणास्थान कहते हैं। अर्थात् जिस प्रकार से प्रवचन में देखे गये हैं, उसी प्रकार से जीवादि पदार्थों का जिन भावों के द्वारा अथवा जिन पर्यायों में विचार किया जाये, उन्हें मार्गणा कहते हैं । ऐसामणाओं में जीवों की बास्ति, इन्द्रिय, शरीर आदि की विचारणा के साथ उनके आन्तरिक भावों, गुणस्थानों, योग, उपयोग, जीवस्थानों आदि का विचार किया जाता है।

**गुणस्थान**—ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि जीव के स्वभाव की गुण और उनके स्थान अथवा शुद्धि-अशुद्धि कुल मूणों के स्वरूपविशेष को गुणस्थान कहते हैं। अथवा दर्शनमोहनीय आदि कर्मों के उदय, उपशम आदि अवस्थाओं के होने पर उत्पन्न होने वाले जिन भावों से जीव लक्षित होते हैं, उन भावों को गुणस्थान कहते हैं।

जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान यथापि ये तीनों संसारी जीवों की अवस्थाओं के दर्शक हैं, तथापि इनमें यह अन्तर है कि—

**जीवस्थान** जातिनामकर्म और पर्याप्त-अपर्याप्तनामकर्म के औदयिकभाव हैं।

**मार्गणास्थान** नामकर्म, मोहनीयकर्म, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वेदनीय कर्म के औदयिक आदि भावरूप तथा पारिज्ञानिक भावरूप हैं।

**गुणस्थान** मात्र मोहनीयकर्म के औदयिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक भावरूप तथा योग के भावभाव रूप हैं।

१ (क) जाहि त जासु व जीवा भनिज्जते जहा तहा दिट्ठ।

ताओ चोदस जाणे सुवाणाणे भगणा हीनि ॥

—मोर्मटसार, जीवकांड, गत्या १३०

(ख) मोर्मटसार जीवकांड, गत्या ३ में 'विस्तार' और 'अदेश' ये दो शब्द भार्गणा के नामान्तर कहे हैं।

मार्गणास्थान अहंभावी और गुणस्थान क्रमधारी हैं। गुणस्थान एक के पश्चात् दूसरा होता है। एक का दूसरे से सम्बन्ध नहीं है। लेकिन गुणस्थानों का क्रम बदलने पर भी मार्गणा के चौदह भेदों में से कुछ एक मार्गणाओं की छोड़कर प्रथा सभी मार्गणायें एक जीव में एक साथ पाई जा सकती हैं।

**जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान के चौदह-चौदह भेद होते हैं। जिनके नाम और उनके लक्षण यथास्थान आगे कहे जायेंगे। जीवस्थानों में योगप्रकल्पणा**

अब ग्रन्थकार आचार्य क्रमनिर्देशानुसार यहाँ जीवस्थानों में योगों का निरूपण करते हैं—

**विगलासम्भोपद्धत्तासु लक्षणि कायवद्योग।**

**सद्गेवि सन्निपद्धत्तासु सेसेसु कायोगे ॥६॥**

**शब्दार्थ—** विगलासम्भोपद्धत्तासु—विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पर्याप्तिकों में, सद्गेवि—प्राप्त होते हैं, कायवद्योग—काय और वक्तव्य योग, सन्निपद्धत्तासु—संज्ञी पर्याप्तिकों में, सेसेसु—शेष में, कायोगे—काययोग।

**गाथार्थ—** पर्याप्त विकलेन्द्रियों और असंज्ञी पर्याप्तियों में काय और वक्तव्य योग तथा संज्ञी पर्याप्तिकों में सभी योग होते हैं और शेष जीवस्थानों में काययोग ही होता है।

**विशेषार्थ—** गाथा में सामान्य से जीवस्थानों में योगों का निर्देश किया है।

यद्यपि ग्रन्थकार आचार्य ने स्वयं जीवस्थानों की संख्या और नामों का निर्देश आगे किया है लेकिन विशेष उपयोगी और आवधक होने से यहीं उनकी संख्या और नाम बतलाते हैं।

समस्त संसारी जीवों के अधिक-से-अधिक चौदह कर्ण हो सकते हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

१. सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्ति, २. सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्ति, ३. बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्ति, ४. बादर एकेन्द्रिय पर्याप्ति, ५. द्वीन्द्रिय अपर्याप्ति, ६. श्रीन्द्रिय अपर्याप्ति, ७. चतुर्न्द्रिय अपर्याप्ति, ८. चतुर्न्द्रिय पर्याप्ति, ९. चतुर्निद्रिय अपर्याप्ति, १०. चतुर्निद्रिय पर्याप्ति, ११. असंज्ञी पञ्चन्द्रिय अपर्याप्ति, १२. असंज्ञी पञ्चन्द्रिय पर्याप्ति, १३. संज्ञी पञ्चन्द्रिय अपर्याप्ति, १४. संज्ञी पञ्चन्द्रिय पर्याप्ति ।<sup>१</sup>

इन वर्गों की ऐसी विशेषता है कि संसारी जीवों के अनन्त हीने पर भी इन चौदह वर्गों में से किसी-न-किसी वर्ग में उनका समावेश हो जाता है ।

### जीवस्थान के भंडों का आधार

प्राप्त इन्द्रियों की भूल्यता से उक्त चौदह भेद बताये गये हैं । इन्द्रियापेक्षा संसारी जीवों की पाँच जातियाँ (प्रकार) हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, श्रीन्द्रिय, चतुर्निद्रिय और पञ्चन्द्रिय । जाति का अर्थ है तदभव-साहस्र्य लक्षणवाला सामाज्य ।<sup>२</sup> अर्थात् जिन जट्ठ के बोलने या सुनने से सभी समाज गुणधर्म वाले पदार्थों का ग्रहण हो जाये, उसे जाति कहते हैं । जैसे—मनुष्य, गाय, भैंस आदि बोलने और सुनने से सभी प्रकार के मनुष्यों, गायों, भैंसों आदि का ग्रहण हो जाता है, उसी प्रकार एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति आदि कहने से एक इन्द्रिय वाले, दो इन्द्रिय वाले आदि सभी जीवों का ग्रहण हो जाता है । जीवों में इस प्रकार के अव्याप्तिकारी साहस्र्य से प्रकाशने का बोध कराने का कारण जाति-नामकरण है ।

१ (क) द्रष्ट्यसंग्रह, ग्रन्था ११, १२ (ब) समवायांग, १४/१

(ग) गोम्यदत्तसार जीवकांड, ग्रन्था ७२

यि. पञ्चसंयुक्त में अग्रेकांड से जीवस्थानों के चौदह के अनिवार्य इक्षीस, तीस, बल्लीस, छत्तीस, अङ्गतीस, अङ्गतालीस, चउडन और तथावन भेद भी बतलाये हैं, जिनका विवरण परिशिष्ट में देखिये ।

२ तथ्य जाइ तदभवसारिक्षुलक्षण-सामर्थ्य ।

—ध्वना १/१, ३, २/१७/५

अपने-आपने विषय के ज्ञान और सेवन (प्रहण) करने में जो स्वतंत्र है, उसे इन्द्रिय कहते हैं।<sup>१</sup> जैसे नेत्र रूप का ज्ञान करने में स्वतंत्र है; किन्तु अन्य इन्द्रियों रूप को प्रहण नहीं कर सकती हैं। औ जिस इन्द्रिय का विषय होता है, वह उसी के द्वारा प्रहण किया जाता है। यही इन्द्रियों की स्वतंत्रता का अर्थ है।

इन्द्रियों के पाँच भेद हैं—१. स्पर्शन, २. रसन, ३. व्याण, ४. चक्र और ५. श्रोत्र।<sup>२</sup> ये पाँचों इन्द्रियों भी द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार की हैं।<sup>३</sup> द्रव्येन्द्रियों पौदगलिक होने से जड़ और भावेन्द्रियों चेतनागतिकी परिय त्रोने से भावरूप हैं। मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम वे उत्तम आत्मविशुद्धि अथवा उस विशुद्धि से उत्पन्न होने वाले उपयोगात्मक ज्ञान को भावेन्द्रिय महते हैं।<sup>४</sup> द्रव्येन्द्रियों शरीर, अंगोपांग और निर्माण तामकर्म से निपित होती हैं।

इन दोनों द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय के दो-दो भेद हैं। निरूप्ति और उपकरण ये द्रव्येन्द्रिय के दो भेद हैं। इन्द्रियों की आकार-रचना को निरूप्ति कहते हैं और यह भी बाह्य और अंतरंग के भेद से दो प्रकार

१ स्वेषो विषयः स्वविकल्यस्तत्र निष्ठचेतन निर्णयेन रतानीन्द्रियाणि ।

—धबला १/१, १, ४/१३५

२ (क) गोप्यमा ! पञ्चहन्तिका पण्णता ।

—प्रजापता, १५/१/१६१

(ख) तत्त्वार्थसूत्र २/१५

३ (क) प्रजापता, इन्द्रियपद १/५

(ख) तत्त्वार्थसूत्र २/२८

४ (क) गोप्यमा ! दुक्तिहा पण्णता । त जहा—क्षिविदिषा व भाविदिषा य ।

—प्रजापता, १५/१

(ख) तत्त्वार्थसूत्र २/१६

५ मदिआवरण्योदयमुत्थनिमुद्दी हु तजज्जीवो वा ।

भाविदिषं तु दद्वं देहमयज्ञेहस्तिष्ठं तु ।

—शोमदसार जीवकोङ्, गाया १५४

की हैं। इन्द्रियों की बाह्य आकार-रचना को बाह्य निवृत्ति और आन्तरिक आकार-रचना को आध्यात्म निवृत्ति कहते हैं। आध्यात्म निवृत्ति की विषय ग्रहण करने की शक्ति को उपकरणनिद्रय कहते हैं। उपकरणनिद्रय निवृत्ति का उपकार करती है, इसलिए इसके भी आध्यात्म और बाह्य, ये दो भेद ही जाते हैं। जैसे कि नेत्र इन्द्रिय में कुल्ज-शुक्ल मण्डल आध्यात्म उपकरण है तथा पक्ष, वरीनी आदि बाह्य उपकरण।

आवेन्द्रिय के लक्ष्य और उपयोग यह दो भेद होते हैं।<sup>१</sup> भलि-ज्ञानावरणकर्म के ध्योपशाम—चेतनाशक्ति की योग्यताविशेष को लक्ष्य-रूप तथा लक्ष्यरूप भावेन्द्रिय के अनुसार आत्मा की विषयग्रहण में होने वाली प्रवृत्ति को उपयोगरूप भावेन्द्रिय कहते हैं।

जीवों के एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, आदि पाँच भेद मानने का कारण द्रव्योन्दिर्य है। बाहर में प्रगट रूप से जितनी-जितनी इन्द्रियी दिव्यलाइ होती है, उनके आधार पर वे एकेन्द्रिय आदि भेद किये जाते हैं। जैसे कि एकेन्द्रिय जीवों में सिर्फ पहली स्थानेन्द्रिय होती है। इसीलिए उनको एकेन्द्रिय जीव कहते हैं और द्वीन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के जीवों में स्थानेन्द्रिय के अनन्तर क्रमः रसन, घ्राण, चक्षु, शोषण से उत्तरीतर एक-एक इन्द्रिय बढ़ती जाती है। लेकिन सभी संसारी जीवों में भावेन्द्रियों पाँचों होती हैं।

एकेन्द्रिय जीवों के पाँच प्रकार हैं—१. पृथ्वीकाय, २. अपृकाय, ३. तेजकाय, ४. वायुकाय, ५. बनस्पतिकाय।<sup>२</sup> इनके भाव एक स्थानेन्द्रिय होने से ये स्थावर कहलाते हैं और द्वीन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक के

१ (क) प्रश्नात्मना, २/१५

—सर्वार्थसूत्र २/१८

(ख) अङ्गकुपयोगी भावेन्द्रियम्।

२ (क) स्थानाग ५/३२३

—सर्वार्थसूत्र २/१९

(ख) पृथिव्यपतेऽबायुवनस्पतयः स्थानरा ।

जीव जैस कहलाते हैं।<sup>१</sup> पृथ्वीकाय आदि पांखों प्रकार के स्थावर—एकेन्द्रिय जीव की प्रकार के हैं—सूक्ष्म और बादर। किन्तु द्विन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुरन्द्रिय और पञ्चन्द्रिय जीवों में सूक्ष्म या बादर कृत भेद नहीं है। वे सभी बादर ही होते हैं। पञ्चन्द्रिय जीवों में कोई-कोई जीव मनसहित और कोई-कोई मनरहित होते हैं। जो पञ्चन्द्रिय जीव मनसहित हैं, उन्हें संज्ञी—समनस्क और मनरहित पञ्चन्द्रिय जीवों को असंज्ञी—असमनस्क कहते हैं।

### एकेन्द्रियों के सूक्ष्म, बादर भेद का कारण

एकेन्द्रियों के सूक्ष्म और बादर, यह दो भेद मानने का कारण यह है कि सूक्ष्म शरीर वाले एकेन्द्रिय जीव आँखों से तो नहीं देखे जा सकते हैं लेकिन इनका अस्तित्व ज्ञानगम्य है और बादर शरीर वाले एकेन्द्रिय जीव ज्ञानगम्य होने के साथ-साथ आँखों से भी दिखाई देते हैं। सूक्ष्म और बादर शरीर की प्राप्ति सूक्ष्म और बादर नामकर्म के उदय से होती है। सूक्ष्म नामकर्म के उदय से प्राप्त शरीर स्वर्य न किसी से रुकता है और न किसी को रोकता है। अर्थात् यह व्याघात से रहित है तथा अन्य जीवों के अनुप्रह या उपघात के अयोग्य होता है और वह प्रत्यक्षसिद्ध भी है। जैसे सूक्ष्म होने से अग्नि लोहे के गोले में प्रबिष्ट हो जाती है, उसी प्रकार सूक्ष्मनामकर्म के उदय से प्राप्त शरीर भी लोक के किसी भी प्रदेश में प्रबिष्ट हो सकता है।

अन्य को बाधा पहुँचाने वाले शरीर का निवर्तक बादरनामकर्म है। आँखों से दिखलाई देना, आँखों से देखा जा सके, अक्ष इन्द्रिय का विषय ही—यही बादर का वर्ण नहीं है। वयोंकि एक-एक बादरकाय वाले पृथ्वीकाय आदि का शरीर प्राप्त होने पर भी वह देखा नहीं जा सकता है। परन्तु बादरनामकर्म पृथ्वीकाय आदि जीवों में एक प्रकार के बादर परिणाम को उत्पन्न करता है, जिससे उनके शरीर

<sup>१</sup> (क) संसारसमावन्तेना तसे चेत्व शब्दरे चेत्व ।

—स्थानांग २/५७

(ख) तस्वार्थसूत्र २/१२

समुदाय में एक प्रकार की अभिव्यक्ति प्रकट हो जाती है और उससे वे दृष्टिगोचर होते हैं। बादरनामकर्म के कारण ही बादर जीवों का सूक्ष्म द्रव्यों के साथ चाल-प्रतिचाल आदि होता है।

बादर और सूक्ष्म का यह विचार अल्पाधिक अवगाहना या प्रदेशों की अपेक्षा नहीं समझना चाहिए। क्योंकि सूक्ष्म शरीर से भी असंख्यात् इन्द्रियों अवगाहना वाले और बादरनामकर्म के उदय से उत्पन्न हुए बादर शरीर की उपलब्धि होती है तथा उन्हें और कार्मण शरीर अनंत प्रदेशी हैं, किन्तु सघन और सूक्ष्म परिणाम वाले होने से इन्द्रियों द्वारा धारा नहीं होते हैं।

सूक्ष्म और बादर, वे दोनों विजिताकिनी प्रकृति हैं, लेकिन इनकी अभिव्यक्ति शरीर के पुद्योलों के माध्यम से होती है। जिसका विषेष स्पष्टीकरण आये किया जायेगा।

सारांश यह है कि बादरनामकर्म पृथ्वीकाल आदि जीवों में एक प्रकार के बादर परिणाम को उत्पन्न कर देता है। जिससे उनके शरीर में एक प्रकार की अभिव्यक्ति प्रकट हो जाती है और वे दृष्टिगोचर हो जाते हैं। चाल-प्रतिचाल आदि होने लगता है। जबकि सूक्ष्मनामकर्म पृथ्वीकाल आदि जीवों में इस प्रकार का सूक्ष्म परिणाम उत्पन्न करता है कि वे अनन्त शरीर एकत्रित हो जाने पर भी दृष्टिगोचर नहीं हो पाते हैं और व्याधातरहित हैं। कर्मसक्ति की विविच्छिन्नता का यह परिणाम है।

### पंचेन्द्रियों में संज्ञी, असंज्ञी चेद मानने का कारण

संसार में नरक, तिर्यक, मनुष्य और देव गति के रूप में विद्यमान समस्त जीवों में से तिर्यकगति के जीवों के अतिरिक्त शेष नारक, मनुष्य और देव पंचेन्द्रिय ही होते हैं। उन्हें स्पर्शन आदि श्रोत्र पर्यन्त पाचों इन्द्रियों होती हैं। लेकिन तिर्यक जीवों में किन्हीं को एक, किन्हीं को दो, तीन, चार या पाँच इन्द्रियों होती हैं। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरेन्द्रिय तक के जीवों में मन नहीं होने से असंज्ञी और पंचेन्द्रिय वाले

तिर्थों में से कोई मनसहित और कोई मनवहित होते हैं। इसीलिए पंचेन्द्रिय के संज्ञा और असंज्ञा की अपेक्षा दो प्रकार हो जाते हैं।

संज्ञा शब्द के तीन अर्थ हैं १—नामनिषेप, जो लोक-ध्यवहार के लिए प्रयोग में लाया जाता है, २—आहार, ध्य, मैथुन, परिग्रह की इच्छा, ३. धारणात्मक या उद्धापोहरूप विचारणात्मक ज्ञानविशेष। जीवों के संज्ञित्व और असंज्ञित्व के विचारप्रसंग में संज्ञा का अर्थ मानसिक क्रियाविशेष लिया जाता है। यह मानसिक क्रियाविशेष ज्ञानात्मक और अनुभवात्मक होती है। अतः ज्ञान और अनुभव ये संज्ञा के दो भेद हैं। अनुभवसंज्ञा सभी जीवों में पाई जाता है, अतः वह भी संज्ञी-असंज्ञी के उद्धवहार की नियामक नहीं है। किन्तु ज्ञानात्मक संज्ञा संज्ञी और असंज्ञी के भेद का कारण है। इसीलिए नोइन्द्रियावरणकर्म के क्षयोपशम या तज्जन्य ज्ञान को संज्ञा कहते हैं।<sup>१</sup> नोइन्द्रियावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर जीव मन के अवलंबन से शिक्षा, क्रिया, उपदेश और आलाप को ग्रहण करता है।

एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों में चेतन्य का विकास उत्तरोत्तर क्रमशः अन्तिक-अधिक है। अत्यन्त अल्प विकास वाले एकेन्द्रिय जीवों में अव्यक्त चेतनारूप ओष्ठ (सामान्य) ज्ञानसंज्ञा पाई जाती है। द्वीन्द्रिय से लेकर अतुरिन्द्रिय तक के जीवों में इष्टानिष्ट विषयों में प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा होती है। इस विकास में भूतकाल की स्मरणरूप ज्ञान लो होता है, लेकिन सुदीर्घ सूतकाल का नहीं। तीसरी ज्ञानसंज्ञा दीर्घकालोपदेशिकी है, जिसमें सुदीर्घ सूत के अनुभवों का स्मरण और वर्तमान के कर्तव्य का निष्पत्ति क्रिया जाता है। देव, नारक, गर्भज मनुष्य-तिर्थों में यह संज्ञा

<sup>१</sup> नोइन्द्रियावरणखोक्तसम्बन्धीय तज्जन्यकीहण संष्णा।

पाई जाती है। चौथी ज्ञानसंज्ञा हृषित्वादोपदेशिकी है। इसमें विशिष्ट अतुर्जान विवक्षित है।<sup>१</sup>

उक्त चारों विभागों में से संज्ञी-च्यवहार की कारण दीर्घकालोपदेशिकी और हृषित्वादोपदेशिकी, यह दो ज्ञानसंज्ञायें हैं और ओष्ठ तथा हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा वाले जीव असंज्ञी हैं।<sup>२</sup>

इस प्रकार एकेन्द्रिय के सूक्ष्म और बादर तथा पञ्चेन्द्रिय के संज्ञी और असंज्ञी भेदों को लेकर एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक के जीवों के सात प्रकार ही जाते हैं। ये सातों प्रत्येक अपर्याप्त और पर्याप्त भी होते हैं।

अब इनके पर्याप्त और अपर्याप्त मानने के कारण को स्पष्ट करते हैं।

### पर्याप्त और अपर्याप्त की व्याख्या

पर्याप्तिनामकर्म के उदय वाले जीवों को पर्याप्त और अपर्याप्त-नामकर्म के उदय वाले जीवों को अपर्याप्त कहते हैं। पर्याप्तिनामकर्म के उदय से पर्याप्तियों की रक्षा होती है और अपर्याप्तिनामकर्म का उदय होने पर उनकी रक्षा नहीं होती है।

पर्याप्ति नाम शक्ति का है। अतः आहारादि पुद्गलों के ग्रहण और परिणमन में कारणभूत आत्मा की शक्तिविशेष की पर्याप्ति कहते हैं। यह शक्ति पुद्गलों के उपचय से प्राप्त होती है। तात्पर्य यह है कि उत्पत्तिस्थान में आये हुए जीवों ने जो पुद्गल ग्रहण किये हैं और प्रति समय दूसरे भी पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं, अथवा जो पुद्गल पहले ग्रहण किये हुए पुद्गलों के सम्बन्ध से उस रूप में परिणत होते

१. इन हेतुवादोपदेशिकी, दीर्घकालिकी और हृषित्वादोपदेशिकी संज्ञाओं का विचार विगम्भर शंखों में हृषित्वादोपदेशिकी नहीं होता है।

२. विशेषावश्यकभाष्यगत संज्ञी-असंज्ञी-सम्बन्धी विवेचन परिशिष्ट में देखिये।

जाते हैं। उन पुद्गलों की खल-रसादि रूप में परिणत करने की कारण-भूत शक्तिविशेष पर्याप्ति कहलाती है। जैसे कि पेट के अन्दर रहे हुए पुद्गलधर्मों का आहार के पुद्गलों की खल-रसादि रूप में परिणत करने की शक्तिविशेष होती है।

गृहीत पुद्गलों का कार्य भिन्न-भिन्न होता है। अतः इस कार्यमेद से पर्याप्ति के निम्नलिखित छह मेद हो जाते हैं—

१. आहारपर्याप्ति, २. शरीरपर्याप्ति, ३. इन्द्रियपर्याप्ति, ४. प्राणापानपर्याप्ति, ५. भाषापर्याप्ति और ६. मनपर्याप्ति।<sup>१</sup>

१. जिस शक्ति के द्वारा आहु आहार को प्रहण करके खल-विष्टा, मूत्र और रस—सार पदार्थ के रूप में परिणत किया जाये, उसे 'आहारपर्याप्ति' कहते हैं।

२. जिस शक्ति के द्वारा रसरूप आहार की रस, रक्त, मांस, चौड़ी, हड्डी, मज्जा और बीर्य, इन सात धातुरूप परिणत किया जाये वह 'शरीरपर्याप्ति' है।

३. जिस शक्ति के द्वारा धातुरूप परिणाम को प्राप्त आहार इन्द्रियरूप परिणत हो, उसे 'इन्द्रियपर्याप्ति' कहते हैं।

४. जिस शक्ति के द्वारा उच्छ्रवासयोग्य वर्गणाओं में से पुद्गल-दलिकों को प्रहण करके उच्छ्रवास में परिणत कर और उनका अवलम्बन लेकर छोड़ा जाये, वह 'प्राणापानपर्याप्ति' है।

५. जिस शक्ति के द्वारा भाषायोग्य वर्गणाओं में से दलिकों को प्रहण करके भाषारूप परिणत कर और उनका अवलम्बन लेकर पुनः छोड़ना 'भाषापर्याप्ति' है।

६. जिस शक्ति के द्वारा मनोयोग्य वर्गणाओं के दलिकों को प्रहण

<sup>१</sup> आहारसरीरिक्य पञ्चसौ वाणपाण-भास-मणो ।

कर मन रूप से परिणत करके उनका अवलम्बन लकर छोड़ना 'अन्त-पर्याप्ति' है ।<sup>१</sup>

पर्याप्तियों के इन लह भेदों में से एकेन्द्रिय के आदि की ओर, विकलांगिक और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय में आदि की पाँच और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय में छहों पर्याप्तियाँ होती हैं ।<sup>२</sup>

यद्यपि उत्पत्ति के प्रथम समय से ही सभी जीव अपनी-अपनी योग्य पर्याप्तियों को युग्मत् प्रारम्भ करते हैं, लेकिन पूर्ण अनुकूल से करते हैं ।<sup>३</sup> सर्वप्रथम पहली आहारपर्याप्ति पूर्ण करते हैं, उसके बाद शरीरपर्याप्ति, तत्पश्चात् इन्द्रियपर्याप्ति, इस प्रकार अनुकूल से चौथी, पञ्चवीं और छठी पर्याप्ति पूर्ण करते हैं । आहारपर्याप्ति तो उत्पत्ति के प्रथम समय में पूर्ण होती है और ये चौथी पर्याप्तियाँ अनुकूल से अन्त मुँहूर्त काल में पूर्ण होती हैं । किन्तु सभी पर्याप्तियों को पूर्ण करने का काल अन्तमुँहूर्त है ।

यद्यपि आगे-आगे पर्याप्ति के पूर्ण होने में पूर्व-मूर्द्द की अपेक्षा कुछ अधिक-अधिक काल लगता है, तथापि वह अन्तमुँहूर्त प्रमाण ही है ।

१ प्रज्ञापनासूक्तटीका और तत्त्वार्थभाष्यगत पर्याप्तिसम्बन्धी व्याख्या का सारांश परिशिष्ट में देखिये ।

२ चत्तारि एव छत्पि य एग्मिदिय विश्व संनीतिः ॥

—बृहस्पतिहणी ३४६

—गोग्मटसार, जीवकांड, गाथा ११८

३ (क) पञ्जतीपद्धत्वर्थं जुग्मते तु क्षेण होदि णिष्ठुष्यते ।

—गोग्मटसार, जीवकांड, गाथा ११९

(ख) उत्पत्तिप्रथमसमय एव चैता यथायर्थं सर्वा अपि युग्मनिलिपादयितु-भारध्यन्ते, क्षेण च निष्ठामुपयांति ।

—ईचसंहह, मलयगिरिटीका, पृ. ८

क्योंकि असंख्यात के असंख्यात भेद होने से असंख्यात समयप्रभाव अन्तमुँहूर्त के भी असंख्यात भेद होते हैं।<sup>१</sup>

उत्पत्ति के प्रथम समय में आहारपर्याप्ति के पूर्ण होने के बारे में जिज्ञासु का प्रश्न है कि—

जगत्—यह कौन जाएः कहे कि आहारपर्याप्ति उत्पत्ति के प्रथम समय में ही पूर्ण होती है ?

उत्तर—आहारपर्याप्ति को उत्पत्ति के प्रथम समय में पूर्ण होने के कारण को हपष्ट करते हुए प्रज्ञापनासूत्र में बताया है कि—

‘आहारपर्याप्तिए अपक्षज्ञेण भवते ! किमाहारए अपाहारए ?’

हे भगवन् ! आहारपर्याप्ति द्वारा अपर्याप्ति वदा आहारी होता है या अनाहारी होता है ?

इसके उत्तर में श्रमण भगवान् महावीर ने गौतमस्वामी को अताया—

‘गोमत ! नो आहारए अनाहारए !’

हे गौतम ! आहारपर्याप्ति से अपर्याप्ति जीव आहारी नहीं होते हैं, परन्तु अनाहारी होते हैं।

इसलिए आहारपर्याप्ति से अपर्याप्ति विग्रहयति में ही सम्बद्ध

१ औदारिक, वैकिय और आहारक शरीर में पर्याप्ति होती है। औदारिक शरीर खाला जीव पहली पर्याप्ति एक समय में पूर्ण करता है और उसके बाद अन्तमुँहूर्त में दूसरी और उसके बाद तीसरी, इस प्रकार चौथी, पांचवीं, छठी, प्रत्येक क्रमशः अन्तमुँहूर्त-अन्तमुँहूर्त के बाद पूर्ण करता है।

वैकिय, आहारक शरीर वाले जीव पहली पर्याप्ति एक समय में पूरी कर लेते हैं और उसके बाद अन्तमुँहूर्त में दूसरी पर्याप्ति पूर्ण करते हैं और उसके बाद तीसरी, चौथी, पांचवीं और छठी पर्याप्ति क्रमशः एक-एक समय में पूरी करते हैं। किन्तु देव पांचवीं और छठी, इन दोनों पर्याप्तियों को अनुक्रम से पूर्ण न कर एक साथ एक समय में ही पूरी कर लेते हैं।

है। उत्पत्तिस्थान को प्राप्त हुआ जीव आहारपर्याप्ति से अपर्याप्त सम्भव नहीं है। क्योंकि उत्पत्तिस्थान को प्राप्त जीव प्रथम समय में ही आहार करता है। इससे स्पष्ट है कि आहारपर्याप्ति की पूर्णता उत्पत्ति के प्रथम समय में हो होती है।

यदि उत्पत्तिस्थान को प्राप्त हुआ जीव आहारपर्याप्ति द्वारा अपर्याप्त होता तो उत्तरसूच को इस प्रकार कहना चाहिए था कि 'सिय आहारए सिय अणाहारए'—आहारपर्याप्ति से अपर्याप्त आहारी भी होता है और अनाहारी भी होता है। जैसा कि शरीर आदि पर्याप्तियों के सम्बन्ध में कहा है—'सिय आहारए सिय अणाहारए—कदाचित् आहारी भी होता है और कदाचित् अनाहारी भी होता है।'

सारांश यह है कि आहारपर्याप्ति से अपर्याप्त जीव विश्रहगति में अनाहारी होता है और उत्पत्तिस्थान में आकर आहार करता है, तब आहारी होता है, ऐसा तभी कहा जा सकता है कि जिस समय उत्पत्ति-स्थान में आकर उत्पन्न होता है और उस समय यदि आहारपर्याप्ति पूर्ण न हो। परन्तु उसी समय आहारपर्याप्ति पूर्ण होती है। इसलिए आहारपर्याप्ति से अपर्याप्त तो विश्रहगति में ही होता है और उस समय अनाहारी होता है। इसी से ही आहारपर्याप्ति से अपर्याप्त का अनाहारित्व विश्रहगति में ही सम्भव है और शरीरादि पर्याप्ति से अपर्याप्त विश्रहगति में अनाहारी होता है और उत्पत्तिस्थान में उत्पन्न होने के बाद जब तक शरीरादि पर्याप्तियाँ पूर्ण न करे, तब तक उस-उस पर्याप्ति से अपर्याप्त आहारी होता है। आनी शरीरादि पर्याप्ति से अपर्याप्त अनाहारी और आहारी, इस तरह दोनों प्रकार का होता है।

जो स्वयोग्य पर्याप्तियों से विकल हैं, अर्थात् पूर्ण नहीं करते हैं, वे अपर्याप्त और स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करने वाले जीव पर्याप्त कहलाते हैं। अर्थात् पर्याप्त जीवों में गहीत पुदगलों को आहार आदि रूप में परिणत करने की शक्ति होती है और अपर्याप्त जीवों में उस-

प्रकार की शक्ति नहीं होती है। इन दोनों प्रकार के जीवों के भी निम्नप्रकार से दो-दो भेद हैं—

**अपर्याप्त जीव**—१. लब्धि-अपर्याप्त और २. करण-अपर्याप्त ।<sup>१</sup>

**पर्याप्त जीव**—३. लब्धि-पर्याप्त और ४. करणपर्याप्त ।

लब्धि-अपर्याप्त जीव के हैं जो अपर्याप्त अवस्था में ही भर जाते हैं, किन्तु स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण नहीं करते। अर्थात् जो स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण किये बिना ही भर जाते हैं, वे लब्धि-अपर्याप्त कहा-

१ दिग्भवर कर्मसाहित्य में करण-अपर्याप्त के बदले निवृत्ति-अपर्याप्त शब्द का प्रयोग किया है। उसका लक्षण इस प्रकार है—

पञ्चतात्स्त य उद्यो णियधिष्ठपञ्चतिणिद्वदो होदि ।

जाव सरीरमपुण्डं णिष्वत्ति अपुण्डशो तत्व ॥

—गोमटसार जीवकाण्ड, नाथा १२५

अर्थात् पर्याप्तभावकर्म के उदय से जीव अपनी योग्य पर्याप्तियों से पूर्ण होता है, तथापि जब तक उसकी शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं होती है, तब तक वह पर्याप्त नहीं कहलाता है, किन्तु निवृत्ति-अपर्याप्ति कहलाता है। लेकिन अवैतन्त्रर कर्मसाहित्य में करण शब्द से शरीर, इन्द्रिय आदि-आदि पर्याप्तियाँ, इसना अर्थ किया ज्या है—

करणानि शरीराशादीनि ।

—लोकप्रकाश ३/१०

अतएव उक्त भंतव्य के अनुसार विस्ते शरीरपर्याप्ति पूर्ण की, किन्तु इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण नहीं की, वह भी करण-अपर्याप्त है। इसी प्रकार उत्तर-उत्तर की पर्याप्ति के लिए समझना चाहिये। अर्थात् शरीररूप करण के पूर्ण करने से करण-पर्याप्ति, किन्तु इन्द्रियरूप करण के पूर्ण न करने से करण-अपर्याप्ति। लेकिन जब जीव स्वयोग्य सम्पूर्ण पर्याप्तियों को पूर्ण कर लेता है, तब उसे करण-अपर्याप्त नहीं, करण-पर्याप्ति कहेंगे।

लाते हैं' और जिन्होंने शरीर और इन्द्रियादि स्वयोग्य पर्याप्तिशी अभी पूर्ण नहीं की, किन्तु अवश्य पूर्ण करेंगे, उन्हें करण-अपर्याप्ति कहते हैं।

लज्जिध-अपर्याप्ति जीव के कहुलाते हैं, जिनको पर्याप्तनामकर्म का उदय हो और अभी स्वयोग्य पर्याप्तिशी पूर्ण नहीं की है, लेकिन पूर्ण अवश्य करेंगे। करण-पर्याप्ति उन्हें कहते हैं, जिन्होंने स्वयोग्य पर्याप्तिशी पूर्ण कर ली है।

उक्त अपर्याप्ति और पर्याप्ति के दो-दो भेदों में करण-अपर्याप्ति और लज्जिध-अपर्याप्ति का अर्थ समझाएँ एक जैसा प्रतीत होता है, जिससे यह सोंका हो सकती है कि इन दोनों में क्या अन्तर है ?

जह विषय से गह भगवान्ना नाड़िए कि कर्म दो प्रकार के हैं—१. पर्याप्तनामकर्म और २. अपर्याप्तनामकर्म। जिस कर्म के उदय से स्वयोग्य पर्याप्तिशी पूर्ण होती है, उसे पर्याप्तनामकर्म और जिस कर्म के उदय से स्वयोग्य पर्याप्तिशी पूर्ण न हो, उसे अपर्याप्तनामकर्म कहते हैं। लज्जिध यानी शक्ति के द्वारा पर्याप्ति, वे लज्जिध-पर्याप्ति, वे पर्याप्ति-नामकर्म के उदय वाले जीव हैं और शक्ति से अपर्याप्ति, वे लज्जिध-अप-पर्याप्ति, वे अपर्याप्तनामकर्म के उदय वाले जीव हैं।

१ लज्जिध-अपर्याप्ति जीव भी करण-अपर्याप्त होते हैं। क्योंकि यह नियम है कि लज्जिध-अपर्याप्ति भी कम से कम आहार, शरीर और इन्द्रिय, इन तीन पर्याप्तिशों को पूर्ण किये बिना नहीं भरते हैं और भरण तभी हो सकता है जब आगामी भव का आयुबन्ध हो गया हो और आयुबन्ध तभी होता है जबकि आहार, शरीर और इन्द्रिय यह तीन पर्याप्तिशी पूर्ण हो जाती है—

यस्माद्यापामिभवायुर्बेदवा त्रियसे सर्वं एव देहिनः । तच्चाहारशरीरेन्द्रिय-  
पर्याप्तिपर्याप्तिनामेव ब्रह्मस इति ।

—नन्दीसूत, वस्त्रसिद्धिकाण

तात्पर्य यह है कि पर्याप्त और अपर्याप्त नामकर्म के उदय वाले जीव ही क्रम से लब्धि-पर्याप्त और लब्धि-अपर्याप्त कहलाते हैं तथा करण-अपर्याप्त और करण-पर्याप्त तो पर्याप्तनामकर्म का उदय होने के बाद जीव की अमुक अवस्था का शान करने के लिए शास्त्रकार द्वारा रखे गये नाम है। जैसे कि लब्धि-पर्याप्त, पर्याप्तनामकर्म वाले जीव जब तक स्वयोग्य पर्याप्तियों पूर्ण न करें, तब तक उनकी अवस्था को करण-अपर्याप्त अवस्था और स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करने के बाद की अवस्था की करण-पर्याप्त अवस्था कहना चाहिए।

इस प्रकार लब्धि-पर्याप्त और लब्धि-अपर्याप्त तो कर्मरूप हैं तथा करण-अपर्याप्त और करण-पर्याप्त कर्मरूप नहीं हैं, यह साइर मेद है।

इस प्रकार स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करने और न करने की योग्यता की अपेक्षा से समस्त संसारी जीवों—एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक के जीवों—को पर्याप्त और अपर्याप्त माना जाता है।

सामान्य की अपेक्षा सभी जीव एकेन्द्रिय आदि पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त पांच प्रकार के होने पर भी एकेन्द्रियों के बादर और सूक्ष्म तथा पञ्चेन्द्रियों के संज्ञी और असंज्ञी, यह दो विशेष मेद हो जाते हैं। जिससे सात मेद हुए और सूक्ष्म एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त के सातों मेद अपनी-अपनी योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करने या न करने की शक्ति वाले होते हैं। अतः इन सभी जीवों का बोध करने के लिए जीवस्थान के चौदह मेद किये जाते हैं। समस्त जीवों का इन चौदह प्रकारों में किया गया वर्गीकरण इतना वैज्ञानिक और धुक्किसंगत है कि उनमें सभी संसारी जीवों का समावेश हो जाता है।

जीवस्थानों के चौदह प्रकारों के होने की उक्त प्रक्रिया को समझ लेने के बाद उनके लक्षणों को बतलाने की आवश्यकता नहीं है, तथापि सरलता से बोध करने के लिए संक्षेप में उनके लक्षणों का निवेदन करते हैं—

१-४ सूक्ष्म, बादर एकेन्द्रिय—स्पर्शन, रसन आदि पांचों इन्द्रियों

के कथ में जिनको पहली स्पर्शनस्थ एक इन्द्रिय होती है, ऐसे पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और वनस्पति काय के जीव एकेन्द्रिय कहलाते हैं। सूक्ष्म और बादर नामकर्म के उदय से प्राप्त शरीर के कारण ये प्रत्येक सूक्ष्म और बादर के भेद से दो-दो प्रकार के हैं तथा ये दो-दो भेद भी पर्याप्त और अपर्याप्त नामकर्म के उदय बाले हीने से पर्याप्त और अपर्याप्त होते हैं। इनके बर्ग क्रमशः १. सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त, २. सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त, ३. बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त और ४. बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त कहलाते हैं।

एकेन्द्रिय जीवों के बादर और सूक्ष्म यह दो भेद मानने का कारण यह है कि चाहे कितने भी शरीरों के एकत्रित हो जाने पर भी जो चर्म-चक्रों से न दिखें वे सूक्ष्म और जिनके अनेक शरीरों का समूह भी दिख सकता हो, वे बादर कहलाते हैं।

५-६ द्वीन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त—स्पर्शन और रसनस्थ दो इन्द्रियाँ जिनको हों, ऐसे शूख, सौप, चन्दनक आदि जीव द्वीन्द्रिय कहलाते हैं। ये भी पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से दो प्रकार के हैं। इन दोनों के बर्गों को क्रमशः द्वीन्द्रिय पर्याप्त और द्वीन्द्रिय अपर्याप्त जीवस्थान कहते हैं।

७-८ श्रीन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त—स्पर्शन, रसन और ध्वनि (नाक), ये तीन इन्द्रियाँ जिनको हों, ऐसे जूँ, खटमल, इन्द्रगोप, चीटी, दीमक आदि जीव श्रीन्द्रिय कहलाते हैं। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त भेद क्रमशः श्रीन्द्रिय पर्याप्त और श्रीन्द्रिय अपर्याप्त जीवस्थान कहलाते हैं।

९-१० चतुरिन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त—स्पर्शन, ध्वनि और चक्षु, ये चार इन्द्रियाँ जिनको हों, ऐसे भ्रमर, मक्खी, मच्छर आदि जीव चतुरिन्द्रिय कहलाते हैं। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त भेद क्रमशः चतुरिन्द्रिय पर्याप्त और चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त जीवस्थान हैं।

११-१२ असाक्षी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त—स्पर्शन आदि अोष वर्धन्त जिनको पांचों इन्द्रियाँ हों, लेकिन संज्ञा—सूत, भावी और चतुर-स्थान पदार्थों के स्वभाव के विचार करने की योग्यता से विहीन हों।

के जीव असंज्ञी पंचेन्द्रिय हैं। ये भी पर्याप्त और अपर्याप्त होते हैं। इनके भेद क्रमशः असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त जीवस्थान हैं।

**१३-१४ संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त—जिनको पांचों इन्द्रिय और संज्ञा हो, वे संज्ञी पंचेन्द्रिय कहलाते हैं। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त भेद क्रमशः संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त जीवस्थान हैं।**

इस प्रकार से जीवस्थानों के भेद बतलाने के पश्चात् अब उनमें योगों का निर्देश करते हैं।

### जीवस्थानों में योग

**विगलेसुसन्तपञ्जसु—अथात् पर्याप्त विकलेन्द्रियो—द्वीन्द्रिय, श्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रियों में तथा पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रियों में काययोग और वचनयोग। इस तरह दो योग होते हैं—‘लभ्यति कायवद्योगा’। सम्बेदि सन्तिपञ्जसु—अथात् संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान में मनोयोग आदि तीनों योग के सभी उत्तर भेद—पन्द्रह योग होते हैं तथा इनसे शेष रहे पर्याप्त-अपर्याप्त सूक्ष्म और कादर एकेन्द्रिय तथा अपर्याप्त द्वीन्द्रिय श्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय, इन नीं जीवस्थानों में सिर्फ काययोग होता है—‘सेसु कालोगो।’**

जीवस्थानों में योगों विषयक इस सामान्य कथन को अब विवेषता के साथ स्पष्ट करते हैं—

**विकलेन्द्रिय—द्वीन्द्रिय, श्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों में काययोग और वचनयोग यह दो योग होते हैं। काययोग तो इनमें औदारिकशरीररूप और ‘विगलेसु असच्छमो-सेव’—विकलेन्द्रियों में असत्त्वामृषारूप ही वचनयोग होता है—इस कथन के अनुसार असत्त्वामृषाभाषा—व्यवहारभाषारूप वचनयोग**

होगा। इसका कारण यह है कि ये सभी जीव सियंच हैं और तियंच जीवों के शारीर औदारिककाययोगनिष्ठन होते हैं, इसलिए इनके औदारिककाययोग तो अवश्य होगा ही और असत्यामृषावचनयोग इसलिए माना है कि होन्द्रिय आदि जीवों के समर्जन इन्द्रिय के अनन्तर रसना आदि श्रोत्र पर्याप्त एवं एक इन्द्रिय की वृद्धि होती जाती है। इस इन्द्रिय वृद्धि के क्रम में रसनेन्द्रिय (जीभ) प्रथम है और जीभ शब्दोच्चारण की साधन है। अतः जिन जीवों के रसनेन्द्रिय होगी वे, किसी न किसी शब्द-छविनि का उच्चारण अवश्य करेंगे ही। किन्तु इन होन्द्रिय आदि जीवों का भाषाप्रयोग न तो सत्यरूप होता है और न मृषारूप, किन्तु असत्यामृषा—व्यवहारभाषारूप होता है। ये सभी असज्जी होते हैं, जिससे इनमें मनोयोग मूलतः सम्भव नहीं है। इसलिए पर्याप्त विकलांगिक और असज्जी पचेन्द्रिय, इन चार जीवस्थानों में औदारिक-काययोग और असत्यामृषा—व्यवहारभाषारूप वचनयोग, यह दो योग माने जाते हैं।

पर्याप्त संज्ञी पचेन्द्रिय जीवों में सभी योग पाये जाते हैं। इसका कारण यह है कि आहार, शारीर, इन्द्रिय आदि सभी छहों पर्याप्तियों से युक्त होने से इनकी मन, वचन, काय योग सम्बन्धी योग्यता विशिष्ट प्रकार की होती है। इसलिए उनमें चारों मनोयोग, चारों वचनयोग और सातों काययोग हैं। इस प्रकार उनमें सभी पन्द्रह योग माने जाते हैं।<sup>१</sup>

योगों के पन्द्रह भेदों में यद्यपि कार्यण, औदारिकमिश्र और वैकियमिश्र ये तीन योग अपर्याप्त-अवस्थामात्री हैं। लेकिन इनको भी संज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तिकों में मानने का कारण यह है कि—

१ अगेश्वरविजेष से सामान्य संज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान में शोमों का विचार किया जाये तो अपर्याप्त अवस्थामात्री कार्यण, औदारिकमिश्र और वैकियमिश्र, इन तीनों योगों के सिवाय द्वारह योग भी माने जा सकेंगे।

कार्मण और औदारिकमिश्र कायथोग पर्याप्त अवस्था में तब होते हैं जब केवली भगवान् केवलिसमुद्धात् करते हैं।<sup>१</sup> केवलिसमुद्धात् के तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में कार्मणकायथोग तथा दूसरे, छठे और सातवें समय में औदारिकमिश्रकायथोग<sup>२</sup> होता है।

आहारकायथोग के अधिकारी संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त मनुष्य हैं और मनुष्यों में भी चतुर्दशपूर्वधार संयत है। जब वे चतुर्दशपूर्वधार संयत मुनि आहारकशगीर-मिश्र का प्रयोग करते हैं, तब आहारक-शरीर के बनाने व त्यागने के समय तो आहारकमिश्रकायथोग और शेष समय में—उस गारीर को धारण करते के समय में आहारक-कायथोग होता है।

वैक्षियमिश्रकायथोग पर्याप्त अवस्था में तब होता है जब कोई वैक्षियलिङ्घधारी मुनि आदि वैक्षिय शगीर को बनाते हैं और देव, नदियों के वैक्षिय कायथोग होता है।

इस प्रकार पर्याप्त विकल्पित, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय, इन पांच जीवस्थानों में प्राप्त योगों का पृथक्-पृथक् रूप से कथन करने के बाद ग्रन्थकार लाचार्य ने शेष नी जीवस्थानों में योग का निर्देश करने के लिए गाथा में जो—‘संससु काओगे’ अर्थात् कायथोग होता है पद दिया है, उसका स्पष्टोकरण इस प्रकार है—

१. केवलिसमुद्धात् की रियति आठ समय धमाण है। इनमें केवली भगवान् आत्म-प्रदेहों को सर्वलोकत्यापी करके पुनः गारीरप्रमाण कर लिये हैं।
२. मिश्रोदारिकयोक्ता सप्तशष्ठित्रियेषु ॥
३. कार्मणशरीरयोगी अत्यर्थके पक्षमें तृतीये च।

—प्रकामदति प्रकारण (उमास्वाति) २७६—२७७

४. विश्वधर कामेश्वनियों ने श्री जीवस्थानों में इसी प्रकार से योगों का निर्देश किया है—

लङ्घीए करणेहि य ओरालियमीसगो अपजजते ।

पजजते ओरालो वेउविय मीसगो वा वि ॥७॥

**शब्दार्थ**—लङ्घीए—विधि में, करणेहि—करण में, ओरालियमीसगो—जीदारिकमिथ, अपजजते—अपर्याप्ति में, पजजते—पर्याप्ति में, ओरालो—जीदारिक, वेउविय वैक्रिय, मीसगो—वैक्रियमिथ, वा—अथवा, वि—भी।

**शास्त्रार्थ** लविय और करण में अपर्याप्ति जीवों में जीदारिकमिथ-काययोग होता है तथा पर्याप्ति अवस्था में जीदारिक, वैक्रिय अथवा वैक्रियमिथकाययोग होता है ।

**विशेषार्थ** पूर्वशास्त्रा में 'सेसेमु काओगो' पद से जिन शेष रहे जीवस्थानों में काययोग का विदेश किया है, उनके नाम इस प्रकार हैं—

१-४. पर्याप्त-अपर्याप्ति सूक्ष्म-वादर एकेन्द्रिय, ५. अपर्याप्ति-द्वीन्द्रिय, ६. त्रीन्द्रिय, ७. चतुरन्द्रिय, ८. असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय और ९. संज्ञी पञ्चेन्द्रिय। इनमें पर्याप्ति सूक्ष्म-वादर एकेन्द्रिय। इन दो को छोड़कर शेष सात अपर्याप्ति अवस्थाभावी जीवस्थान हैं और यदि नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव रूप चार गतियों की अपेक्षा इनका विभाजन किया जाये तो अपर्याप्ति संज्ञी पञ्चेन्द्रिय को छोड़कर शेष आठ जीवस्थान तिर्यचमति में होते हैं

'णवम् चकुबके इकों जोगा इकको य वोण्णि पर्णरसा ।'

—पञ्चसंश्लृ शतक प्राकृतवृत्ति गा, ६

लेकिन भाष्यग्रन्थाकार में चौदह योगों का उल्लेख किया है—

सण्णी संपुर्णेसु' चकुबम जोगा मुष्टैपर्णवा ॥४३॥

जिसका स्वर्णीकरण मूलि में इस प्रकार है—

मनुष्य-तिर्यगपेक्षया संजिसंपुर्णेसु पर्याप्तिशु वैक्रियमिथं विना चकुदेश योगाः शासन्याः ।

और अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवस्थान चतुर्भूति के जीवों में पाया जाता है।

पूर्व में अपर्याप्त और पर्याप्त के विचार-प्रसंग में अपर्याप्त के दो भेद बतलाये हैं—(१) लक्षित-अपर्याप्त और (२) करण-अपर्याप्त। मनुष्य और तिर्यक तो लक्षित और करण दोनों प्रकार के अपर्याप्त सम्भव हैं किन्तु देव और नारक करण-अपर्याप्त होते हैं, लक्षित-अपर्याप्त नहीं होते हैं।

इस प्रकार से संक्षेप में अदशिष्ट नौ जीवस्थानों के बारे में निर्देश करने के बाद अब उनमें प्राप्त काययोग के भेदों की बतलाते हैं—

‘लङ्घीए करणेहि … अपञ्जस्ते’ अर्थात् लक्षित और करण से अपर्याप्त होने सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तीन्द्रिय, चतुर्निद्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय, ये छहों जीवस्थान औदारिक शरीर वाले हैं। अतः इनकी अपर्याप्त दशा में ‘ओरालियमीसगो’—औदारिकमि शकाययोग तथा अपान्तरालगति (विग्रहगति) और उत्पत्ति के प्रथम समय में कार्मण काययोग होता है। इन छह जीवस्थानों की अपर्याप्त दशा में कार्मण काययोग होता है। अपान्तरालगति (विग्रहगति) में सथा जन्म ग्रहण करने के प्रथम समय में कार्मणयोग ही होता है, क्योंकि उस समय औदारिक आदि स्थूल शरीर का अभाव होने के कारण योगप्रवृत्ति केवल कार्मणशरीर से होती है और उत्पत्ति के द्वितीय समय से लेकर स्वयोग्य पर्याप्तियों के पूर्ण बन जाने तक मिश्रकाययोग सम्भव है। क्योंकि उस अवस्था में कार्मण और औदारिक आदि स्थूल शरीरों के संयोग से योगप्रवृत्ति होती है। इसीलिये अपर्याप्त अवस्था में कार्मणकाययोग के बाद औदारिकमिश्रकाययोग माना गया है।

अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवस्थान में मनुष्य, तिर्यक, देव, नारक जीव गमित हैं, इसलिये सामान्य से इसमें कार्मण, औदारिकमिश्र और देविकायमिश्र ये तीन योग होंगे। लेकिन मनुष्य और तिर्यकों की अपेक्षा

कार्मण और औदारिकमिश्र काययोग और देव, नारकों की अपेक्षा कार्मण और वैक्रियमिश्र काययोग होंगे। मनुष्य और तिर्यचों में औदारिकमिश्र काययोग और देव, नारकों में वैक्रियमिश्र काययोग मानने का कारण यह है कि इनमें जन्मतः क्रमणः औदारिक और वैक्रिय शरीर होते हैं। अतः उनकी अपर्याप्ति अवस्था में औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र शरीर माने जायेंगे और कार्मण काययोग मानने का कारण पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। इस प्रकार दोनों में कार्मण काययोग समान होने से अपर्याप्ति संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवस्थान में तीन योग माने जाते हैं।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्ति जीवों के औदारिककाययोग होता है। ज्योंकि जैसे इनमें मन और वचन की लक्षित महीं है, वैसे ही वैक्रिय आदि लक्षित भी नहीं है। इसीलिये उनमें वैक्रियकाययोग आदि सम्बन्ध नहीं है तथा सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव तिर्यक्तस्ति वाले हैं और तिर्यक्तस्ति में औदारिक शरीर होता है। इसी कारण इनमें औदारिककाययोग माना गया है।

इस प्रकार सात अपर्याप्ति, पांच पर्याप्ति संज्ञी जीवस्थानों में समग्र रूप से तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्ति जीवस्थान में आंशिक रूप से योगों का विचार करने के पश्चात् अवशिष्ट संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्ति और बादर एकेन्द्रिय पर्याप्ति जीवस्थान में योगों का प्रतिपादन करते हैं।

‘पञ्जते ओरालो’— इत्यादि अर्थात् संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्ति जीवस्थान में तथा बादर एकेन्द्रिय पर्याप्ति जीवस्थान में औदारिक, वैक्रिय और वैक्रियमिश्र काययोग होते हैं। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पूर्व शाथा में संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्ति के भेद मनुष्यों में केवलि-समुद्रात् के समय औदारिकमिश्र, कार्मण तथा वैक्रियलक्षितसंपत्ति मनुष्यों तथा तिर्यचों को वैक्रियलक्षितप्रयोग के समय वैक्रियमिश्रकाययोग का निर्देश किया था, लेकिन शेष समय में प्राप्त योग की वहीं

जताया था। जिसको यहाँ स्पष्ट किया है कि उनको औदारिककाययोग जानना चाहिये और पर्याप्त देव और नारकों को वैक्रियकाययोग होता है तथा पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय जीवस्थान में औदारिक, वैक्रिय और वैक्रियमिश्रकाययोग यह सीम योग माने जाने का कारण यह है कि पृथ्वी, जल आदि पाँचों स्थावर बादर एकेन्द्रिय तिर्यक हैं और तिर्यकों का औदारिक शरीर होता है, अतः पर्याप्त अवस्था में औदारिककाययोग होता ही है। लेकिन बादर बायुकायिक जीवों के वैक्रियलिंग होती है, इसलिए जब वे वैक्रिय शरीर बनाते हैं तब वैक्रियमिश्रकाययोग और वैक्रिय शरीर पूर्ण बन जाने पर वैक्रियकाययोग होता है।

'पञ्जले ओराली वेउविद्य भीसगो वा वि' पद में यही आग्रह स्पष्ट किया गया है तथा गाथा के अन्त में आये (वि) अग्नि शब्द से यह अर्थ भी ग्रहण करना चाहिए कि आहारकलिंगसंपत्ति औदह पूर्वधर को आहारकाययोग और आहारकमिश्रकाययोग भी होता है।

### भतान्तर से जीवस्थानों में योग

जीवस्थानों में योग-विचार के प्रसंग में कितने ही आनार्थी का मत है कि प्रशीरपर्याप्ति पूर्ण होने से पहले मनुष्य और तिर्यकों के औदारिकमिश्र और देव, नारकों के वैक्रियमिश्र तथा शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने के पश्चात् शेष पर्याप्तियों से अपर्याप्त मनुष्य और तिर्यकों के औदारिक तथा देव, नारकों के वैक्रियकाययोग होता है। एतद् विषयक अन्यकर्तृक गाथा इस प्रकार है—

कम्मुरलदुगमपज्जे वेउविदुगं च सन्निलिङ्गले ।

पज्जेमु उरलोच्चिय वा ए वेउविदुगं च ॥

शब्दार्थ—कम्मुरलदुगं—कार्यण औदारिकदिक, अपकजे—अपर्याप्ति में, वेउविदुगं—वैक्रियदिक, सन्निलिङ्गले—लिंगयुक्त संस्ती में, पज्जेमु—पर्याप्ति में, उरलोच्चिय—औदारिकवाययोग ही, वा ए—बायुकाय में, वेउविदुगं—वैक्रियदिक, च—और।

**गार्मण—**अपर्याप्त अवस्था में कार्मण और औदारिकद्विक, ये तीन योग होते हैं और लक्षित्युक्त संज्ञी में वैक्रियद्विक तथा पर्याप्त में औदारिककाययोग और वायुकाय में वैक्रियद्विक योग होते हैं।

**विशेषार्थ—**मतान्तर के अनुसार जीवस्थानों में योगों का सिद्धेश किया गया है कि—

**अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि जीवस्थानों में कार्मण और औदारिकद्विक—**औदारिक और औदारिकमिश्र, ये तीन काययोग होते हैं—‘कम्मुरलदुग्मपञ्जे’। अर्थात् अन्य आचार्यों के मत से शरीरपर्याप्ति से पूर्व के अपर्याप्ति को में तो कार्मण और औदारिकमिश्र, ये दो काययोग होते हैं और शरीरपर्याप्ति के पूर्ण हो जाने के बाद के अपर्याप्ति को में औदारिककाययोग होता है। इसी प्रकार देव और नारकों के अपर्याप्त अवस्था में कार्मण, वैक्रियमिश्र और वैक्रिय काययोग तथा लक्षित्युक्त संज्ञी जीवों में भी वैक्रियद्विक होते हैं और पर्याप्ति सूक्ष्म एकेन्द्रियादि तिर्थन्चों एवं मनुष्यों में औदारिककाययोग तथा उपलब्धण से देव, नारकों में वैक्रियकाययोग समझना चाहिये—‘पञ्जेसु उरलोच्चिय’।<sup>१</sup>

‘वाए वेऽविष्ट दुमे च’—अर्थात् पर्याप्त वायुकायिक जीवों में वैक्रिय, वैक्रियमिश्र<sup>२</sup> तथा च शब्द से अनुसृत औदारिक का समुच्चय

१ यहाँ अपर्याप्त शब्द से अन्तर्मूहूर्त की आयु वर्णने लक्षित-अपर्याप्ति का ग्रहण करना चाहिये और अन्तर्मूहूर्त की आयु वाचे मनुष्य, तिर्थेच होते हैं। देव, नारकों की जघन्य आयु भी वस्त्र हजार वर्ष की है और लक्षित-अपर्याप्ति जीव भी इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण करने के बाद भरते हैं, उससे पूर्व नहीं। क्योंकि इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण हुए दिना परस्पर की आयु का वंध नहीं होता है, लक्षित-अपर्याप्ति जीवों के औदारिक शरीर होता है, वैक्रिय शरीर नहीं, जिससे देव, नारकों को ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है।

२ (क) आत्म तियोगमनुष्याणा देवनारकयोः परम् ।

केषोचित्प्रियमध्यायु मंजितिर्यनुषामपि ॥

करके औदारिक, इस तरह तीन काययोग जानना चाहिये। औदारिक की ग्रहण करने का कारण यह है कि सभी को नहीं किन्तु कुछ एक वायुकायिक जीवों को वैक्रियांशिक काययोग होते हैं।

उक्त कथन का सारांश और विचारणीय बिन्दु इस प्रकार हैं—

अपर्याप्ति सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि सातों प्रकार के अपर्याप्ति जीव जब शरीरपर्याप्ति पूर्ण कर लेते हैं तब औदारिक शरीर वालों के औदारिककाययोग होता है, औदारिकमिश्रकाययोग नहीं और वैक्रिय शरीर वालों के वैक्रियकाययोग किन्तु वैक्रियमिश्र काययोग नहीं। इस मतान्तर के मानने वाले शीलांकाचार्य आदि प्रसुख आचार्य हैं। उनका मतान्तर है कि शरीरपर्याप्ति के पूर्ण हो जाने के बाद भी घोष पर्याप्तियों के पूर्ण न होने से अपर्याप्ति माने जाने वाले जीवों में शरीरपर्याप्ति पूर्ण हो जाने से शरीर पूर्ण ही गया और उस स्थिति में औदारिक शरीर वालों के शीलांकाचार्ययोग और वैक्रिय शरीर

पहला (औदारिक) शरीर तिर्यक, मनुष्यों के और दूसरा (वैक्रिय) शरीर देव, नारकों के होता है तथा किन्तु लक्ष्य वाले वायुकायिकों व संजी तिर्यक, मनुष्यों को भी होता है।

(ए) तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति में भी वायुकायिक जीवों के लक्ष्यजड्य वैक्रिय शरीर होने का संकेत किया है—‘वायोक्त्रम् वैक्रियं अविद्यप्रत्ययमेव’ इत्यादि।

—तत्त्वार्थ, २/४८

(ग) दिवम्बर साहित्य में भी वायुकायिक, तेजस्कायिक जीवों को वैक्रिय शरीर का स्वामी कहा जाता है—

वादर तेजवाक पर्विदियपुण्ड्रया विगुञ्जति ।

—गोमटसार जीवकांड गाथा २३२

वादर तेजस्कायिक और वायुकायिक तथा संक्षी पंचेन्द्रिय पर्याप्ति और भोगभूमिज्ञ तिर्यक, मनुष्य भी विकिया करते हैं।

(क) तिर्हु तत्त्व रासीणं वेदविद्यलङ्घी चेव सत्त्वि । वायद्यज्जसाणधि  
संसेज्जाह भागस्सत्ति ।

—प्रजापनाचूणि

बालों को वैक्रियकाययोग होगा। शरीरपर्याप्ति पूर्ण हो जाती है, तभी से मिथ्योग नहीं रहता है।<sup>१</sup>

इस प्रकार के अनुसार सूक्ष्म एकेन्द्रियादि छह अपर्याप्ति जीवस्थानों में कार्यण, औदारिकमिश्र और औदारिक, यह तीन काययोग और अपर्याप्ति संज्ञी पञ्चदिव्य में कार्यण आदि उभें तीन के साथ वैक्रियमिश्र तथा वैक्रिय, इन दो योगों को मिलाने से कुल पाँच योग होते हैं।

इस प्रकार को कार्यग्रथिक और सैद्धान्तिक मतभिन्नता भी कह सकते हैं। क्योंकि सिद्धान्त में शरीरपर्याप्ति के पूर्ण होने पर शरीर की भिष्यति मानकर यथायोग्य जीवों को औदारिककाययोग और वैक्रियकाययोग माना है और कार्यग्रथिकों ने सर्व पर्याप्तियों के पूर्ण होने से बने हुए को औदारिक, वैक्रिय काययोग। क्योंकि उनके मतानुसार जब तक इन्द्रिय, प्रवासोच्चवास, भाषा और मनःपर्याप्ति पूर्ण न हों तब तक शरीर अपूर्ण रहता है और कार्यण काययोग का व्यापार चालू रहता है। इसीलिये औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र काययोग मानना युक्ति संगत है।

उक्त मतभिन्नता के अतिरिक्त अन्य जीवस्थानों में संभव योग सम्बन्धी मतभेद नहीं है।<sup>२</sup>

तीन राशि-मुख्य एकेन्द्रिय अपर्याप्ति, पर्याप्ति और बाह्य एकेन्द्रिय अपर्याप्ति इन तीन राशि के जीवों में वैक्रियलक्षित होती ही नहीं है और बाह्य पर्याप्ति वायुकाय में से उसके संख्यात्मक भाग जीवों में वैक्रियलक्षित संभव है।

(अ) .....लेजोवायुकायिक पञ्चेन्द्रिय---लिंगमनुष्ठानों च केषान्ति।

—लव्यार्थ राजवातिक २/४४

- १ औदारिककाययोगस्तिर्थङ्.मनुष्योः शरीरपर्याप्तिरुद्धर्म् तदितरस्तु मिश्रः। —आचारंग १ / २ / १ की टीका
- २ द्विग्नम्बार कार्यग्रथिकों द्वारा विवेचित जीवस्थानों में योगों का विचार परिसिद्ध में देखिये।

इस प्रकार जीवस्थानों में वीरों का विवार करने के पश्चात् अब उनमें उपयोगों का निरूपण करते हैं।

### जीवस्थानों में उपयोग

मद्दसुयअन्नाण अचक्खु दंसणेकक्षारसेसु ठाणेमु ।

पञ्जत्तचउपर्णिदिसु सचक्खु सन्नीमु बारसवि ॥८॥

**प्राच्यार्थ—**मद्दसुयअन्नाण... मति-श्रुत-अज्ञान, अचक्खु-  
दंसण, एककारसेसु... ग्यारह में, राणेसु जीवस्थानों में पञ्जत्त पर्णित,  
चउपर्णिदिसु... चतुरिन्द्रियों और पंचेन्द्रियों में, सचक्खु—भलुकर्णन सहित,  
सन्नीमु... संज्ञी में बारसवि—सभी बारह ।

**गार्थार्थ—**मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अचक्खुदर्शन ये तीन  
उपयोग ग्यारह जीवस्थानों में होते हैं। पर्णित चतुरिन्द्रिय लौट  
पंचेन्द्रियों में चक्खुदर्शन सहित चार और संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव-  
स्थान में सभी बारह उपयोग होते हैं।

**विशेषार्थ—**पूर्व में बताये गये उपयोग के बारह भेदों को अब  
जीवस्थानों में वर्णित करते हैं—

**‘एककारसेसु ठाणेमु’—अर्थात् १. पर्णित सूक्ष्म एकेन्द्रिय, २. अप-  
र्णित सूक्ष्म एकेन्द्रिय, ३. पर्णित बादर एकेन्द्रिय, ४. अपर्णित बादर  
एकेन्द्रिय, ५. पर्णित द्वीन्द्रिय, ६. अपर्णित द्वीन्द्रिय, ७. पर्णित वीन्द्रिय,  
८. अपर्णित वीन्द्रिय, ९. अपर्णित चतुरिन्द्रिय, १०. अपर्णित असंज्ञी  
पंचेन्द्रिय और ११. अपर्णित संज्ञी पंचेन्द्रिय... इन ग्यारह जीवस्थानों में  
‘मद्दसुय - अन्नाण अचक्खुदंसण’—मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और  
अचक्खुदर्शन, यह तीन उपयोग होते हैं। यथाक्रम से जिसका स्पष्टी-  
करण इस प्रकार है—**

१. तुलना कीजिये—

एवारसेसु ति ति य दोसु चउक्कं च बारमेवकम्म ।

जीवसमासस्तेवे उबओगलिही मुणोयच्चा ॥

—दिग्, पंचसंग्रह ४/२१

पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि पूर्वोक्त ग्यारह जीवस्थानों में मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान अचक्षुदर्शन ये उपर्योग कार्यप्रयोगिकों के मतानुसार हैं, सेहान्तिक मत के अनुसार नहीं तथा वहाँ अपर्याप्त का अर्थ लक्ष्मि-अपर्याप्त समझना चाहिए।<sup>१</sup> अन्यथा करण-अपर्याप्त लक्ष्मि-अपर्याप्त में इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के बाद चक्षुदर्शन भी होता है। करण-अपर्याप्त संज्ञी को तो मति, श्रुत, व्यष्टिज्ञान, अवधिदर्शन और विचारज्ञान भी होता है।

सिद्धान्त के मतानुसार तो सभी प्रकार के एकेन्द्रियों में, चाहे वे बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त हों—पहला मिथ्यास्व गुणस्थान ही होता है। किन्तु द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरन्द्रिय और असंखी पञ्चन्द्रिय, इन चार अपर्याप्त जीवस्थानों में पहला, दूसरा ये दो गुणस्थान होते हैं। साथ ही सिद्धान्त में दूसरे गुणस्थान के समय मति आदि को अज्ञान रूप न मानकर ज्ञान रूप माना है। अतएव सिद्धान्त के मता-नुसार द्वीन्द्रिय आदि उक्त चार अपर्याप्त जीवस्थानों में अचक्षुदर्शन, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, मति-ज्ञान, श्रुत-ज्ञान ये पांच उपर्योग होते हैं। योग में अचक्षुदर्शन, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान यह तीन उपर्योग समझना चाहिए।

१ (क) एते च लक्ष्मिपर्याप्तिकाः, यतः करणपर्याप्तिकेऽन्द्रियपर्याप्तिः सत्त्वौ तेषां चक्षुदर्शनं अवति।

—गच्छसंग्रह ११८ स्वोऽज वृत्ति

(ख) दिग्म्बर कार्यप्रयोगिकों का भी यही अभिमत है—

महमुज्ज्वल्याणां अचक्षु द्यारसेत् लिप्तीत्।

सूक्ष्म-बादर एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय पर्याप्तापर्याप्ताः एतेऽल्लो, चतु-पञ्चन्द्रिय संक्षेपसंज्ञिः अपर्याप्तस्वयः एव मेकादश जीवसमावेष मतिः श्रुतज्ञाने हैं, अचक्षुदर्शनमेकं, इति त्रयः उपर्योगाः भवति।

—दिग्म्बर गच्छसंग्रह ४/१३

एकेन्द्रिय में माने गए तीन उपयोगों में श्रुत-अज्ञान उपयोग को प्रहरण करने पर जिज्ञानु प्रश्न करता है कि—

प्रश्न—स्पर्शनेन्द्रिय मतिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने से एकेन्द्रियों में मति उपयोग माना जा सकता है, लेकिन भाषा और अवधारणालिंग न होने के कारण उनमें श्रुत उपयोग सम्भव नहीं है। क्योंकि शास्त्रानुसार श्रुतज्ञान उगें कहते हैं जो बोलने की इच्छा वाले अधिकार वचन सुनने वाले को होता है।

उत्तर—एकेन्द्रिय जीवों के स्पर्शनेन्द्रिय के सिवाय अन्य इच्छेन्द्रियों के न होने पर भी वृक्षादि जीवों में पाँचों भाव इन्द्रियों तथा बोलने और सुनने की क्षमता न होने पर भी भावश्रुत ज्ञान का होना शास्त्रसम्मत है। क्योंकि उनमें आहार संज्ञा (अभिलाष) विद्यमान है और वह आहार-अभिलाष क्षुधा केवलीय कर्म के उदय से होने वाला आत्मा का परिणाम विशेष है। अभिलाष शब्द और अर्थ के विकल्प पूर्वक होता है और विकल्प सहित उत्पन्न होने वाले अध्यवसाय का नाम ही श्रुतज्ञान है।

उक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि एकेन्द्रियों में श्रुत उपयोग न माना जाये तो उनमें आहार का अभिलाष नहीं घट सकता है। इसलिये बोलने और सुनने की क्षमता न होने पर भी उनमें अत्यन्त सूक्ष्म श्रुत उपयोग अवश्य मानना चाहिये और शास्त्र में भाषा और अवधारणालिंग वाले को ही भावश्रुत उपयोग बताने का लात्पर्य इतना ही है कि उक्त प्रकार की शक्ति वाले को स्पष्ट भावश्रुत होता है और दूसरों को अस्पष्ट ।<sup>१</sup>

लिंग-अपर्याप्ति संज्ञी पंचेन्द्रिय की अपेक्षा तो मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अचाधुदर्शन यह तीन उपयोग होते हैं, लेकिन करण-

<sup>१</sup> एकेन्द्रियों में भावश्रुत प्राप्ति सम्बन्धी विशेष स्पष्टीकरण के लिए देखिए विशेषावधारकभाष्य गाथा १००-१०५ एवं टीका।

अपर्याप्ति की अपेक्षा उसमें उपयोगों का विचार किया जाये तो मन-पर्यायज्ञान, केवलज्ञान, चक्षुदर्शन और केवलदर्शन इन चार उपयोगों के सिवाय शेष आठ उपयोग माने जायेंगे। मनपर्यायज्ञान आदि चार उपयोग न मानने का कारण यह है कि मनपर्यायज्ञान संघमी जीवों को होता है, किन्तु अपर्याप्ति अवस्था में दृष्टि संभव नहीं है तथा चक्षुदर्शन चक्षुरिन्द्रिय वालों को होता है और चक्षुरिन्द्रिय के व्यापार की अपेक्षा रखता है, लेकिन अपर्याप्ति अवस्था में चक्षुरिन्द्रिय का व्यापार नहीं होता है। केवलज्ञान और केवलदर्शन यह दो उपयोग कर्मक्षयजन्य हैं, किन्तु अपर्याप्ति दशा में कर्मक्षय होना संभव नहीं है। इसी कारण संज्ञी पञ्चिन्द्रिय जीवों के अपर्याप्ति अवस्था में मनपर्यायज्ञान, केवलज्ञान, चक्षुदर्शन और केवलदर्शन यह चार उपयोग नहीं होते हैं। किन्तु आठ उपयोग इसलिए माने जायेंगे कि तीर्थकर तथा सम्पूर्णित देव, नारक आदि को उत्पत्ति के क्षण से ही मति, श्रुति, अवधिज्ञान और अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन ये पाँच उपयोग होते हैं तथा मिथ्यादृष्टि देव, नारक को जन्म समय से ही मति-श्रुति-अवधि-ज्ञान और दो दर्शन होते हैं। दोनों प्रकार के जीवों में (सम्पूर्णित, मिथ्यादृष्टि में) दो दर्शन समान हैं। अतः उनकी पुनरावृत्ति न करने से आठ उपयोग माने जाते हैं।

१ दिग्भूत कार्यप्रधिकों ने अपर्याप्ति दशा में सात उपयोग माने हैं। विभंगज्ञान को प्रहण नहीं किया है—

गवरि विभंगं पात्राणं पञ्चिन्द्रियं समिष्ठपुण्ड्रेव ।

—गोमटसार जीवकांड, गाथा ३००

लेकिन यह सात उपयोग मानने का भत भी सर्वसम्भव नहीं, किन्तु किसी आचार्यों ने माना है—

पञ्चेन्द्रियसंज्ञयपर्याप्तिकजीवेषु मतिश्रुतावधिदिकं, मतिज्ञानं, श्रुतज्ञानं, अवधिद्रिकं अवधिज्ञानदर्शनद्रियं चकारात् अचक्षुदर्शनं इति पाँच उपयोगः ।

‘पञ्जस चतुर्पिंशिसु रात्रकल्प’ अपर्याप्ति पर्याप्ति अतुरिन्द्रिय और पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय में चक्षुदर्शन सहित पूर्वोक्ता तीन मिलाकर चार उपयोग होते हैं। यानी चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन तथा मति-अज्ञान, श्रुति-अज्ञान यह चार उपयोग होते हैं। इन चार उपयोगों के होने का कारण यह है कि इनके पहला मिथ्यात्मा गुणस्थान होता है तथा आवरण की संधनता से चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन के सिवाय अन्य दर्शनोपयोग तथा मति-अज्ञान और श्रुति-अज्ञान के सिवाय अन्य ज्ञानोपयोग संभव नहीं हैं। इसी कारण पर्याप्त चतुरिन्द्रिय और पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवरथानों में चक्षुदर्शन सहित पूर्वोक्त मति-अज्ञान, श्रुति-अज्ञान और अचक्षुदर्शन, कुल चार उपयोग माने जाते हैं।

अब शेष रहा संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान। इसमें सभी चारह उपयोग होते हैं—सन्तीसु बारसवि। यह कथन सामान्य की अपेक्षा समझना चाहिये, लेकिन विशेषागेक्षा विचार किया जाये तो देव, भारक और तिर्यच, इन तीन गतियों में तो केवलज्ञान, केवलदर्शन और मनपर्यायज्ञान के सिवाय शेष नौ उपयोग होते हैं, मात्र मनुष्यमति में ही बारह उपयोग संभव हैं।<sup>१</sup> केवलज्ञान और केवलदर्शन उपयोग की स्थिति समय मात्र की और शेष छात्रमस्तिक दस उपयोगों की स्थिति अन्तर्भुक्त होती मानी गई है।<sup>२</sup>

- 
- कुमसि-कुश्रुतज्ञानद्वयमिति रात्र केचिद् वदन्ति अपर्याप्तिः अचेन्द्रियसंज्ञी-  
जीवेषु भवन्तीति विशेषव्याख्येयम्। — दि. पंचसंग्रह ४/२३ की टीका
- १ इसमें से छद्मस्थ मनुष्यों के केवलद्विक के सिवाय शेष दस और केवली भगवान के सिफे केवलज्ञान और केवलदर्शन यह दो उपयोग होते हैं।
- २ छात्रमस्तिक उपयोगों की स्थिति अन्तर्भुक्त होने के संबंध में श्रेताम्बर और दिगम्बर भत्त समाजतंत्रीय हैं। संबंधित उल्लेख इस प्रकार है—  
(क) उपयोगस्थितिकालोऽन्तर्भुतं परिमाणः प्रकरणि भवति।

—सम्बाधंभाव्य २/८ की टीका

संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्ति जीवों में सभी बारह उपयोग मानने और छद्मस्थों में उनके क्रमभावी होने अर्थात् दर्शन के पश्चात् ज्ञानोपयोग होने में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है।<sup>१</sup> लेकिन केवली के उपयोग सहभावी हैं या क्रमभावी, इसको लेकर तीन पक्ष हैं।

प्रथम पक्ष सिद्धान्त का है। इसके समर्थक श्री भद्रबाहु खामी, जिनभद्रवणि क्षमाश्रमण आदि हैं। सिद्धान्त में ज्ञान और दर्शन का अलग-अलग करना है तथा उनके केवलदर्शन का शर्तन किया है।<sup>२</sup> आवश्यकनियुक्ति में केवलज्ञान, केवलदर्शन दोनों के भिन्न-भिन्न लक्षण, उनके द्वारा सर्वेविषयक ज्ञान और दर्शन का होना तथा युगपत् दो उपयोगों के होने का निर्णय बताया है। कार्यकि केवलज्ञान और केवलदर्शन के भिन्न-भिन्न आवरण हैं। केवलज्ञान और केवलदर्शन की अनन्तता लक्ष्य की अपेक्षा है, उपयोग की अपेक्षा उनकी स्थिति एक समय की है। उपयोग अपने स्वभाव के कारण क्रमशः प्रवृत्त होते हैं। इसीलिए केवलज्ञान और केवलदर्शन को क्रमभावी और अलग माना जाता है।

द्वितीय पक्ष केवलज्ञान, केवलदर्शन को युगपत् सहभावी मानने वालों का है। इसके प्रस्तावक श्री मल्लदादी आदि तार्किक हैं। उनका मतव्य है—आवरण-कायरूप निमित्त और सामान्य-विशेषात्मक विषय समकालीन होने से केवलज्ञान, केवलदर्शन युगपत् होते हैं। आद्यस्थिक उपयोगों में कार्यकारणभाव या परस्पर प्रतिबंध-प्रतिबंधकभाव

(ख) उपयोगसोऽस्तमूर्तमेव जष्ट्वोत्कृष्टाभ्याम् ।

—तत्त्वार्थभाष्य २/८ की टीका

(ग) योम्मटसार जीवकोड गाथा ६/३५-३५

१ दंसणपुर्व णरण छद्मस्थाणं ण होण्ण उवउम्मा । —इवर्णपृह ४४

२ नाममिम दंसणमिम य एतो गणपरवम्म उवउसा ।

सद्वस्स केवलिस्सा युधवं दो नस्थ उवओगा ॥

—आवश्यकनियुक्ति गाथा ६/३५

घट सकता है, किन्तु क्षायिक उपयोग में यह सम्भव नहीं है। बोध-स्वरूप आत्मा के निरावरण होने पर दोनों क्षायिक उपयोग निरंतर होने चाहिये। केवलज्ञान और केवलदर्शन की सादि-अनन्तता युगपत् पक्ष में ही घट सकती है। क्योंकि इस पक्ष में दोनों उपयोग युगपत् और निरंतर होते रहते हैं। जिसमें द्रव्याधिक नय से उपयोगद्वय के प्रदाह को अनंत कहा जा सकता है। सिद्धान्त में जहाँ कहीं भी केवल-दर्शन और केवलज्ञान के सम्बन्ध में जो कुछ ही कहा गया है, वह सब दोनों के व्यक्तिभेद का साधक है, क्रमभावित्व का नहीं। अतः दोनों उपयोग सहभावी मानने चाहिये।<sup>१</sup>

तृतीय पक्ष उभय उपयोगों में भेद न मानकर ऐक्य मानता है। इसका प्रतिनिधित्व आचार्य सिद्धसेन दिवाकर करते हैं। इसके सम्बन्ध में उनकी युक्तियाँ हैं कि अथायोग्य सामग्री मिलने पर एक ज्ञान-पर्याय में अनेक घट-नटादि विषय भासित होते हैं, उसी प्रकार आवरणकाय, विषय आदि सामग्री मिलने पर एक ही केवल उपयोग पदार्थों के सामान्य-विषेष उभय स्वरूप को जान सकता है। जैसे केवलज्ञान के सभ्य भतिज्ञानावरण आदि का अधाव होने पर भी भतिज्ञान आदि ज्ञान केवलज्ञान से अलग नहीं माने जाते, वैसे ही केवलदर्शनावरण का क्षय होने पर भी केवलदर्शन को केवलज्ञान से अलग नहीं माना चाहिये। विषय और क्षयोपशम की विभिन्नता के कारण छाद्यस्थिक ज्ञान और दर्शन में भेद मान लेकिन अनन्त विषयत्व और क्षयिक भाव समान होने में केवलज्ञान, केवलदर्शन में भेद नहीं माना जा सकता है तथा केवलदर्शन को यदि केवलज्ञान से अलग माना जाये

१ दिग्म्बर साहित्य में इसी युगपत् उपयोगद्वय पक्ष को स्वीकार किया है—

शुभार्द वट्टदृष्ट आर्ण केवलणाणिस्स दंसर्ण च सहा ।

दिग्म्बरस्यासत्तापं वह वट्टदृष्ट तह युग्मेयव्वं ॥

तो वह सामान्य मात्र को विषय करने वाला होने से अल्पविषय सिद्ध होगा तब उसकी अनन्त विषयता घट नहीं सकेगी। केवलकर्जन और केवलज्ञान सम्बन्धी आवरण एक होने पर भी कार्य और उपाधि भेद की अपेक्षा से उसका भेद समझना चाहिए, जिसमें एक उपयोग व्यवित्र में ज्ञानत्व-दर्शनत्व दो धर्म अलग-अलग कहलाते हैं। परन्तु दोनों अलग-अलग नहीं हैं। दोनों जड़दार्याय एकार्थवाची हैं।

केवली में उपयोग विषयक उक्त तीनों भंतव्यों में से कार्मग्राहियिकों ने सिद्धान्तभत्त को स्वीकार करके क्रमभावी माना है—

‘संज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु त्रादशोपयोगा भवति, अविशब्दाद्विद्यमानतया नशुण्योगेन, उपयोगस्वेकर्त्यै एव भवति, यत उक्तभागमे—

‘सञ्चालन केवलिस्तर्वि जुगर्व दो नत्य उक्तभोगा इति वचनात्।’<sup>१०</sup>

इस प्रकार से जीवस्थानों में उपयोगों का कथन समझना चाहिये।<sup>११</sup> सरलता से समझने के लिए जीवस्थानों में प्राप्त घोगों और उपयोगों के प्रारूप इस प्रकार हैं—

क्र० सं०	जीवस्थान नाम	योग संख्या व नाम
१	सूक्ष्म एकेन्द्रिय अप०	२ कार्मण, औदारिकमिश्र काययोग
२	सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्ति	१ औदारिक काययोग
३	बादर एकेन्द्रिय अप०	२ कार्मण, औदारिकमिश्र काययोग
४	“ “ पर्याप्ति	३ औदारिक, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र

१ वंचसंग्रह स्वैरपजवृत्ति, ए. १०

२ दिगम्बर कार्मग्राहियिकों द्वारा किये गये जीवस्थानों में उपयोग के निर्देश को परिज्ञान में देखिये।

क्र० सं०	जीवस्थान नाम	योग संख्या व नाम
५	हीन्द्रिय अपर्याप्ति	२ कार्मण, औदारिकमिश्र
६	,, पर्याप्ति	२ औदारिक, असत्यामृषादचन
७	बीन्द्रिय अपर्याप्ति	२ कार्मण, औदारिकमिश्र
८	,, पर्याप्ति	२ औदारिक, असत्यामृषादचन
९	चलुरिचिल अपर्याप्ति	२ कार्मण, औदारिकमिश्र
१०	,, पर्याप्ति	२ औदारिक, असत्यामृषादचन
११	असं० पंच० अपर्याप्ति	२ कार्मण, औदारिकमिश्र
१२	,, ,, पर्याप्ति	२ औदारिक, असत्यामृषादचन
१३	संज्ञी पंच० अपर्याप्ति	३ कार्मण, औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र
१४	,, ,, पर्याप्ति	१५ सत्यमनोयोग आदि कार्मण काययोग पर्यन्त सभी

१ मतुसार से जीवस्थानों में काययोग के भेदों को इस प्रकार जानना चाहिये—

इन चौथह जीवस्थानों में से अपर्याप्ति सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि सात में शारीर-पर्याप्ति पूर्ण करने से पहले यथायोग्य औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र काययोग और शारीरपर्याप्ति पूर्ण कर लेने के बाद औदारिक, वैक्रिय काययोग होता है। अतः इस मत के अनुसार सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि छह अपर्याप्ति जीवस्थानों में कार्मण, औदारिकमिश्र औदारिक यह तीन काययोग और अपर्याप्ति संज्ञी पंचेन्द्रिय में कार्मण, औदारिकमिश्र, औदारिक, वैक्रियमिश्र, वैक्रिय यह पाँच काययोग माने जायेंगे।

क्र० सं०	जीवस्थान नाम	उपयोग संख्या, नाम <sup>१</sup>
१	सूक्ष्म एकेन्द्रिय अप०	३ मतिअ०, श्रुतअ० अचक्षुदर्शन
२	सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्ति ३	" " "
३	बादर एकेन्द्रिय अप०	" " "
४	" " पर्याप्ति ३	" " "
५	द्वीन्द्रिय अपर्याप्ति ३	" " "
६	" पर्याप्ति ३	" " "
७	द्वीन्द्रिय अपर्याप्ति ३	" " "
८	" पर्याप्ति ३	" " "
९	चतुरन्द्रिय अपर्याप्ति ३	" " "
१०	" पर्याप्ति ४	" " " चक्षुदर्शन
११	असं० पञ्चे० अपर्याप्ति ३	" " "
१२	" " पर्याप्ति ४	" " " चक्षुदर्शन
१३	संज्ञी पञ्चे० अपर्याप्ति <sup>२</sup> ३	" " "
१४	" " पर्याप्ति १२ मतिज्ञान आदि केवलदर्शन पर्यन्त	

१ सिद्धान्त के अनुसार जीवस्थानों में उपयोग इस प्रकार जातमा आहिए—  
अपर्याप्ति द्वीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, चतुरन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय, इन सार जीवस्थानों में अचक्षुदर्शन, मति-ज्ञान, श्रुत-ज्ञान, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान ये पांच उपयोग होते हैं।

२ करण-अपर्याप्ति की अपेक्षा संज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्ति में केवल शृंखला, अनपर्याप्ति और चक्षुदर्शन के सिवाय केवल आठ उपयोग समझना आहियेते।

## मार्गणास्थानों में योग

निर्देशानुसार जीवस्थानों में योग और उपयोग का विवेचन करने के पश्चात् अब क्रमप्राप्त मार्गणास्थानों में योगों और उपयोगों का कथन करना इष्ट है। इनमें योगों का क्रम प्रथम है अथ. उन्हीं का विचार प्रारम्भ करते हैं—

इगिविगलथावरेसु न मणो दो भेष केवलदुगम्मि ।

इगिथावरे न वाया विगलेसु असच्चभोसेव ॥६॥

सच्चा असच्चभोसा दो दोसुवि केवलेसु भासाओ ।

अंतरगड़ केवलिएसु कम्मयन्नत्थ तं विवर्ण्णाए ॥१०॥

मणनाणविभगेसु मीसं उरलंपि नारयसुरेसु ।

केवलथावरविगले वेउविदुरं न संभवइ ॥११॥

आहारदुरं जायड चोदसपुविवस्स इदं विसेसणओ ।

मण्युयगइपचेदियमाइएसु समईए जोएज्जा ॥१२॥

शब्दाथं—इगिविगलथावरेसु—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और स्थावरों में, न—नहीं, मणो—मनोयोग, दो भेष—दो भेद, केवलदुगम्मि—केवल-द्विक में, इगिथावरे—एकेन्द्रिय और स्थावरों में, न—नहीं, वाया—वचन-योग, विगलेसु—विकलेन्द्रियों में, असच्चभोसेव—असत्यामृषा ही।

सच्चा—सत्य, असच्चभोसा—असत्यामृषा, दो—दो, दोसुवि—दोनों ही, केवलेसु—केवल मार्गणाओं में, भासाओ—भाषायें (वचनयोग), अन्तरगड़—अन्तरगति (विश्रहगति), केवलिएसु—केवलि (केवलिसमुद्र-चात) में, कम्मय—कामंणयोग, अन्तरथ—अन्यत्र, तं—वह, विवर्ण्णाए—विवर्णा से।

मननाशविभर्त्तेसु—मनस्यर्यज्ञान और विभंगज्ञान मार्गणा में, भीत्र मिश्र, उरले पि औदारिक भी, नार्यसुरेसु—नरक और देवगति में, केवल केवलट्रिक, स्थावर, विश्वे विकलेन्द्रियों में, वेद-विकृतुंग—वैक्रियट्रिक, न महीं, संभवड—होते हैं।

आहारकुर्म—आहारट्रिक, जायड होते हैं, खोद्दमपुच्छस्स—चौदह पूर्वी को, इह इस, विशेषणओं विशेषण में, मनुष्यगति, वंचेन्द्रियमाहेषु—पंचेन्द्रिय आदि मार्गणाओं में, समझें—अपनी बुद्धि से, जोएजना—योजना कर लेना चाहिए।

गाथार्थ—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और स्थावरों में मनोयोग नहीं होता है। केवलट्रिक मार्गणा में मनोयोग के दो भेद नहीं होते हैं। एकेन्द्रिय और स्थावरों में वचनयोग नहीं होता और विकलेन्द्रियों में असत्यमृता वचनयोग ही होता है।

केवलट्रिक मार्गणा में सत्य और असत्यमृता यह दो वचनयोग होते हैं। विश्वहरणति और केवलिसमूद्घात में कार्ययोग होता है, अन्यत्र वह विवक्षा में जानना चाहिए।

मनयर्याय और विभंगज्ञान मार्गणा में औदारिक मिश्रयोग संभव नहीं है। नरक देव भूति में औदारिक कायथयोग व केवलट्रिक, स्थावर और विकलेन्द्रियों में वैक्रियट्रिक योग नहीं होते हैं।

आहारकट्रिक चौदह पूर्वधारी को ही होते हैं, अतः इस विशेषण में मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय आदि मार्गणाओं में जहाँ चौदह पूर्वधर संभव हों, वहाँ स्वचुद्धि ले उनकी योजना कर लेना चाहिए।

विशेषार्थ—प्रथकार आचार्य ने इन चार गाथाओं में विधिनिषेध प्ररूपण शैली के द्वारा मार्गणाओं में योगों की शोजना की है और मार्गणाओं के नाम एवं अवाल्लर भेद आदि आगे बतलाए हैं।<sup>१</sup> केकिन सुविद्धा की हड्डि से यहाँ उनके भेद आदि को जानना उपयोगी होने

से पहले मार्गणाओं के भेद और उनके लक्षण बतलाते हैं।

### मार्गणा के भेद

संक्षेप में मार्गणा का लक्षण पहले बतलाया जा चुका है कि समस्त जीव जिन भावों के द्वारा और जिन पर्यायों में अनुमार्गण किये जाते हैं, उन्हें मार्गणा कहते हैं।

लोक में विद्यमान जीवों के अन्वेषण का मुख्य आधार है बाह्य आकार-प्रकार की अवस्था विशेष और उनमें विद्यमान विकालाद्य-स्थायी भावों का समन्वय। यद्यपि शास्त्रों में जीवों के अन्वेषण के लिए मार्गणा के अतिरिक्त और दूसरे भी दो प्रकार बताये हैं—जीव-स्थान और गुणस्थान। जीवस्थानों के द्वारा जीवों का जो अनुमार्गण किया जाता है, वही सिर्फ बाह्य आकार-प्रकार और अवस्था की अपेक्षा मुख्य है और उनके आधार हैं शारीरधारी संसारी जीव। जिससे इस अन्वेषण में उन जीवों के आत्मिक भावों का ग्रहण-बोध नहीं हो पाता है और गुणस्थानों में सिर्फ भावों की अपेक्षा किये जाने वाले अनुमार्गण से शारीर, इन्द्रिय आदि बाह्य आकार-प्रकार की विभिन्नता रखने वाले जीवों का ग्रहण नहीं होता है। लेकिन मार्गणा-स्थानों की उभयदृष्टि है। जिससे उनके द्वारा किये जाने वाले अन्वेषण की ऐसी विशेषता है कि बाह्य शरीर आदि आकार-प्रकार और भावों से युक्त सभी प्रकार के जीवों का ग्रहण-अन्वेषण हो जाता है। इसीलिये मार्गणास्थानों की कुछ विशेषता के साथ व्याख्या की जाती है।

जीव राशि अनन्त है। उन अनन्त जीवों में से जो जीव सकर्मी होकर संसार में परिग्रहण कर रहे हैं, उन्हें संसारी और कर्मरहित संसारतीत जीवों को मुक्त कहते हैं। इस प्रकार की भिन्नता होने

पर भी समस्त जीव ज्ञान-दर्शन आदि बात्युणों और किसी न किसी अवस्था-पर्याय में विद्यमान हैं। यद्यपि मुक्त जीव वर्तमान में पर्याय-तीत हो चुके हैं, उनमें पर्याय-अवस्थाजन्य भेद नहीं है। इन्द्रिय, वेद आदि भी नहीं रहे हैं, लेकिन भूतपूर्वप्रज्ञापनन्द जीव की अपेक्षा पर्याय का आरोप करके उनकी भी पर्यायवान मान लिया जाता है।

प्रस्तुत में संसारी जीवों का प्रसंग है। इसीलिये उनके अनुमार्गण और उनकी समस्त पर्यायों पर उनमें किलानन् आदि का समावेश करने के लिये मार्गणा के निम्नलिखित चौदह भेद किये गये हैं—

१. गति, २. इन्द्रिय, ३. काय, ४. योग, ५. वेद, ६. कथाय, ७. ज्ञान, ८. संयम, ९. दर्शन, १०. लेश्या, ११. भव्य, १२. सम्यक्त्व, १३. संशी और १४. आहारक ।<sup>१</sup>

ऐ मार्गणाओं के मूल-भूख्य चौदह भेद हैं। जिनमें समस्त जीवों का समावेश हो जाता है। लेकिन संसारी जीवों में गति, इन्द्रिय, काय, ज्ञान आदि जन्य अनेक प्रकार की विभिन्नतायें देखी जाती हैं। इसलिये उनकी अनेक प्रकार की विभिन्नताओं का समावेश करने और उनका व्योध करने के लिये प्रत्येक मार्गणा के अवान्तर भेद कर लिये जाते हैं। उन भेदों के नाम सहित प्रत्येक मार्गणा का लक्षण इस प्रकार है—

१— गतिमार्गणा—कर्मप्रधान जीव (संसारी जीव) के द्वारा जो प्राप्ति की जाती है, अर्थात् नरक, देव आदि रूप में आत्मा का जो परिणाम, उसे गति कहते हैं।<sup>२</sup> अथवा गति नामकर्म के उदय से होने

<sup>१</sup> गोमटसार जीवकांड में भी मार्गणा के चौदह भेदों के नाम इसी प्रकार से बतलाये हैं—

गद्दैदियेसु काये जोगे वेदे कसायणाणे य ।

संज्ञमदंसणलेस्सा भविता सम्मत सण्णि आहारे ॥१४३

<sup>२</sup> लत्र गच्छते तथाविष्वकर्मसचिवैर्जीवैः प्राप्यते इति गतिः । नरकात्मादिग्रस्ति परिणतिः । —पंचसंब्रह्म मलयगिरि टीका पृ. १०

आली जीव की पश्चिमिक्षेप को गति कहते हैं। उसके आर भेद है—  
१. नारकगति, २. तिर्यक्षगति, ३. मनुष्यगति, और ४. देवगति ।<sup>१</sup>

२. इन्द्रियमार्गणा—इन् धातु परम ऐश्वर्य का बोध कराने के अर्थ में प्रयुक्त होती है। अतः 'इन्द्रजाशिन्द्र' अर्थात् परम ऐश्वर्य जिसमें हो उसे इन्द्र कहते हैं। आत्मा में ही उत्कृष्ट ज्ञान, दर्णन, सामर्थ्य आदि का योग हीनि से आत्मा ही इन्द्र है। उसका जो लिङ-चिह्न, उसे इन्द्रिय कहते हैं। इन्द्रियों के पांच भेद हैं—१. स्पर्शन, २. रसन, ३. घ्राण, ४. चक्षु और ५. शोक्त ।<sup>२</sup>

इन्द्रियों का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होने से इन्द्रियों के ग्रहण से तथा रूप स्व-स्व योग्य इन्द्रिय वाले एकेन्द्रिय आदि जीवों का ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि इन्द्रियबान आत्माओं में ही योगादि का विचार किया जाता है। इस अपेक्षा से इन्द्रियमार्गणा के पांच भेद हैं—१. एकेन्द्रिय, २. द्विन्द्रिय, ३. त्रीन्द्रिय, ४. चतुरन्द्रिय और ५. पंचेन्द्रिय ।

३. कायमार्गणा—‘नीयते इति काय’—पुद्गलों के मिलने-बिखरने के द्वारा जो चय-उत्तय धर्म को प्राप्त करे उसे काय कहते हैं। अथवा जाति नामकर्म के अविनाभावी लक्ष और स्थावर नामकर्म के उदय से होने वाली आत्मा की पर्याय को काय कहते हैं। उसके छह भेद हैं—१. पृथ्वीकाय, २. जलकाय, ३. तेजस्काय, ४. आयुकाय, ५. वस्त्रस्पतिकाय, ६. लक्षकाय ।

४. योगमार्गणा—मन-ब्रह्म-काय से युक्त जीव की जो कर्मों के ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति है, उसे योग कहते हैं। अथवा

<sup>१</sup> नारकतैर्योग्योभ्यानुष्ठेवानि ।

—तत्त्वार्थसूत्र न/१०

<sup>२</sup> स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुशोक्तया ।

—तत्त्वार्थसूत्र २/१४

वीर्यशक्ति के जिस परिस्पन्दन से—आत्मिक प्रदेशों की हलचल से जीव की भोजन, गमन आदि विधायें होती हैं, उसे योग कहते हैं। योग का विस्तार से पूर्व में विचार किया जा चुका है, तबनुसार यहाँ समझ लेना चाहिए। योग के सामान्य से तीन भेद हैं—१. मनोयोग, २. बद्धनयोग, ३. काययोग और उनके क्रमशः थार, थार और सात अव्यान्तर भेद होने से योगों के पन्द्रह भेद होते हैं।

५. वेदभाग्यणा—‘वेदते इति वेदः’—जिसके द्वारा इतिहासजन्य संयोगजन्य सुख का वेदन—अनुभव किया जाये, उसे वेद कहते हैं। वेद अभिलाषा रूप है। उसके तीन भेद हैं—१. स्त्रीवेद, २. पुरुषवेद, ३. नपुंसकवेद।<sup>१</sup>

६. कथायमार्गणा—जिसमें प्राणी परस्पर दण्डित-दुखी हों, उसे कथा यानी संसार कहते हैं। अतः जिसके द्वारा जात्मायें संसार को प्राप्त करें, उसमें ऋषण करें, दुःखी हों, उसे कथाय कहते हैं। कथाय के चार भेद हैं—१. क्रोध, २. मान, ३. माया और ४. लोभ।<sup>२</sup>

७. ज्ञानमार्गणा—जिसके द्वारा जाना जाये उसे ज्ञान कहते हैं। अर्थात् जिसके द्वारा जीव विकालविषयक—भूत, भविष्य और वर्तमान काल सम्बन्धी समस्त द्रव्य और उनके गुणों व पर्यायों की जाने वह ज्ञान है। ज्ञान के ग्रहण से उसके प्रतिपक्षी अज्ञान का भी ग्रहण कर लेना चाहिए। अतः पांच ज्ञान और तीन अज्ञान, इस प्रकार इसके आठ भेद हैं। जिनके नाम हैं—१. मतिज्ञान, २. श्रूतज्ञान, ३. अवधिज्ञान, ४. मनवर्यायज्ञान, ५. केवलज्ञान, ६. मति-अज्ञान, ७. श्रूत-अज्ञान, ८. विर्भगज्ञान।

८. संथममार्गणा—संथम अर्थात् त्याग, सम्यक् प्रकार से विराम

<sup>१</sup> स्त्रीपुन्त्रपुंसकवेदः।

—तत्त्वार्थसूत्र ८/११

<sup>२</sup> क्रोधभानमायाजोभाः।

—तत्त्वार्थसूत्र ८/१०

लेना, विरत होना, शदा और ज्ञानपूर्वक सर्वथा पापव्यापार का त्याग करना संयम अथवा चारित्र कहलाता है। उसके पांच भेद हैं—  
१. सामायिक, २. धेदोपस्थापना, ३. परिहारविशुद्धि, ४. सूक्ष्म-संपराय ५. यथारूपता।<sup>१</sup>

संयम के ग्रहण से उसके प्रतिपक्षभूत और आंशिक का भी ग्रहण करना चाहिये। अतः १. असंयम और २. देशसंयम का ग्रहण करने से संवधमार्गणा के कुल सात भेद हैं।

६. वशनमार्गणा—वर्णन अवस्था देखना। अथवा सामान्य-विशेषात्मक वस्तु के विषय में जाति, गुण, लिंग, किंवा की अपेक्षा के बिना सामान्यमात्र जो व्योध, उसे दर्शन कहते हैं। उसके बार भेद है—१. अक्षुरदर्शन, २. अचक्षुदर्शन, ३. अवधिदर्शन, ४. केवजदर्शन।<sup>२</sup>

१०. लेश्यामार्गणा—जिस परिणाम के द्वारा आत्मा का कर्मों के साथ स्वेषण-चिपकना होता है, उसे लेश्या कहते हैं।<sup>३</sup> योगान्तर्गत कृष्णादि द्रव्य के योग से हुआ आत्मा का जो सुभाष्यम् परिणामविशेष लेश्या कहलाता है। लेश्या के छह भेद है—१. कृष्ण, २. नील, ३. काषोत, ४. तैजस्, ५. पद्म और ६. शुक्ल लेश्या।<sup>४</sup>

१ सामायिकच्छिदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसंपराययथाल्यासमितिचारित्रम् ।

—तत्त्वार्थसूत्र ८ । १८

सामायिक आदि यथारूपता पर्यन्त पांच चारित्रों का सामान्य परिचय परिशिष्ट में दिया है।

२ अक्षुरव्यक्तुर्यथेकेवलानां ।

—सत्त्वार्थसूत्र ८/७

३ लिष्वते लिष्वते आत्मा कर्मणा सहानयेति लेष्या ।

—पंचसंघ्रह मलवगिरि टीका यू. १२

४ योग के साथ लेश्याओं का अन्यथ-व्यक्तिरेक संबन्ध है। क्योंकि योग के सद्भाव रहने तक लेश्याओं होती हैं और योग के अभाव में अधोग्नि अवस्था में नहीं होती हैं। इस प्रकार लेश्याओं का अन्यथ-व्यक्तिरेक संबन्ध योग के साथ होने से लेश्याओं योगान्तर्गत द्रव्य हैं, यह समझना चाहिये।

**११. अव्यवस्थामार्गणा**—तथारूप अनादि पारिणामिकभाव द्वारा भोक्षणमन के योग्य जो आत्मा उसे भव्य<sup>१</sup> और तथाप्रकार के अनादि पारिणामिकभाव द्वारा मोक्षागमन के जो आत्मा अयोग्य उसे अभव्य कहते हैं। यहाँ भव्य के ग्रहण से उसके प्रतिपक्षभूत अभव्य का भी ग्रहण करना चाहिये। इसके दो भेद हैं—१. भव्य, २. अभव्य।

**१२. सम्यक्त्वमार्गणा**—सम्यक् शब्द प्रशंसा अथवा अविरुद्ध अर्थ का व्योतक है। अतः सम्यक् जीव का भाव—परिणामविषेष सम्यक्त्व कहलाता है। सम्यक्त्व के तीन भेद हैं—१. कायिक, २. ज्ञायोग्यामिक, ३. वौपशामिक।<sup>२</sup> सम्यक्त्व के ग्रहण से उसके प्रतिपक्षी १. मिथ्यात्व, २. सासादन और ३. मिथ (सम्यग्-मिथ्यात्व) का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। इस प्रकार उत्तरात्मकमार्गणा के छुत यह भेद है।

**१३. संज्ञीमार्गणा**—जिसके द्वारा पूर्वाधार का विचार किया जा सके, उसे संज्ञा कहते हैं। संसारी जीवों के पास विचार करने का साधन मन है। अतः मन वाले जीवों को संज्ञी और उनके प्रतिपक्षी मनरहित जीवों—एकेन्द्रियादि जीवों को असंज्ञी कहते हैं। इसके दो भेद हैं—१. संज्ञी और २. असंज्ञी।

**१४. आहारमार्गणा**—ओज, लौम और कवल, इन तीन प्रकार के आहार में से किसी भी प्रकार का आहार जो करता है उसे आहारी—आहारक<sup>३</sup> और इन तीनों में से एक भी प्रकार का आहार जो नहीं

१ भव्यस्तथारूपानादिपारिणामिकभावात्मद्विमनयोग्यः।

—पञ्चसंग्रह भलयगिरि टीका पृ. १२

२ तीनों प्रकार के सम्यक्त्व का विशेष स्वरूप उपगमनाकरण में देखिये।

सम्यक्त्व की प्राप्तिविषयक अर्थ का सारांश परिचित्र में दिया है।

३ ओजोलौमप्रस्तोपाहाराणामन्यतममाहारयतीत्याहारकः।

—पञ्चसंग्रह भलय, टी, पृ. १३

करता है उसे अनाहारक...अनाहारी कहते हैं। आहारी के ग्रहण से उसके प्रतिपक्षी अनाहारी का भी ग्रहण किये जाने से आहारमार्गण के दो भेद इस प्रकार हैं—१. आहारी और २. अनाहारी।

शैदारिक आदि सीन शरीरों और आहार, शरीर आदि छह पर्याप्तियों के गोप्य अवयव उपभोग्य शरीर के गोप्य पुद्गलों के ग्रहण करने की आहार कहते हैं।

दिगम्बर साहित्य में (गोमटशार जीवकांड में) आहार का लक्षण इस प्रकार वराया है—

उदयावर्णसरीरोदयेण तद्देहवयणचित्ताणि ।

षट्कस्पृश्माणाणे ग्रहणं आहारयं ताम ॥ ५६३

शरीर निर्भकर्म के उदय से पारीर, वचन और द्रव्यमन् रूप बनने के गोप्य लोकर्मवर्णणा का जो ग्रहण होता है, उसे आहार कहते हैं।

ओज-आहार आदि के लक्षण इस प्रकार हैं—

सरिरेणोशाहारो तथाह फासेण सोमशाहारो ॥

पक्षेवाहारो पुण कवलिथो होह भायबो ॥

—प्रबचनसारोद्धार या, ११८०

गर्भ में उत्पन्न होने के समय जो शुक-शौणित रूप आहार कार्मण शरीर के द्वारा ग्रहण किया जाता है, उसे ओज-आहार, स्पर्जनेन्द्रिय द्वारा जो ग्रहण किया जाता है, उसे लोम और जो अन्न आदि खाद्य मुख द्वारा ग्रहण किया है, उसे कवलाहार (प्रक्षेपाहार) कहते हैं।

दिगम्बर साहित्य में आहार के छह भेद बताये हैं—

प्रोक्षमकम्भातो कवलाहारो य लेण्माहारो ।

बोजमणो विय कमसो आहारो छविद्वहो षेयो ॥

—प्रभेयकम्लमार्तण्ड, द्वितीय परिलेख

लोकर्म, कर्म, कवल, सेव्य, ओज और भासम, आहार के क्रमाणां में छह भेद हैं।

इस प्रकार मार्गणाओं के मूल चीदह भेद और उनके अवान्तर भेदों की कुल संख्या बासठ जानना चाहिये—सति ४, इन्द्रिय ५, काय ६, थोग ३, वेद ३, कषाय ४, ज्ञान ८, संथम ७, वर्णन ४, लेख्या ६, अर्थ २, सम्यक्त्व ६, संज्ञी २, आहार २। इन सब भेदों की संख्या मिलाने पर मार्गणाओं के उत्तर भेद बासठ होते हैं।

### मार्गणाओं में थोग

अब इनमें से कतिपय मार्गणाओं में विधिमुखेन और कुछ एक में प्रतिषेधमुखेन थोगों का निर्देश करते हैं।

थोगों के मूल तीन भेद हैं—मनोयोग, वचनयोग और काययोग। इनके क्रमशः चार, चार और सात अवान्तर भेदों के लक्षण सहित नाम पूर्व में बतलाये जा चुके हैं।

उनमें से मनोयोग के चार भेद कीन-कीनसी मार्गणाओं में संबंध हैं और किनमें मूलतः नहीं हैं। इन नोगों की स्पष्ट करने के लिये गाथा में पहले दिया है ‘इग्निग्लवथावरेसु न मणो’ अर्थात् इन्द्रियमार्गणा के पांच भेदों में से एकेन्द्रिय, विकलविक-हीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय तथा कायमार्गणा के स्थावर रूप पृथ्वी, अग्नि, तेज, वायु और वन-स्थिति कायरूप पांच भेदों में मनोयोग नहीं होता है। अर्थात् इनमें मूलतः मनोयोग न होने से उसके सत्य, असत्य आदि चारों भेदों में से एक भी भेद नहीं पाया जाता है तथा उपलक्षण से समझका असंज्ञी और अनाहारक इन दो मार्गणाओं में भी मनोयोग सर्वथा नहीं पाया जाता है।

सारांश यह है कि इन्द्रियमार्गणा के एकेन्द्रिय आदि चतुरिन्द्रिय तक के चार भेदों, कायमार्गणा के पृथ्वीकाय आदि अनस्पतिकाय पर्यन्त के पांच भेदों, संज्ञीमार्गणा के भेद असंज्ञी तथा आहारमार्गणा के भेद अनाहारक, इन ग्यारह मार्गणाओं में मनोयोग के चार भेदों में से एक भी नहीं होता है।

विधिमुखेन उक्त कथन का यह आशय फलित होगा कि मार्गणाओं के बासठ अवान्तर भेदों में से ग्यारह में तो मनोयोग मूलतः ही

नहीं होता है और शेष इक्षयावन भेदों में मनोयोग पाया जाता है। लेकिन सामान्य से इनमें मनोयोग पाये जाने पर भी उल्लङ्घेदों की अपेक्षा कुछ अपवाह है। जिनको स्पष्ट किया है 'न मणो दो भेय केवल-  
दुर्गमि' अर्थात् केवल द्विक... केवलज्ञान और केवल दर्शन इन दो मार्गणा-  
ओं में असत्य और सत्यासत्य यह दो मनोयोग तो नहीं होते हैं किन्तु  
सत्य और असत्यामृषा मनोयोग होते हैं।

जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—जब कोई अनुत्तर विमान-  
वासी या मनपर्यायज्ञानी अपने स्थान पर रहकर मन से ही केवली से  
प्रश्न पूछते हैं तब उनके प्रश्नों को केवलज्ञान द्वारा जानकर केवलज्ञानी  
मन से ही उनका उत्तर देते हैं, यानी मनोद्रव्य<sup>१</sup> को ग्रहण कर ऐसी रचना  
करते हैं कि जिसमें प्रश्नकर्ता अवधिज्ञान या मनपर्यायज्ञान से जानकर  
केवलज्ञानी द्वारा दिये गये उत्तर को अनुमान द्वारा जान लेते हैं।

मनोद्रव्य को अवधिज्ञान या मनपर्यायज्ञान द्वारा जान लेना स्वा-  
भाविक है, क्योंकि मूर्त्ति रूपी द्रव्य उसका विषय है।<sup>२</sup> यद्यपि मनोद्रव्य  
अत्यन्त सूक्ष्म है, लेकिन जैसे कोई मनोवैज्ञानिक किसी के चेहरे के  
भावों को देखकर उसके मनोभावों का अनुमान द्वारा जान कर लेते हैं,  
उसी प्रकार अवधिज्ञानी और मनपर्यायज्ञानी भी मनोद्रव्य की रचना  
देखकर अनुमान द्वारा यह जान लेते हैं कि ऐसी मनोरचना द्वारा अमुक  
अर्थ का चिन्तन किया गया होना चाहिये।

अब वचनयोग के भेदों का विचार करते हैं—

'इमिथावरे न वाया' अर्थात् इन्द्रियमार्गण के भेद एकेन्द्रिय में तथा  
कायमार्गण के पृथ्वी, अप्, सेज, वायु और वनस्पति, इन पांच स्थावर

<sup>१</sup> दिगम्बर साहित्य में भी केवलज्ञानी के द्रव्यमन का संबंध माना है। देखिये  
गोमटसार जीवकांड ग्रन्था २२७, २२८

<sup>२</sup> रूपिष्ठवधे: १ तदनन्तरभागे मनःपर्यायस्सः।

रूप भेदों में तथा उपलक्षण से आहारमार्गण के भेद अनाहारक, इन उ मार्गणाओं में वचनयोग के चारों भेद नहीं होते हैं।

शेष मार्गणाभेदों में वचनयोग के चार उत्तरभेदों में से जो जिसमें पाया जाता है, अब इसकी समाप्ति करते हैं—

‘विग्रेसु असच्चमोसेव’ अर्थात् विकलेन्द्रियो—द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरन्द्रियों, इन्द्रियमार्गण के इन तीन भेदों में तथा उपलक्षण से इनके ही समकक्ष असंजियों में भी असत्यामृषा वचनयोग समझना चाहिए। क्योंकि इनमें वचनयोग की साधन रूप भाषालब्धि होती है, इसलिए इसमें असत्यामृषा वचनयोग होता है।

केवलज्ञान और केवलदर्शन इन दो मार्गणाओं में सत्य और असत्यामृषा यह दो वचनयोग होते हैं, जो केवली भगवान् को देखना देने आदि के समय होते हैं।

पूर्वक के अतिरिक्त जिन मार्गणास्थानों में मनोयोग के चार और वचनयोग के चार भेद होते हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—

गतिमार्गण—नरकादि चारों वहि, इन्द्रियमार्गण—पञ्चेन्द्रिय, कायमार्गण—बसकाय, योगमार्गण—मन आदि तीनों योग और भेदापेक्षा तथा रूप अपना अपना योग, वेदमार्गण—स्त्री आदि तीनों वेद, कषायमार्गण—क्रोधादि चारों कषाय, ज्ञानमार्गण—केवलज्ञान के सिवाय शेष मतिज्ञान आदि सात भेद तथा केवलज्ञान में सत्य, असत्यामृषा नामक मनोयोग-वचनयोगद्वय, संयममार्गण—सामायिक आदि सात भेद, दर्शनमार्गण—चक्षु, अचक्षु और अवधिदर्शन तथा केवलदर्शन में सत्य, असत्यामृषा मनोयोग-वचनयोग, लेश्यमार्गण—कृष्णादि छहों लेश्या, भव्यमार्गण—भव्य अभव्य दोनों भेद, सम्यक्त्व-मार्गण—उपशम सम्यक्त्व आदि छहों भेद, संशीषमार्गण—संशी जीव, आहारमार्गण—आहारी जीव।

इस प्रकार बासठ मार्गणास्थानों में विधि-निषेध प्रणाली से

मनोयोग और वचनयोग के भेदों को बतलाने के पश्चात् अब कायथयोग के सात भेदों का निर्देश करते हैं—

सर्वप्रथम कार्मणकायथयोग के बारे में बतलाते हैं कि 'अंतरग्रह केवलिएसु कम्म' अर्थात् अवान्तरालगति (विश्रहगति) और केवलि-समुद्घात-भवस्था के तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में मात्र कार्मणयोग होता है, लेकिन इसके अतिरिक्त अन्यत्र विवक्षा से समझना चाहिए कि यदि सत्ता रूप में विवक्षा की जाये तो होता है और योग रूप में विवक्षा की जाये तो नहीं होता है। क्योंकि पूर्वोक्त के सिवाय शेष समयों में औदारिकमिश्य या औदारिक आदि शुद्ध कायथयोग होते हैं, लेकिन मात्र कार्मणकायथयोग नहीं होता है।

उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि वैसे तो समस्त संसारी जीव भद्रैव कार्मणशरीर से संयुक्त हैं। चाहे वर्तमान भव हो या भवान्तर हो अथवा इस भव को छोड़कर भवान्तर में जाने का प्रसंग हो, सर्वत्र कार्मणकायथयोग साथ में रहेगा ही और अब इसका अंत हो जायेगा तब जीव के संसार का भी अंत हो जाता है। लेकिन लिखी कार्मण शरीर ही हो, अन्य शरीरों के साथ मिला-जुला होकर संसारी जीवों में न पाया जाये तो इसकी स्पष्ट करते हुए ग्रंथकार आचार्य ने निर्देश किया है—'अन्तरग्रह केवलिएसु कम्म'।

अर्थात् मात्र कार्मणयोग संसारी जीवों में तभी पाया जायेगा जब वे भव से भवान्तर का शरीर प्रहृण करने के लिए यति करते हैं और उत्पत्ति के प्रथम समय तक तथा केवली भगवान् यद्यपि संसार के कालणभूत कर्मों का क्षय कर चुके हैं और अवशिष्ट कर्मों का क्षय हीने पर सदा के लिए संसार का अंत कर देंगे, मुक्त हो जायेंगे। किन्तु आयुस्थिति की अल्पता एवं अन्य कर्मों की कालमयदा अधिक हीने पर आयुस्थिति के बराबर उन शेष कर्मों की कालमयदा करने के लिए जब अष्ट सामयिक केवलिसमुद्घात-प्रक्रिया करते हैं तब उस प्रक्रिया के तीसरे, चौथे और पाँचवें समय से भी मात्र कार्मणयोग पाया जाता है। इन दोनों स्थितियों के सिवाय शेष

सुभय में सहाय प्राप्ति और दैवत विश्वासीय विज्ञान से संसारी जीवों में कार्मण कायथोग का सद्भाव समझना चाहिए ।

अपान्तरालगति और केवलिसमुदधात में भाव कार्मणकायथोग प्राप्त होने के उक्त कथन पर जिज्ञासु पूछता है—

**प्रश्न**—विग्रहगति और केवलिसमुदधात में भाव कार्मण कायथोग पाया जाता हो, लेकिन यहाँ मार्गणास्थानों में योगों की प्रस्तुति की जा रही है तो इन दोनों के किस मार्गण में समावेश किया जायेगा ?

**उत्तर**—यद्यपि यह दोनों साक्षात् मार्गणार्थं नहीं हैं और न मार्गणाओं के अवान्तर भेद है, किन्तु कार्मण कायथोग की विशेष स्थिति बतलाने एवं गति, इन्द्रिय, काय, वेद और संज्ञी जीवों के अपान्तरालगति में भी अपने-अपने नाम से कहलाने के कारण का दोष कराने की हृषि से यह कथन समझना चाहिये । कदाचित् यह कहो कि अपने-अपने नाम वाले कैसे कहलाते हैं ? तो इसका उत्तर यह है कि अपनी-अपनी आयु के उदय के कारण । जैसी कि आगम में उनकी कायस्थिति बतलाई है—

एगिदिवाणर्णता दोपिणसहस्रा सप्तता काथठिनि ।

अयराण इव परिदिसु नरतिरियाणं सगट्ठ भक्ता ॥

पुरिसलं सणित्सं सप्तपुत्रतं तु होइ अयराण ।

थी परियसवपुत्रतं लयुसगसं अणतद्वा ॥

यदि अन्तरालगति में उक्त गति आदि का व्यापरेश प्राप्त न हो तो इतनी कायस्थिति घटित नहीं होती है और उसके घटित न होने से भहान दोष होगा । क्योंकि उस समय में (विग्रहगति में) इन्द्रिय आदि लो होती नहीं हैं । इसलिये यह समझना चाहिये कि सप्रभेद इन पांच मार्गणा दार्शनी जीवों के विग्रहगति में तथा केवली अवस्था में प्राप्त केवलशान, केवलदृश्यन और व्याख्यातसंयम मार्गणाओं में

कार्मण काययोग होता है। अन्यत्र विषयका से सद्भाव, असद्भाव समझना चाहिये। जिन मार्गणाओं में कार्मण काययोग नहीं पाया जाता है, उनके नाम इस प्रकार हैं—चक्षुदर्शन, मनपर्यायज्ञान, विभिंगज्ञान, आहारक मार्गण।

चक्षुदर्शनमार्गण में कार्मणकाययोग न मानने का कारण यह है कि कार्मणकाययोग विश्वहरण में होता है, लेकिन वही चक्षुदर्शन का अभाव है। यद्यपि लिखित की अपेक्षा कहीं भी चक्षुदर्शन पाया जाता है, लेकिन उसका यही विचार नहीं किया जा सकता है। क्योंकि लिखित-अपर्याप्तिक जीवों के मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अचक्षुदर्शन यहीन उपायोग होते हैं। भनपर्यायज्ञान संशो पञ्चेन्द्रिय पर्याप्ति मनुष्यों में पाया जाता है तथा विभिंगज्ञान पर्याप्तिक संज्ञी के होता है, अतः उस समय कार्मणकाययोग संभव नहीं है। आहारक और कार्मण-काययोग में विशेष होने से आहारकमार्गण में भी कार्मणकाययोग नहीं पाया जाता है।

पूर्वोक्त के अतिरिक्त जिन मार्गणाओं में कार्मणकाययोग यथा-संभव पाया जाता है, उनके नाम इस प्रकार हैं—कथायचक्षुषक, लेप्याषट्क, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, मति, श्रुत, अवधिज्ञान, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, भक्ष्य, अभक्ष्य, सम्यग्गृहिणि, मिथ्याहण्ठि।

इस प्रकार से कार्मणकाययोग की संभवता के बारे में विचार करने के पश्चात् अब काययोग के अन्य भेदों के बारे में विचार करते हैं—

‘मणणाणविभग्निसु भीसं उरलपि न संभवइ’—अर्थात् ज्ञानमार्गण के मनपर्यायज्ञान और विभिंगज्ञान इन दो भेदों में कार्मणकाययोग के साथ औदारिकमिश्र काययोग भी नहीं होता है। क्योंकि औदारिक-मिश्र मनुष्य, तिर्यचों को अपर्याप्त अवस्था में पाया जाता है। परन्तु वही ये दोनों ज्ञान नहीं होते हैं और मनपर्यायज्ञान द्वार्य एवं भाव से संयमी साधु को ही होता है और वह भी पर्याप्त अवस्था में।

विभिन्नज्ञान मनुष्य तीनों को अपर्याप्त अवस्था में उत्पन्न ही नहीं होता है। यही जात देव और नारकों के लिये भी समझना चाहिये कि अवधारणीय शरीर वैक्रिय होने से उनमें भी औदारिकमिश्र और औदारिक काययोग नहीं होते हैं तथा गाथा का द्वितीय पादगत 'आदि' शब्द बहुलाधार्थक होने से यह अर्थ समझना चाहिये कि चक्षुदर्शन और अनाहारक मार्गशा में औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र यह तीनों काययोग नहीं होते हैं।

अनाहारक और चक्षुदर्शन में औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र, आहारकमिश्र तीनों काययोग न मानने का कारण यह है कि अनाहारक अवस्था विग्रहगति में पाई जाती है और उस समय सिर्फ कार्यण काययोग होता है किन्तु अन्य कोई औदारिक आदि शरीर नहीं होते हैं। औदारिक आदि शरीर तो शरीरपर्याप्ति के पूर्ण होने के पश्चात् बनते हैं और जब बनते हैं तब कार्यण और औदारिक आदि शरीरों की मिश्र अवस्था संभव है, इसमें पूर्व नहीं। इसीलिये अनाहारक मार्गशा में औदारिकमिश्र आदि तीनों काययोग नहीं माने जाते हैं तथा चक्षुदर्शन में औदारिकमिश्र आदि तीनों काययोग न मानने का कारण यह है कि चक्षुदर्शन अपर्याप्त दशा में नहीं पाया जाता है। अतः ये अपर्याप्तदशाभावी औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र काययोग भी उसमें संभव नहीं हैं।

कदाचित् यह कहा जाये कि अपर्याप्त अवस्था में हिन्दूयपर्याप्ति पूर्णन बन जाने के बाद चक्षुदर्शन मान लिया जाये तो उसमें अपर्याप्त अवस्थाभावी औदारिकमिश्र काययोग का अभाव क्यों माना जा सकता है? तो इसका उत्तर यह है कि पूर्व में गाथा ७ के प्रसंग में भत्ताभ्तर का उल्लेख किया है। जो अपर्याप्त अवस्था में शरीरपर्याप्ति पूर्ण न हो जाने तक मिश्रयोग मानता है और हो जाने के बाद नहीं मानता है। इस मत के अनुसार अपर्याप्त अवस्था में जब चक्षुदर्शन होता है, तब मिश्रयोग नहीं होता है, जिससे कि चक्षुदर्शन में मिश्रयोग नहीं मानना ठीक है।

‘केवल धावर’…………न संभवइ अथत् केवलज्ञान, केवल-  
दर्शन और उसकी सहभावी यथारूप्यात्तचारित्र इन तीन मार्गणाओं  
में तथा वायुकाय को छोड़कर पृथ्वी, अप्, तेज और वनस्पतिकाय इन  
चार स्थावरों और विगते—द्वीन्द्रिय, तीन्द्रिय और चतुरन्द्रिय इन दस  
मार्गणाओं में वैक्रिय और वैक्रियमिश्र यह दो काययोग नहीं होते हैं।  
इसका उत्तरण यह है कि लक्षितात्तरोग वेचसां इत्यन है और सातवें  
गुणस्थान से आमे किसी भी गुणस्थान में लक्षितप्रयोग नहीं होता है,  
जिससे केवलद्विक और यथारूप्यात्तसंयममार्गण में वैक्रियद्विक नहीं  
होते हैं तथा वायुकायिक जीवों के अतिरिक्त जेष पृथ्वीकायिक आदि  
स्थावरचतुर्मुख आदि में लक्षित होती ही नहीं है, जिसके उनमें वैक्रिय-  
द्विक काययोग संभव नहीं हैं। इन सब कारणों से केवलद्विक आदि दस  
मार्गणाओं में वैक्रियद्विक काययोग पाये जाने का मिष्येद किया है।

अब आहारकद्विक काययोगों का विचार करते हैं कि आहारक-  
द्विक—आहारक और आहारकमिश्र यह दोनों काययोग आहारकलक्षित-  
संपन्न चतुर्दंश पूर्वधर संयत सुनि के सिवाय अन्य किसी को नहीं होते  
हैं, अतः ‘जायद छोड़सपुष्टिवस्स’ यह विशेषण जिन मार्गणाओं में घटित  
हो ऐसी मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रिय जाति इत्यादि मार्गणाओं में स्वत्रुद्धि से  
योजना कर लेना चाहिए। अथत् जिन मार्गणाओं में चौदह पूर्वों का  
अद्ययन संभव हो, उन मार्गणाओं में आहारक और आहारकमिश्रकाय  
योग मानवा चाहिये, जेष मार्गणास्थानों में नहीं। जैसे कि पूर्वोक्त  
मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रिय के उपरान्त त्रिसकाय, पुरुष, नपुंसक वेद, ये दो  
वेद आदि।

जिन मार्गणाओं में आहारकद्विक काययोग संभव हैं, उनके नाम  
इस प्रकार हैं—गतिमार्गण में—मनुष्यगति, इन्द्रियमार्गण में—  
पञ्चेन्द्रिय, कायमार्गण में—त्रिस, योगमार्गण में—तीनों योग, वेदमार्गण  
में—पुरुष नपुंसक वेद, कषायमार्गण में—चारों कषाय, शावमार्गण  
में—भूत, श्रुत, अवधि, मनपर्याय ज्ञान, संयममार्गण में—सामायिक

सुंदरोस्थापना, दर्जनमार्गणा में—चक्र, अचक्र, अवधिदर्शन, केण्या मार्गणा में—कुरुणादि छह लेख्या<sup>१</sup>, भव्यमार्गणा में भव्य, संज्ञी-मार्गणा में—संज्ञी, सम्यक्त्वमार्गणा में—आद्योपशमिक, आयिक, आहारकमार्गणा में—आहारक।

इनके अतिरिक्त शेष मार्गणाओं में आहारकट्टिक काययोग नहीं होते हैं।

### प्रत्येक मार्गणा में संभव योग

अपर किसी ही मार्गणाओं में निषेधमुलिम अमुक योगों का असद्भाव तथा किसी ही मार्गणाओं में विधिमुलिम सद्भाव बतलाया है। लेकिन उक्त कथन संक्षेप में होने से वह गण्ड नहीं होता है कि प्रत्येक मार्गणास्थान प्रेम कुल भिन्नाकर किसी योग होते हैं? अतः सरलता से बोध कराने के लिए अब समान संख्या में प्राप्त होने काले योगों की अपेक्षा वर्ग भिन्नाकर प्रत्येक मार्गणा में संभव योगों का निर्देश करते हैं।

तिर्यचगति, स्त्रीवेद, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, विभंगज्ञान,<sup>२</sup> अविरति, सासादन, अभव्य, मिथ्यात्व, औषधमिक सम्यक्त्व, इन दस मार्गणाओं में आहारकट्टिक के सिवाय तेरह योग होते हैं। अर्थात् इन दस मार्गणाओं में मनोयोगचतुष्टय, वचनयोगचतुष्टय, औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र और कार्मण यह तेरह योग होते हैं। जिनका यथाक्रम से स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

१ भव्यकार आचार्य ने पीत आवि तीर्थ शुभ लेख्याओं में आहारकट्टिक योग माने हैं—लेख्याद्वारे शुभलेख्यात्मये।

२ पूर्व में विभंगज्ञान में औदारिकमिश्र का निषेध किया है और यहाँ उसको बतलाया है। तो इसका कारण ऐसा प्रतीत होता है कि अपर्याप्त अवसरा में विभंगज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, इसलिये एहसे निषेध किया लेकिन कोई देवगति से लेकर लाये तो मनुष्यमति में संभव है। इसलिये यहाँ औदारिकमिश्र को श्रहण किया गया है।

कार्मण्योग तो अपान्तरणति और उत्पत्ति के प्रथम समय में, औदारिकमिश्र अपर्याप्त अवस्था में और औदारिक, मनोयोगचतुष्टय, बचनयोगचतुष्टय पर्याप्त अवस्था में तथा किन्हीं किन्हीं तिर्यकों में वैक्रियलक्ष्य होने से तदपेक्षा वैक्रिय और वैक्रियमिश्र होने से तेरह योग होते हैं।<sup>१</sup>

आहारकद्विक योग सर्वविरत चतुर्दशपूर्वधर को होते हैं, लेकिन तिर्यकगति में सर्वविरत चारित्र संभव नहीं है। अतः उसमें आहारकद्विक—आहारक और आहारकमिश्र कार्ययोग नहीं होते हैं।

मति-ज्ञान, श्रुत-ज्ञान और विर्भग्नान, अविरत सम्यग्गृहिणि, सासादन, अभल्य और मिथ्यात्व इन सात मार्गणाओं में आहारकद्विक के बिना जो तेरह योग माने गये हैं, उनमें से मनोयोगचतुष्टय, बचनयोगचतुष्टय, औदारिक और वैक्रिय ये दस योग तो पर्याप्त अवस्था में, कार्मण व आत्मा विप्रहृणति और उत्पत्ति के प्रथम समय में और औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र ये दो योग अपर्याप्त अवस्था में होते हैं।

अब शेष रही औपशमिक सम्यक्त्व और स्त्रीवेद इन दो मार्गणाओं में आहारकद्विक के सिवाय तेरह योग मानने को कारण सहित स्पष्ट करते हैं।

औपशमिक सम्यक्त्व में आहारकद्विक योग न मानने पर जिज्ञासु का प्रश्न है—

प्रश्न—तिर्यकगति आदि उक्त मार्गणाओं में तो चौदह पूर्व के ब्रह्मयन का अभाव होने से आहारकद्विक का न होना माना जा सकता है, परन्तु औपशमिक सम्यक्त्व तो चौथे से लेकर ग्यारहवें

१ दिग्म्बर साहित्य में तिर्यकगति में ग्यारह योग माने गये हैं—

वेऽब्दाहार दुग्धृण तिरिए। दि, पंचसंग्रह ४/५४

लेकिन यह कथम सामान्य तिर्यक की विवक्षा से किया गया समझना चाहिए।

गुणस्थान तक होता है और इनमें छठे से लेकर म्यारहवें तक के गुणस्थानों में सर्वविवरति होती है तो वहाँ आहारकद्विक क्यों नहीं होते हैं ?

उत्तर—उपशम सम्यक्त्व के दो प्रकार हैं—रंथि-भेद-जन्म, उपशम-श्रेणी वाला । इनमें से अनादि भिन्नात्मी जो पहले गुणस्थान में तीन करण करके रंथि-भेद-जन्म उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, उस समय तो चौदह पूर्वी का अभ्यास होता ही नहीं है । जिससे आहारकद्विक हो सके और जो श्रमणपर्याय में चारित्र-मोहनीय की उपशमना करने के लिए उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करते के बाद तत्काल ही चारित्र-मोहनीय की उपशमना का प्रयत्न करते हैं, वे कोई लक्ष्य हो तब भी उसका प्रयोग नहीं करते हैं, इसलिए तब भी उनको आहारकद्विक नहीं होते हैं ।

सारांश यह है कि उपशम-श्रेणी पर आरुह जीव श्रेणी में प्रमाद का अभाव होने में आहारक शरीर करता ही नहीं है । क्योंकि आहारक शरीर का प्रारम्भ करने वाला लक्ष्य-प्रयोग के समय उत्सुकतावश प्रमादयुक्त होता है और आहारक काययोग में जो विद्यमान है, वह खवभाव में ही उपशम-श्रेणि मांडता नहीं । इस प्रकार परस्पर विरोध होने से उपशम सम्यक्त्व में आहारकद्विक योग नहीं माने जाते हैं ।

आहारकद्विक के सिवाय ये रहे मनोयोग-चतुष्टय आदि तेरह योग औपशमिक सम्यक्त्व में इस प्रकार गमनना चाहिए कि मनोयोग-चतुष्टय, बत्तनयोग-चतुष्टय, औद्यारिक और वैक्रिय, यह दस योग पर्याप्त अवस्था में और औद्यारिक-मिश्र, वैक्रियमिश्र और कार्मण अपर्याप्त अवस्था में पाये जाते हैं । वैक्रिय और वैक्रियमिश्र योग देवों की अपेक्षा से समझना चाहिए ।

यहाँ कदाक्रित् यह कहा जाये कि उपशमश्रेणि में आयु क्षय होने पर सर्वार्थसिद्धि विभान में उत्पन्न होने से वहाँ अवर्याप्त अवस्था में उपशम सम्यक्त्व होता है । जलः उस अपेक्षा से कार्मण और वैक्रिय-

मिश्र योग माना जा सकता है, औदारिकमिश्र नहीं। तो इसका उत्तर यह है कि कार्मयन्त्रिक मतानुसार मनुष्य तिर्यंच को अपर्याप्त अवस्था में और केवलिसमुद्धात् इन तीन स्थितियों में औदारिकमिश्र योग होता है। लेकिन केवली को उपशम सम्यक्त्व होता नहीं और मनुष्य तिर्यंच अपर्याप्त अवस्था में नवीन सम्यक्त्व प्राप्त करते नहीं एवं श्रेणिप्राप्त जीव मर कर देवगति में जाते हैं। लेकिन सिद्धान्त में उत्तर वैक्रिय करते समय मनुष्य और तिर्यंचों को प्रारंभ काल में औदारिकमिश्र योग होता है और उस समय यदि जीव नवीन सम्यक्त्व प्राप्त करे तो उसकी अपेक्षा औपशमिक सम्यक्त्व में औदारिकमिश्र काययोग माना जा सकता है। इस संखातिक हठिट से औपशमिक सम्यक्त्व में औदारिकमिश्र योग मानने का यही उल्लेख किया है।

स्त्रीवेद में आहारकट्टिक के सिवाय तेरह योग इस प्रकार संभव हैं—

मनोयोग-चतुष्क, वचनयोग-चतुष्क, वैक्रियट्टिक और औदारिक, ये न्यारह योग मनुष्य, तिर्यंच स्त्री को पर्याप्त अवस्था में, वैक्रियमिश्र काययोग देव स्त्री को अपर्याप्त अवस्था में और कार्मण काययोग पर्याप्त मनुष्य स्त्री को केवलिसमुद्धात् अवस्था में होता है।

स्त्रीवेद में आहारकट्टिक योग न मानने का कारण यह है कि सर्वविरति संभव होने पर भी स्त्री जाति को हठिटवाद—जिसमें चौदह पूर्व हैं—पढ़ने का निषेध है। इस निषेध का कारण द्रव्यरूप स्त्रीवेद जानना चाहिए, भावरूप स्त्रीवेद नहीं। क्योंकि यहाँ इसी प्रकार की विवरण है। द्रव्यवेद का मतलब बाह्य आकार है। आहारकट्टिक चौदह पूर्वधारी को होते हैं और स्त्रियों को हठिटवाद पढ़ने का निषेध होने से उनको चौदह पूर्व का अध्यास नहीं होता है तो आहारकट्टिक नहीं हो सकते हैं। इसी कारण स्त्रीवेद में आहारकट्टिक काययोग मानने का निषेध किया है।

मनुष्यगति, पंचन्त्रियज्ञाति, वसकाय, काययोग, पुरुषवेद, नपुंसकवेद<sup>१</sup>, कषायचतुर्क, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन कृष्णादिलेश्याषट्क, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व, भव्य, संज्ञी और आहारक, इन छब्बीस मार्गणाओं में सभी परम्परा ही होती हैं :

इन छब्बीस मार्गणाओं का सम्बन्ध मनुष्य के साथ है। अर्थात् ये छब्बीस मार्गणायें मनुष्यों में पाई जा सकती हैं और मनुष्य में सभी योग संभव हैं। इसलिए इनमें सभी योग माने जाते हैं। यह इस प्रकार समझना चाहिए कि कार्मणकाययोग अन्तरालगति और उत्पत्ति के प्रथम समय में तथा केवल समुद्रधात के तीसरे, चौथे, पाँचवें समय में, औदारिकमिश्रअपर्याप्त अवस्था में, मनोयोगचतुष्टय, वन्ननयोगचतुष्टय, औदारिक योग पर्याप्त-अवस्था तथा वैक्रियादिक, आहारकद्विक उप-उप लविधप्रयोग के समय में।

यद्यपि कहीं-कहीं यह भी कथन मिलता है कि आहारकमार्गणा में कार्मणकाययोग के गिवाय अन्य सभी (१५ योग) होते हैं और इसके लिए युक्ति यह है कि उत्पत्ति के प्रथम समय में जीव जो आहार करता है, उसमें भूह्यमाण पुद्यगलों के कारण होने से कार्मण काययोग मानने की ज़रूरत नहीं है।<sup>२</sup> तो इसका समाधान यह है कि प्रथम समय में कार्मण काययोग में ही आहार का ग्रहण होता है और ग्रहण किए गए पुद्यगल दूसरे समय से लेकर शरीर पूर्ण होने तक

१ दिग्म्बर कार्मण्यिकों ने नपुंसकवेद में आहारकद्विक योग नहीं मानि है—

इत्थी लंठम्प्स आहारिष्टुमूणा ।

—दि० पंचमंग्रह ४/४७

२ दिग्म्बर कार्मण्यिकों ने आहारक मार्गणा में कार्मण काययोग को नहीं माना है—

आहारे कम्मूणा ।

—दि० पंचमंग्रह ४/४८

आहार ग्रहण में कारण रूप बनते हैं। किन्तु स्वर्य अपने प्रथम समय में कारण रूप नहीं बन सकते हैं। क्योंकि उस समय तो वे स्वर्य कार्य रूप हैं। इसलिये पहले समय में तो कार्मण काययोग द्वारा ही आहार ग्रहण होता है, जिसमें आहारकमार्गणा में कार्मण काययोग भी माना जाता है। अर्थात् उत्पत्ति के प्रथम समय में कार्मण काययोग के सिवाय अन्य कोई योग न होने से कार्मण काययोग द्वारा ही आहार-कर्त्व समझना चाहिए।

एकेन्द्रियमार्गणा में मनोयोग और वचनयोग के चार-बार भेद तथा आहारकट्टिक के सिवाय शेष औदारिकट्टिक, वैक्रियट्टिक और कार्मण यह पांच योग होते हैं। यह कठन वायुकार्यिक एकेन्द्रिय जीव की अवैक्षण समझना चाहिए। क्योंकि वायुकार्यिक जीव एकेन्द्रिय होते हैं और उनमें से कुछ एक पर्याप्त बादर वायुकार्यिक जीव वैक्रियलक्षित संपर्क भी होते हैं। जिसमें वैक्रियट्टिक के अधिकारी माने जाते हैं। यद्यपि पृथ्वी, जल, लेज और वनस्पतिकार्यिक ये चार स्थावर भी एकेन्द्रिय हैं किन्तु उनमें लक्षित नहीं होती है। जिसमें उनमें एकेन्द्रिय में पाये जाने वाले पांच योगों में से वैक्रियट्टिक के सिवाय शेष कार्मण और औदारिकट्टिक ये तीन योग होते हैं। यदि एकेन्द्रियमार्गणा में तीन योग मानते तो वायुकार्यिक जीवों का समावेश नहीं हो पाता, इसलिए वायुकार्यिक जीवों के एकेन्द्रिय होने और उनमें वैक्रियलक्षित की संभावना से वैक्रियट्टिक को मिलाने ऐ एकेन्द्रियमार्गणा में पांच योग माने जाते हैं। इनमें से कार्मणकाययोग विग्रहगति और उत्पत्ति के प्रथम समय में, औदारिकमिश्र काययोग उत्पत्ति के प्रथम क्षण को छोड़कर शेष अवयवित अवस्था में, औदारिक योग पर्याप्त अवस्था में, वैक्रियमिश्र वैक्रिय शारीर बनाते समय और बनाने के बाद वैक्रिय काययोग होता है। शेष पृथ्वी आदि चार स्थावर एकेन्द्रियों में वैक्रिय-ट्टिक के अतिरिक्त शेष तीन योगों के होने की प्रक्रिया भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिए कि कार्मण विग्रहगति और उत्पत्ति के प्रथम

समय में, औदारिकमिथ उत्पत्ति के प्रथम समय के बाद अपर्याप्त अवस्था में और औदारिक कायथीग पर्याप्त अवस्था में।

पर्याप्त बादर वायुकायिक जीवों में से कुछ एक को वैक्रियलिंग मानने पर जिजासु का प्रश्न है—

**प्रश्न**—यह कैसे माना जाये कि किन्हीं-किन्हीं को वैक्रियलिंग सम्भव है ? सभी बादर पर्याप्त वायुकायिक जीव वैक्रियलिंग संपन्न हैं और सबैकिय वायुकाय के जीव बहुते हैं किन्तु अवैक्रिय जीवों की वैसी प्रवृत्ति नहीं होती है ।<sup>१</sup>

**उत्तर**—यह तर्क असंगत है कि सभी बादर पर्याप्त वायुकायिक जीव वैक्रियलिंग संपन्न होते । क्योंकि वायुकाय के अपर्याप्त-पर्याप्त, सूक्ष्म-बादर इन चार भेदों में से सूक्ष्म पर्याप्त अपर्याप्त और बादर अपर्याप्त इन तीन प्रकार के वायुकायिक जीवों में तो वैक्रियलिंग होती ही नहीं है बिन्तु पर्याप्त बादर वायुकायिक जीवों के संख्यात्में आगे में होती है तथा वर्तमान में विक्रिया नहीं करने पर भी स्वभावतः उनमें वैक्रियलिंग है ।<sup>२</sup>

**विकलेन्द्रियों**—हीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रियों में वचनयोग की साधन शाषालिंग होने से और वचनयोग में भी असत्यामृषा वचन-योग होने से कार्यण, औदारिकद्विक और असत्यामृषा वचनयोग यह चार योग होते हैं ।

मनोयोग, वचनयोग, मनपर्यायज्ञान, सामायिक, छेदोपस्थापना चारित इन पांच मार्गणाओं में औदारिकमिथ और कार्यण के बिना

१ केवि भूष्टिः—सल्लै वेऽलिङ्गाय वाया वायंति, वेऽलिङ्गाणं चिट्ठा वेद न पवत्ताइ । —अनुयोगद्वार शूरिमद्रीया टीका

२ इसका स्पष्टटीकरण पूर्व में गढ़धर ७ के प्रसंग में किया जा चुका है । विज्ञेय जातकारी के लिए अनुयोगद्वार टीका व प्रश्नरप्तनाचूणि देखिए ।

शेष तेरह योग होते हैं। क्योंकि कार्मण काययोग विचलहगति तथा उत्पत्ति के प्रथम समय में और औदारिकमिश्र अपर्याप्त अवस्था में होता है और उस समय में पर्याप्त अवस्थाभावी मनोयोग, संयम आदि का अभाव है। इसलिए ये दो योग नहीं होते हैं।

चक्रदर्शन मार्गणा में कार्मण, औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र इन चार के सिवाय शेष आरह योग होते हैं।

परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसंपराय संयम इन दो संयम मार्गणाओं में कार्मण, औदारिकमिश्र, वैक्रियद्विक और आहारकद्विक इन छह योगों के विना मनोयोग और बचनयोग के जार-चार भेद और औदारिक काययोग ये नहीं योग होते हैं। इसका कारण यह कि संयम पर्याप्त अवस्था में होता है। इसलिए अपर्याप्त अवस्थाभावी कार्मण और औदारिक मिश्रयोग इनमें नहीं पाये जाते हैं तथा वैक्रिय और वैक्रियमिश्र इन दो योगों के न होने का कारण यह है कि वैक्रियद्विक लविधप्रयोग कारने वाले मनुष्य को होते हैं और लविधप्रयोग में औत्सुक्य व प्रमाद संभव है, किन्तु परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसंपराय संयम प्रमाददण्डा में नहीं होते हैं। इन दोनों संयम के धारी अप्रमादी होते हैं। अप्रमादी होने से लविध का प्रयाग नहीं करते हैं। अतः वैक्रियद्विक योग इन दोनों संयमों में नहीं होते हैं। आहारक और आहारकमिश्र यह दो योग भी इन दोनों संयमों में इसलिए नहीं पाये जाते हैं कि आहारक और आहारकमिश्र ये दो योग चतुर्देश पूर्वधर प्रमत्त मुनि को ही होते हैं, किन्तु परिहारविशुद्धि संयमी कुछ कम दस पूर्व का पाठी होता है और सूक्ष्मसंपराय संयमी यथापि चतुर्देश पूर्वधर होता है लेकिन अप्रमत्त है। अतः इन दोनों संयमों में आहारक-द्विक योग नहीं माने हैं।

इस प्रकार कार्मण, औदारिकमिश्र, वैक्रियद्विक और आहारकद्विक ये छह योग संभव नहीं होने से शेष रहे मनोयोग और बचनयोग के

चार-चार और औदारिक काययोग एक, कुल मिलाकर नौ योग परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसंपराय संयम में होते हैं।

सम्यग्मित्याहटि में परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसंपराय संयम में प्राप्त पूर्वोक्त नौ योगों के साथ वैक्रिय योग को मिलाने पर दस योग होते हैं। इसमें वैक्रिययोग मिलाने का कारण यह है कि देव और नारक सम्यग्मित्याहटि गुणस्थान वाले होते हैं तथा इस विश्व सम्यक्त्व की यह विणेष्टता है कि इसमें मृत्यु नहीं होती है, जिससे अवश्यित अवस्था में यह नहीं पाया जाता है। इसलिए अवश्यित दण्ड-भावी कार्यण, औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र ये तीन योग नहीं होते हैं तथा चौदहपूर्व का ज्ञान भी संभव न होने से आहारकट्टिक योग भी नहीं होते हैं। इसी कारण कार्यण, औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र और आहारकट्टिक इन पाँच योगों को छोड़कर शेष ढस योग मिश्र सम्यक्त्व में माने हैं।

परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसंपराय संयम में प्राप्त पूर्वोक्त नौ योगों में वैक्रियट्टिक योग को मिलाने पर देशविरत मार्णण में ग्यारह योग होते हैं। वैक्रियट्टिक को देशविरत संयम में मानने वा कारण यह है कि वैक्रियलक्ष्य की संभावना वहाँ है। अंबड़ आदि शावकों द्वारा वैक्रियलक्ष्य से वैक्रिय शरीर बनाये जाने वा उल्लेख आगमों में देखने को मिलता है। किन्तु शावक के चतुर्दश पूर्वधर नहीं होने से उसमें आहारकट्टिक योग तथा अत का पालन एवं अवश्या में संभव होने से औदारिकमिश्र और कार्यण योग नहीं माने जाते हैं। इसलिए आहारकट्टिक, औदारिकमिश्र और कार्यण इन चार योगों के सिवाय शेष ग्यारह योग देशविरत मार्णण में माने गये हैं।

यथाख्यातसंयम में भी उष्णर्युक्त नौ योगों में औदारिकमिश्र और कार्यण काययोग के मिलाने पर ग्यारह योग होते हैं। इन दोनों योगों का ग्रहण केवलिसमृद्धात् की अपेक्षा किया गया है। क्योंकि केवलिसमृद्धात् के दूसरे, छठे और सातवें समय में औदारिकमिश्र और तीसरे,

जीवे और पांचवें समय में कार्मणयोग होता है। आहारकद्विक और वैक्रियद्विक इन चार योगों को यथाभ्यात्संबंध में न मानने का कारण यह है कि ये चारों प्रभाव सहजारी हैं किन्तु यह जारित अप्रभाव अवस्थाभावी भ्यारहवें से लेकर छोड़हवें तक के चार गुणस्थानों में होता है।

केवलज्ञान और केवलदर्जन मार्गणाओं में सत्यमनोयोग, असत्यामृषामनोयोग, सत्यवज्जनयोग, असत्यामृषावचनयोग, औदारिक, औदारिकमिश्र और कार्मण काययोग यह सात योग होते हैं। इसका कारण यह है कि सत्य और असत्यामृषा मनोयोग मनपर्यायज्ञानी अथवा अनुस्तर विमानवासी देवीों के मन द्वारा शंका पूछने पर उसका मन द्वारा उत्तर देते समय तथा यही दोनों वचनयोग देशमा देते समय होते हैं तथा सयोगिकेवली को अष्ट सामग्रिक केवलिसमुद्रधात के दूसरे से सातवें तक छह समयों को छोड़कर औदारिकयोग तो सदैव रहता ही है तथा औदारिकमिश्र केवलिसमुद्रधात के दूसरे, छठे और सातवें समय में तथा कार्मण योग तीसरे, चौथे, पांचवें समय में होता है। इसलिए केवलज्ञान और केवलदर्जन इन दो मार्गणाओं सत्य, असत्यामृषा मनोयोग, सत्य, असत्यामृषा वचनयोग, औदारिक, औदारिकमिश्र और कार्मण यह सात योग माने जाते हैं।

असंज्ञी मार्गणा में औदारिकद्विक, वैक्रियद्विक, कार्मण और असत्यामृषावचनयोग यह छह योग होते हैं। क्योंकि एकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुर्निंद्रिय और संमूलिष्ठ पञ्चेन्द्रिय ये सभी जीव असंज्ञी ही होते हैं। इसलिए औदारिकद्विक आदि कार्मण पर्यन्त पांच योग तो वायुकायिक व एकेन्द्रिय जीव की अपेक्षा तथा द्विन्द्रियादि में वचनयोग की साधन भाषालिंग होने तथा उनकी भाषा असत्यामृषा रूप होने से असत्यामृषा वचनयोग होता है। इसी कारण असंज्ञी मार्गणा में छह योग कहे गये हैं।

अनाहारकमार्गणा में एक कार्मण काययोग ही होता है। यहाँ

थह ध्याल रखना चाहिए कि ऐसा कोई नियम नहीं है कि अनाहारक अवस्था में कार्मणयोग होना ही चाहिए। क्योंकि चौदहवें गुणस्थान में अनाहारक अवस्था होने पर भी किसी प्रकार का योग नहीं रहता है और यह भी नियम नहीं है कि कार्मणयोग के समय अनाहारक अवस्था अवश्य ही होती है। क्योंकि उत्पत्ति के क्षण में विग्रहगति के समय कार्मणयोग होने पर भी जीव अनाहारक नहीं है, वह कार्मणयोग के ढारा ही आहार लेता है। लेकिन यह नियम है कि जीव की जब अनाहारक अवस्था हो तब कार्मण कार्ययोग के सिवाय अन्य कोई योग नहीं होता है। इसी अपेक्षा में अनाहारक मार्गणा में सिर्फ़ कार्मण कार्ययोग माना जाता है। देवगति और नरकगति मार्गणा में औदारिक-द्विक, आहारकद्विक कुल चार योगों को छोड़कर शेष स्थारह योग होते हैं। औदारिकद्विक, आहारकद्विक न मानने का कारण यह है कि देव व नारकों के भवस्वभाव से विरति न होने तथा विरति के अभाव में चतुर्दश पूर्व का ज्ञान न होने में आहारकद्विक योग होते ही नहीं हैं तथा देव व नारकों का भवप्रत्ययिक वैक्रिय पारीर होता है, अतएव औदारिकद्विक संभव नहीं है। इसीलिए देव नारकों के आहारकद्विक और औदारिकद्विक इन चार योगों के सिवाय शेष स्थारह योग माने जाते हैं। उन स्थारह योगों के नाम इस प्रकार हैं—

मनोयोगचतुर्क, वचनयोगचतुर्क वैक्रियद्विक, कार्मणयोग। इनमें में कार्मण अन्तरालगति और उत्पत्ति के प्रथम समय में, वैक्रिय-सिद्ध अपर्याप्त अवस्था में तथा मनोयोगचतुर्क, वचनयोगचतुर्क और वैक्रिय कार्ययोग पर्याप्त दशा में पाये जाते हैं।<sup>१</sup>

<sup>१</sup> विश्वामित्र कार्मणाधिकों का मार्गणाभिं में योगसम्बन्धी कथन परिणिष्ठ भै देखिये।

इस प्रकार मार्गेणास्थानों के बासठ उल्लर भेदों में सम्बन्ध योगों का कथन करने के पश्चात् अब योगों की तरह उनमें उपयोगों की संख्या बताते हैं।

### मार्गेणास्थानों में जातियोग

मणुष्यगईए बारस मणकेवलवज्जिया नवन्नासु ।

इगिथावरेसु तिनि उ चउ विगले बारतससगले ॥१३॥

जोए वेए सन्नी आहारमभवसुक्कलेसासु ।

बारस संजमसंमे नव दस लेसाकसाएसु ॥१४॥

**शास्त्रार्थी—**मणुष्यगईए—मनुष्यगति में, बारस—बारह, मणकेवलवज्जिया—मनपथयिज्ञान और केवलद्विक से रहित, नव—नौ, अन्नासु—अन्य गतियों में, इगिथावरेसु—एकेन्द्रिय और स्थावरों में, तिनि—तीन, उ—और, चउ—चार विगले—विकलेन्द्रियों में, बार—बारह, तस—त्रय, सगले—सकलेन्द्रियवाले पञ्चेन्द्रिय में।

जोए—योग में, वेए—वेद में, सन्नी—संजी, आहारक—आहारक, चउ—चव्य, सुक्कलेसासु—शुक्ललेश्या में, बारस—बारह, संजम—संयम, संमे—सम्यक्त्व मार्गेणा में, नव—नौ, दस—दस, लेसा—लेश्या (शुक्ल के अतिरिक्त), कसाएसु—कषाय मार्गेणा में।

**गाथार्थी—**मनुष्यगति में बारह उपर्योग तथा ऐसे गतियों में मनपथयिज्ञान और केवलद्विक से रहित (छोड़कर) नी उपयोग होते हैं। एकेन्द्रिय और स्थावरों में तीन, विकलेन्द्रियों में चार, और पञ्चेन्द्रिय मार्गेणा में बारह उपयोग होते हैं।

योग, वेद, संजी, आहारक, चव्य और शुक्ललेश्या मार्गेणा में बारह उपयोग तथा संयम और सम्यक्त्व मार्गेणा में नी एवं लेश्या और कषाय मार्गेणा में दस उपयोग होते हैं।

**विशेषार्थी—**उपयोग का लक्षण और उसके बारह भेदों के नाम

तथा मार्गणास्थानों के लक्षण, भेद आदि पहले बताए जा चुके हैं। अब उन उपयोग भेदों को मार्गणास्थानों में धटित करते हैं कि प्रत्येक मार्गणा में किसने उपयोग होते हैं। जिसका प्रारम्भ मनुष्यगति से किया है।

‘भणुष्यगईए बारस’—मनुष्यगति में सभी बारह उपयोग होते हैं। मनुष्यगति से उपयोग विचार का प्रारम्भ करने का कारण यह है कि मनुष्यगति पहले में लेकर चौदहवें गुणस्थान तक पाई जाती है और उसमें मिथ्याहृष्टि, सम्यग्वृष्टि, देशविरति, केवलज्ञानी आदि सभी जीवों का ग्रहण होने से बारह उपयोग माने गये हैं।

यह बात तो ही मनुष्यगति में संभव उपयोगविषयक, लेकिन ‘अन्नसु’—अन्य गतियों अर्थात् मनुष्यगति में शेष रही देव, तिर्यच और नरकगति में—‘भणकेवलद्वजिज्ञाम नव’ मनपर्यायज्ञान और केवलद्विक—केवलज्ञान, केवलदर्शन इन तीन के सिवाय शेष नौ उपयोग होते हैं। इन तीन मार्गणाओं में मनपर्यायज्ञान और केवलद्विक उपयोग इसलिए नहीं माने जाते हैं कि ये उपयोग सर्वविरतिसारेक हैं। लेकिन देवगति, तिर्यचगति और नरकगति में सर्वविरति संभव नहीं है। इसलिए उक्त तीन उपयोगों को छोड़कर शेष नौ उपयोग माने जाते हैं।

‘इगिथावरेसु तिम्न’—इन्द्रियमार्गणा और कायमार्गणा के भेद क्रमशः एकेन्द्रिय और पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वस्त्रपति रूप पांच स्थावरों में तथा उपलक्षण से द्विन्द्रिय और त्रीन्द्रिय इन आठ मार्गणाओं में मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अचक्षुदर्शन यह तीन उपयोग होते हैं। उपलक्षण से द्विन्द्रिय और त्रीन्द्रिय को ग्रहण करने का कारण यह है कि इनमें भी एकेन्द्रिय जीवों की सरह चक्षुरिन्द्रिय नहीं होती है। इसलिए चक्षुरिन्द्रिय सारेक उपयोग भी इनमें नहीं पाया जाता है तथा सम्यक्त्व न होने से मतिज्ञान आदि पांच ज्ञान, अवधि व केवलदर्शन

और तथाविद्य योग्यता का अभाव होने से विभंगज्ञान यह आठ उपयोग भी न पाये जाने से मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अचक्षुदर्शन यह तीन ही उपयोग होते हैं।

‘चउ बिगले’—चतुरिन्द्रिय और उपलक्षण से असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में चक्षु इन्द्रिय द्वारा से एकेन्द्रिय मार्गणा में पाने जाने वाले मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, अचक्षुदर्शन के साथ चक्षुदर्शन को मिलाने से चार उपयोग पाये जाते हैं। चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में सम्यक्त्व न होने से सम्यक्त्व सहचारी मति, श्रुत, अवधि, मनपर्याप्ति और केवल ये पाँच ज्ञान तथा अवधि व केवलदर्शन और तथाविद्य योग्यता न होने से विभंगज्ञान भी, इस प्रकार आठ उपयोग न पाये जाने से चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में अज्ञानद्विक—मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और दर्शनद्विक—अचक्षुदर्शन, चक्षुदर्शन कुल मिलाकर चार उपयोग होते हैं।

‘तस सगले बार’—दसकाय और सकल—सकलेन्द्रिय-पंचेन्द्रिय मार्गणा में सभी बारह उपयोग होते हैं। दस और पंचेन्द्रिय जीवों में मनुष्य भी है। अतः मनुष्यगति के समान सभी बारह उपयोग पाये जाने के कारण को यहाँ भी समझ लेना चाहिए तथा इसी प्रकार से ‘जोर बैठु……’ इत्यादि अथानु मन, वचन, काय योग, स्त्री, पुरुष, नायुंसक वेद, संज्ञी, आहारक, भव्य और शुक्ललेश्वा इन दस मार्गणाओं में भी बारह उपयोग पाये जाते हैं। जिसका स्फृटीकरण इस प्रकार है—

मन, वचन, काय यह तीन योग, शुक्ललेश्वा और आहारक्त्व यह पाँच मार्गणायें तेरहवें गुणस्थान तक पाई जाती हैं। सयोगि-केवली भगवान् मनोयोग का व्यापार मन द्वारा प्रश्नोत्तर के समय, वचनयोग का व्यापार देशना के समय और औदारिक काययोग का आवार विहार आदि शारीरिक क्रियाओं के समय करते हैं। इसलिए मनोयोग आदि तीनों योग तेरहवें गुणस्थान तक माने हैं। शुक्ललेश्वा

सामान्य से सभी मनुष्यों में पाई जाती है और गुणस्थानों की अपेक्षा अपूर्वकरणादि संयोगिकेवली पर्यन्त गुणस्थानों में। अतः शुक्ललेश्या तेरहवें गुणस्थान तक मानी है।

प्रत्येक जीव जन्म से लेकर जीवनपर्यन्त सोमाहार आदि आहारों में से किसी न किसी आहार को ग्रहण करता रहता है और यह कम तेरहवें गुणस्थान तक चलता है। क्योंकि तेरहवें गुणस्थान तक जीवन-मुक्त दण्डा नहीं है। उक्त मार्गणाओं के अतिरिक्त तीन वेद, संज्ञित्र और भव्यत्व भार्गणार्थे चौदहवें गुणस्थान तक पाई जाती है।

इन योग, वेद आदि मार्गणाओं में मिथ्यात्मिति, सम्बन्धत्विति आदि सभी जीवों का ग्रहण होने से बारह उपयोग माने जाते हैं और संज्ञी मार्गणा के असंज्ञी भेद में मति-ज्ञान, श्रुत-ज्ञान तथा ज्ञानु अवक्षु-दर्शन यह चार उपयोग होते हैं।

वेदात्रिक मार्गणाओं में माने गये द्वारह उपयोगों में केवलज्ञान और केवलदर्शन इन दो उपयोगों का समावेश है। इनको द्रव्यवेद की अपेक्षा समझना चाहिए। क्योंकि अभिलाष रूप भाववेद तो नौवें गुणस्थान तक ही होता है। यही दृष्टि वेदों को चौदहवें गुणस्थान तक मानने के लिए भी जानना कि द्रव्यवेद की अपेक्षा सभी चौदह गुण-स्थान वेदभार्गणा में होते हैं किन्तु भाववेद में आदि के नौ गुणस्थान जानना चाहिए।

'संज्ञमसंमे नव' अर्थात् पूर्ण संयम-यथार्थ्यात्मसंयम और पूर्ण सम्य-कल्प-क्षायिकसम्यक्त्व इन दो मार्गणाओं में मिथ्यात्मवेदव सहभावी मति-ज्ञान, श्रुत-ज्ञान, विभंगज्ञान उपयोग न होने से ऐष मतिज्ञान आदि नौ उपयोग होते हैं। क्योंकि क्षायिकसम्यक्त्व के समय मिथ्यात्म का सर्वथा अभाव ही होता है। मिथ्यात्म के पूर्ण रूप से क्षय होने पर ही क्षायिकसम्यक्त्व होता है और यथार्थ्यात्मसंयम यद्यपि यथारह से चौदहवें गुणस्थान तक पाया जाता है और यथारहवें गुणस्थान में मिथ्यात्म भी है लेकिन वह सत्तागत नहीं। इसलिए

इन दोनीं मार्गणाओं में अज्ञानत्रिक उपयोग नहीं होते हैं और शेष प्राप्त उपयोगों को इस प्रकार जानना चाहिए—

छद्मस्थ अवस्था में पहले चार ज्ञान—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और भूतपर्यायज्ञान तथा अक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, और अवधिदर्शन यह तीन दर्शन कुल सात उपयोग तथा केवली भगवन्तों के केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो उपयोग होते हैं। इस प्रकार उक्त सात और केवलद्विक को मिलाने से कुल भी उपयोग होते हैं।

शुक्लेश्यमार्गणा के उपयोगों का पृथक् से निर्देश किया है अतः उससे शेष रही कृष्ण, नील, कापोत, तेजो और पद्म, पांच लेश्या तथा कथायचतुष्क—क्रोध, मान, माया, लोभ इन नी मार्गणाओं में केवलज्ञान और केवलदर्शन के सिवाय मतिज्ञान आदि दस उपयोग होते हैं। इसका कारण यह है कि कृष्णादि तीन अशुभ लेश्यायें छठे गुणस्थान तक, तेज और पद्म लेश्यायें सातवें गुणस्थान तक होती हैं तथा क्रोधादि कथायचतुष्क अप उदय दरावें शुगस्थान तक पाया जाता है और वे गुणस्थान क्षायोपशमिक भावों की अपेक्षा रखते हैं और केवलद्विक उपयोग कृष्णादि लेश्याओं और क्रोधादि के रहने पर नहीं होते हैं किन्तु अपने-अपने आवरणकर्म के निःशेष रूप से क्षय से होने वाले हैं और तेजहर्वें और चौदहर्वें गुणस्थान में पाये जाते हैं। इसलिए कृष्णादि नी मार्गणाओं में दस उपयोग माने हैं।

इस प्रकार से पृथक्-पृथक् नामोलेखपूर्वक कुछ एक मार्गणाओं में संभव उपयोगों का निर्देश करने के बाद अब शेष रही मार्गणाओं में उपयोगों को जानने के लिए सूत्र बतलाते हैं—

सम्भवकारणेऽहि मिच्छनिमित्ता न होति उवजोगा ।

केवलद्वुगेण सेसा संतेव अचक्षुचक्षुसु ॥१५॥

सम्भवकारणेऽहि—सम्भवकारणेऽहि—सम्भवकारणक—निमित्तक उपयोगों के साथ मिच्छनिमित्ता—मिच्छ्यात्मनिमित्तक, न होति—नहीं होते हैं, उवजोगा—

उपयोग, केवलदुर्गेण—केवलद्विक के साथ, सेसा—शेष, संसेष—होते ही हैं, अचक्षुद्वार्दशकद्वार्दश—अचक्षुदर्शन, चक्षुदर्शन में (के साथ)।

**गाथार्थ**—सम्यक्त्वनिमित्तक उपयोगों के साथ मिथ्यात्वनिमित्तक उपयोग तथा केवलद्विक के साथ अन्य कोई उपयोग नहीं होते हैं किन्तु अचक्षुदर्शन और चक्षुदर्शन के साथ उभयनिमित्तक (सम्यक्त्व, मिथ्यात्व निमित्तक) उपयोग होते ही हैं।

**विशेषार्थ**—गाथा में सहभावी उपयोगों के कारण को स्पष्ट किया है।

सम्यक्त्व निमित्तकारण है जिनका ऐसे मतिज्ञान आदि उपयोगों के साथ मिथ्यात्वनिमित्तक मति-अज्ञान आदि उपयोग नहीं होते हैं तथा ‘केवलदुर्गेण सेसा न होति उब्बोगा’ केवलद्विक—केवलज्ञान, केवलदर्शन के साथ मिथ्यात्वनिमित्तक उपयोग तो ही ही नहीं सकते, किन्तु सम्यक्त्वनिमित्तकों में से भी छाद्मस्थिक मतिज्ञान आदि कोई भी उपयोग नहीं होते हैं। क्योंकि देशज्ञान और देशदर्शन का विच्छेद होने पर ही पूर्ण—केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न होते हैं। जैसा कि कहा—

उत्पन्नमि अणते नट्ठमि य छाद्मस्थित् नाणे ।<sup>१</sup>

**अर्थात्**—छाद्मस्थिक ज्ञान और दर्शनों के विष्ट होने पर अनन्त ज्ञान-दर्शन—केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न होते हैं।

छाद्मस्थिक ज्ञान-दर्शनों के नाश के पश्चात् केवल ज्ञान-दर्शन की उत्पत्ति होने को लेकर जिज्ञासु प्रश्न पूछता है—

**प्रश्न**—मतिज्ञानादि ज्ञान और चक्षुदर्शन आदि दर्शन अपने-अपने आवरणों के यथायोग्य रीति से क्योपशम होने पर उत्पन्न होते हैं। अतः जब पूर्ण रूप से उनके आवरणों का क्षय हो तब लारितपरिणाम की तरह उनको भी पूर्ण रूप से उत्पन्न होना चाहिए, तो फिर केवल-

१ ज्ञावध्यक्षिण्यवित् ५३६

शान, और केवलदर्जन के होने पर मतिज्ञानादि का अभाव क्यों माना है ? जैसे चारिकावरणीय का क्षयोपशम होने से सामायिक आदि चारित्र उत्पन्न होते हैं और चारिकावरणीय कम्स का सकंचा क्षय होने पर यथास्थातचारित्र उत्पन्न होता है, परन्तु उसकी उत्पत्ति होने पर भी सामायिक आदि चारिद्वाँ का नाश नहीं होता है, इसी प्रकार केवलज्ञान की उत्पत्ति होने पर भी मतिज्ञानादि का नाश नहीं होना चाहिए ।

उत्तर—केवलज्ञान के उत्पन्न होने पर मतिज्ञानादि के नाश मानने का कारण यह है कि जैसे सूर्य के सामने गाढ़ बादलों का समूह आया हो तब भी इतना प्रकाश तो रहता ही है कि दिन और रात्रि का स्पष्ट विभाग मालूम हो सके तथा उस प्रकाश के सामने यदि चटाई की झोपड़ी हो तो उसके छिड़ों में से छेदों के अनुरूप आया हुआ प्रकाश झोपड़ी में विद्यमान घट-पटादि पदार्थों को दिखाता है । किन्तु वह प्रकाश उस झोपड़ी का अपना नहीं है, बाहर में विद्यमान सूर्य का है । अब यदि उस झोपड़ी को नष्ट कर दें और बादलों के हट जाने पर सूर्य पूर्ण रूप से प्रकाशित हो जाये तो वह घट-पटादि पदार्थों को पूर्णरूपेण प्रकाशित करता है ।

इसी प्रकार गाढ़ केवलज्ञानावरण रूप बादलों से केवलज्ञान रूप सूर्य के आवृत्त होने पर भी जड़-चेतन का स्पष्ट विभाग मालूम हो, ज्ञान का इतना प्रकाश तो उद्याटित रहता ही है । उस प्रकाश को मतिज्ञानादरणादि आवरण आच्छादित करते हैं । उनके क्षयोपशम रूप यथायोग्य विवर-छिड़ों में से निकला हुआ प्रकाश जीवादि पदार्थों का यथायोग्य रीति से बोध कराता है और क्षयोपशम के अनुरूप मतिज्ञान आदि का नाम धारण करता है ।

यही चटाई की झोपड़ी के छेदों में से आये हुए प्रकाश के सहश मतिज्ञानावरणादि के क्षयोपशम रूप विवरों में से आगत प्रकाश केवलज्ञान का ही है । अब यदि उन मतिज्ञानावरणादि आवरण रूप झोपड़ी

और केवलज्ञानावरण रूप संघर्ष वादलों का सर्वथा नाश हो जाए तो पूर्ण सूर्य के प्रकाश की तरह वह पूर्ण केवलज्ञान का ही प्रकाश प्रकाशमान होता है न कि मतिज्ञान आदि के नाम में कहा जाने वाले केवलज्ञान का। वयोऽकि क्षयोपशम के अनुरूप जिस प्रकाश को पहले मतिज्ञान आदि के नाम से कहा जाता था वह केवलज्ञान का ही प्रकाश था। केवलज्ञानावरणीय कर्म का उदय और मतिज्ञानावरणादि का क्षयोपशम था, उससे जो अपूर्ण प्रकाश था वह आवरणों के सर्वथा दूर ही जाने से पूर्ण प्रकाश में समाविष्ट हो गया और मतिज्ञान आदि नाम भी नष्ट हो गए। अतएव यह समझना चाहिए कि केवलज्ञान के होने पर मतिज्ञान आदि क्षयोपशमिक उपयोग नहीं होते हैं—केवल-दुरोण सेसा न होते उवयोग।

केवलद्विक के साथ अन्य उपयोग न होने के विषय में किन्हीं-किन्हीं आचार्यों का दृष्टिकोण है कि सूर्योदय के होने पर यद्यपि ग्रह, नक्षत्र आदि सभी विद्यमान रहते हैं लेकिन निष्कल होने से उनकी विवक्षा नहीं की जाती है, उसी प्रकार केवलज्ञान होने पर सबोमि आदि गुणस्थानों में मतिज्ञान आदि ज्ञानों के रहने पर भी निष्कल होने से उनकी विवक्षा नहीं की जाती है।<sup>१</sup>

इस प्रकार से केवलद्विक उपयोगों के साथ अन्य उपयोगों के न होने के कारण को स्पष्ट करने के बाद अब यह बताते हैं कि यद्यपि सम्यक्त्वभावी उपयोगों के साथ मिथ्यात्वनिमित्तक और मिथ्यात्वभावी उपयोगों के साथ सम्यक्त्वनिमित्तक छाद्यमस्थिक उपयोग नहीं होते हैं। लेकिन इस नियम का यह अपवाद है—

१ यहाँ विवक्षा न करने का कारण यह है कि जब पूर्ण ज्ञान हो तब अपूर्ण ज्ञान निष्क्रिय है। परन्तु यह आचार्य प्रत्येक ज्ञान और उसके आवरणों को अलग-अलग मानें तभी यह कहा जा सकता है कि ज्ञानावरण का सर्वथा नाश होने से मतिज्ञानादि ज्ञान है—इस तरह ज्ञानों का सद्भाव →

‘सत्तेव अचक्षुद्भवत्सु’ अर्थात् चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और ‘चक्षुसु’ शब्द में चक्षुवचन के निर्देश द्वारा अवधिदर्शन का भी अहण करने से इन तीनों दर्शनों के साथ सम्यक्त्वनिमित्तक और मिथ्यात्व-निमित्तक दोनों प्रकार के उपयोग होते हैं।

उपर्युक्त नियमों के अनुसार अब शेष रहे मार्गणास्थानों में उपयोगों को बतलाते हैं।

मति, श्रुति, अवधि और मनपर्याय ज्ञान, सामयिक, केवलद्विक और अज्ञानत्रिक के सिवाय शेष साल उपयोग होते हैं। इसका कारण यह है कि ये मार्गणायें चौथे से लेकर बारहवें गुणस्थान पर्यन्त नींगुणस्थानों में पाई जाती हैं। इसलिये इन मार्गणाओं में मिथ्यात्व का अभाव होने से तीन अज्ञान—मति-अज्ञान, श्रुति-अज्ञान और किभंगज्ञान नहीं होते हैं कथा इनमें क्षावौपशानिका भाव होते हैं। अतः क्षावौपशानिक भाव रूप केवल-द्विक—केवलज्ञान, केवलदर्शन यह दो उपयोग संभव नहीं हैं। इसलिए अज्ञानत्रिक और केवलद्विक इन पांच उपयोगों के सिवाय तीन दर्शन—चक्षु, अचक्षु, अवधिदर्शन तथा चार ज्ञान—मति, श्रुति, अवधि, मनपर्यायज्ञान कुल सात उपयोग पाये जाते हैं।

बता सकते हैं। लेकिन पूर्व की तरह मतिज्ञानादि का कारण केवलज्ञान-वरण भावें तो उस कारण के काट होने से अनावृतप्रकाश में पहले का प्रकाश समा जाता है, यानी मतिज्ञानादि ज्ञान हो ही नहीं सकते हैं। इसलिए अन्य आचार्यों के मत से पांच ज्ञान और उनके आवरण मिथ्य-मिथ्य हैं यह समझना चाहिये।

२ चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन में सम्यक्त्व, मिथ्यात्व निमित्तक सभी उपयोग होने का कथन सामान्य से समझना चाहिये। केवलद्विक उपयोग इनमें नहीं होते हैं। जिसका स्पष्टीकरण आगे किया जाए रहा है :

अज्ञानविक, अभव्य, सासादन और मिथ्यात्व इन छह मार्गणाओं में केवलद्विक और मतिज्ञानादि चार ज्ञानों के सिवाय शेष तीन अज्ञान और चक्षुदर्शन आदि प्रथम तीन दर्शन कुल छह उपयोग होते हैं।<sup>१</sup>

लेकिन मात्र कार्मचर्यिक मतानुसार इन छह मार्गणाओं में उपयोगों का निर्देश इस प्रकार जानना चाहिए कि मति-अज्ञान, श्रूत-अज्ञान, विभिन्नज्ञान, चक्षुदर्शन यह पांच उपयोग होते हैं।

केवलज्ञान और केवलदर्शन मार्गणा में केवलज्ञान और केवलदर्शन यह दो उपयोग होते हैं। इसका कारण गाथा में संषट्क किया जा चुका है कि 'केवलदुर्गेण सेसा न होति उवयोगा'—केवली के छद्मों का क्षय हो जाने से छद्मसहचारी मतिज्ञान आदि दस उपयोग संभव नहीं हैं।

चक्षु, अचक्षु और अवधिदर्शन इन तीन दर्शनमार्गणाओं में केवलद्विक में हीन लेप दस उपयोग होते हैं। इसका कारण यह है कि यह तीनों दर्शन वारहबे गुणस्थान तक पाये जाते हैं और ये सभी गुणस्थान छाद्मस्थिक अवस्थाभावी हैं। अतः आयिकभावरूप केवलद्विक उपयोग नहीं होते हैं, जिससे शेष दस उपयोग माने जाते हैं।

अनाहारकमार्गणा में मनवर्यायज्ञान और चक्षुदर्शन के सिवाय शेष दस उपयोग होते हैं। क्योंकि ये उपयोगद्वय पर्याप्त अवस्थाभावी

१ यह कथन कार्मचर्यिक और सैद्धान्तिक दोनों अपेक्षाओं का सम्बन्ध करके किया है। क्योंकि कार्मचर्यिक पहले सीम गुणस्थानों में अज्ञान मानते हैं और सैद्धान्तिक विभिन्नज्ञानी को अवधिदर्शन मानते हैं तथा सासादन-गुणरूपान में मिथ्यात्व के उदय का अभाव होने से अज्ञान न मानकर ज्ञान मानते हैं। यहीं जो अज्ञानविक आदि छह मार्गणाओं में अवधिदर्शन माना उसमें सैद्धान्तिक अपेक्षा और सासादन में अज्ञान माना उसमें कार्मचर्यिक अपेक्षा है।

होने से अनाहारकमार्गणा में नहीं होते। अनाहारक दशा विग्रहगति तथा केवलीसमुद्घात के तीसरे, चौथे और पांचवें समय में अधिक भोजन में होती है।

अतः इन दोनों में पृथक्-पृथक् रूप से उपयोगों का विचार किया जाये तो विग्रहगति में आठ उपयोग होते हैं—भावी तोषकर आदि सम्यक्त्वी की अपेक्षा तीन ज्ञान, मिथ्यात्वी की अपेक्षा तीन अज्ञान तथा सम्यक्त्वी, मिथ्यात्वी दोनों की अपेक्षा अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन तथा केवलीसमुद्घात और भोजन में केवलज्ञान और केवलदर्शन यह दो उपयोग होते हैं। इस प्रकार विग्रहगति सम्बन्धी आठ और केवलीसमुद्घात व भोजन में पाये जाने वाले दो उपयोगों को मिलाने से अनाहारकमार्गणा में दस उपयोग होते हैं।

देशविरतिमार्गणा में सम्यक्त्वनिभित्तिक आदि के तीन दर्शन—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और आदि के तीन ज्ञान—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान सब मिलाकर छह उपयोग होते हैं तथा तीन अज्ञान और मनपर्यायज्ञान तथा केवलद्विक यह छह उपयोग नहीं होते हैं।

इन छह उपयोगों के न होने का कारण यह है कि देशविरति में मिथ्यात्व का उदय नहीं होने से मिथ्यात्वसंहभावी अज्ञानविक तथा एकदेश तथा आंशिक संयम का आचरण होने से सर्वविरतिसापेक्ष मनपर्यायज्ञान और केवलद्विक यह तीनों उपयोग नहीं होते हैं। इसी कारण देशविरति में आदि के तीन ज्ञान और तीन दर्शन यह छह उपयोग माने जाते हैं। अवधिद्विक को घटण करने का कारण यह है कि श्रावकों में अवधि उपयोग पाये जाने का वर्णन आगमों में आया है।

मिश्रसम्यक्त्वमार्गणा में भी देशविरति की तरह दर्शनविक

और ज्ञानविक कुल मिलाकर छह उपयोग पाये जाते हैं। लेकिन देवताविरति की अपेक्षा इतनी विशेषता है कि वे अज्ञान से मिश्रित होते हैं। अर्थात् मतिज्ञान मति-अज्ञान में, श्रुतज्ञान श्रुत-अज्ञान से, अवधिज्ञान अवधि-अज्ञान (विभवज्ञान) से मिश्रित होते हैं। इस मिश्रता का कारण यह है कि यहाँ अर्धविषुद्ध दर्शनमोहनीय पूज का उदय होने से परिणाम कुछ शुद्ध और कुछ अशुद्ध यानी मिश्ररूप होते हैं। शुद्धि की अपेक्षा मति आदि को ज्ञान और अशुद्धि की अपेक्षा अज्ञान माना जाता है तथा अविरतिमार्गण में आदि के तीन ज्ञान, तीन अज्ञान और चक्षुदर्शन आदि तीन दर्शन कुल नौ उपयोग होते हैं।

लेकिन पृथक्-पृथक् सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी की अपेक्षा अविरतिमार्गण में उपयोग का विचार करें तो सम्यग्हटित अविरतियों को मतिज्ञान आदि तीन ज्ञान और चक्षुदर्शन आदि तीन दर्शन यह छह उपयोग होंगे तथा मिथ्यात्वी अविरतियों में मति-अज्ञान आदि तीन अज्ञान और चक्षु, अचक्षुदर्शन कुल पाँच उपयोग माने जायेंगे।

इस प्रकार से मार्गणाओं में उपयोग का विचार जानना चाहिये ।<sup>१</sup> सरलता से समझने के लिये मार्गणाओं में संभव योग और उपयोगों का प्रारूप इस प्रकार है—

१ मिथ्यगुणस्थान में अवधिदर्शन का विचार करने वाले कार्यप्रविक दो पक्ष हैं। प्रथम पक्ष जौये आदि नी गुणस्थानों में अवधिदर्शन मानता है और द्वितीय पक्ष तीसरे गुणस्थान में भी अवधिदर्शन। यहाँ द्वितीय पक्ष को लेकर मिथ्यग्हटित के उपयोगों में अवधिदर्शन को प्रहृण किया है।

२ द्विगम्बर कर्मसाहित्य में असंत मार्गणाओं में उपयोग-विचार को परिशिष्ट में देखिये।

क्र० सं०	मार्गणा नाम	योगों की संख्या और नाम	उपयोगों की संख्या व नाम
<b>१—गतिसारणा</b>			
१	१ नरकगति	११ औदारिकद्विक ६ मनपर्यायज्ञान, केवल- और आहारक- द्विक के सिवाय द्विक के सिवाय	
२	२ तिर्यकगति	१३ आहारकद्विक ८ मनपर्यायज्ञान, केवल- के सिवाय द्विक के सिवाय	
३	३ भनुष्यगति	१५ मन, वचन, १२ सभी उपयोग (५ ज्ञानी- काय योग के सभी पथोग, ४ दर्शनोपयोग) सभी भेद	
४	४ देवगति	११ नरकगतिवत् ८ नरकगतिवत्	
<b>२—इन्द्रियसारणा</b>			
५	१ एकेन्द्रिय	५ कार्मण, औदा- ३ मति-शूत-ज्ञान, रिकद्विक, अस- अचक्षुदर्शन वैक्रियद्विक	
६	२ द्वीन्द्रिय	४ कार्मण, औदा- ३ मति-शूत ज्ञान, रिकद्विक, अस- अचक्षुदर्शन त्यामृषाभाषा	
७	३ त्रीन्द्रिय	४ कार्मण, औदा- ३ मति-शूत ज्ञान, रिकद्विक, अस- अचक्षुदर्शन त्यामृषाभाषा	

५	८ चतुरिंद्रिय	४ कार्मण, औदार- ३ भृत्य-कुत वस्त्र, बाल-रिकृदिक, अस- दर्शन आदि दो दर्शन त्यामृषाभाषा
-६	५ पञ्चेन्द्रिय	१५ मनुष्यगतिवत् १२ सभी उपयोग (८ ज्ञान ४ दर्शन)

### ३—कायमार्गणा

१०	१ पृथक्काय	३ कार्मण, औदार- ३ एकेन्द्रियवत् रिकृदिक
११	२ जलकाय	३ " " ३ " "
१२	३ तेजस्काय	३ " " ३ " "
१३	४ वायुकाय	५ कार्मण, औदार- ३ एकेन्द्रियवत् रिकृदिक, वैक्रियद्विक
१४	५ वनस्पति- काय	३ कार्मण, औदार- ३ " "
१५	६ लक्षकाय	१५ मनुष्यगतिवत् १२ सभी उपयोग (८ ज्ञानोपयोग, ४ दर्शनोपयोग)

### ४—योगमार्गणा

१६	१ भनीयोग	१३ कार्मण और १२ सभी उपयोग (८ ज्ञान, औदारिकमिश्र ४ दर्शन) के सिवाय
१७	२ बन्धनयोग	१३ कार्मण और १२ सभी उपयोग औदारिकमिश्र (८ ज्ञान, ४ दर्शन) के सिवाय
१८	३ काथयोग	१५ मनुष्यगतिवत् १२ सभी उपयोग (८ ज्ञान ४ दर्शन)

## ५—वेदमार्गणा

१६	१ पुरुषवेद	१५ मनुष्यगतिवद्	१२ मनोयोगवत्
२०	२ स्त्रीवेद	१६ रिषिकात्तिवद्	१३ "
२१	३ नामुसकवेद	१५ मनुष्यगतिवद्	१३ "
<b>६—कथायमार्गणा</b>			
२२	१ क्रोध	१५ मनुष्यगतिवद्	१० केवलद्विक के सिवाय शेष दस उपयोग

२३	२ मान	१५	"	"	१०	"	"
२४	३ माया	१५	"	"	१०	"	"
२५	४ लोभ	१५	"	"	१०	"	"

## ७—शान्तमार्गणा

२६	१ मृतज्ञान	१५ मनुष्यगतिवद्	७ अज्ञानविक और केवलद्विक के सिवाय शेष सात
२७	२ शुतज्ञान	१५ मनुष्यगतिवद्	७ अज्ञानविक और केवलद्विक के सिवाय शेष सात
२८	३ अवधिज्ञान	१५ मनुष्यगतिवद्	७ अज्ञानविक और केवलद्विक के सिवाय शेष सात
२९	४ मनपर्याय- ज्ञान	१३ कार्मण और औदारिकमिश्र के सिवाय	७ अज्ञानविक और केवलद्विक के सिवाय शेष सात

प्राचीन ग्रन्थ  
प्राचीन ग्रन्थ  
प्राचीन ग्रन्थ  
प्राचीन ग्रन्थ

३०	५ केवलज्ञान ७ औदारिकठिक,	२ केवलज्ञान, केवल- कार्मण, सत्य, असत्याभृषा मनोयोग व वचनयोग	दर्शन
३१	६ मति-अज्ञान १३ तिर्थचरगतिवत्	६ तीन अज्ञान, चक्षु- दर्शन आदि तीन दर्शन	
३२	७ श्रुत-अज्ञान १३ तिर्थचरगतिवत्	६ तीन अज्ञान, चक्षु- दर्शन आदि तीन दर्शन	
३३	८ विभंगज्ञान १३ तिर्थचरगतिवत्	६ तीन अज्ञान, चक्षु- दर्शन आदि तीन दर्शन	

#### इ-संग्रहमार्गणा

३४	१ सामाधिक १३ कार्मण, औदा- रिकमिश्र के सिद्धाय	७ मतिज्ञानवत्
३५	२ छेदोपस्थापना १३ "	" ७ "
३६	३ परिहार- विशुद्धि	८ मनोयोग ४ ७ वचनयोग ४ औदारिक
३७	४ सूक्ष्मसंपराय	९ कार्मण, औदा० ७ मिश्र, वैक्षिकठिक आहारकठिक के विना

३८	५ अथवायात्	११ मनोयोग ४, ब्रह्मयोग ४, कार्मण, औदा- रिकद्विक	६ मतिज्ञान आदि पांच शान, चक्रुदर्शन आदि चार दर्शन
३९	६ देशविरति	११ मनोयोग ४ ब्रह्मयोग ४, औदारिक, वैक्रियद्विक	६ आदि के तीन दर्शन, आदि के तीन ज्ञान के तीन दर्शन
४०	७ अधिरति	१३ भिन्नभगतिवत्	६ आदि के तीन ज्ञान, तीन अज्ञान, आदि १ के तीन दर्शन

#### ६—वर्णनमार्गणा

४१	१ चक्रुदर्शन	११ कार्मण, औदा- १० केवलद्विक के सिवाय रिकमिश्र, वैक्रि- शेष दस उपयोग यमिश्र, आहा- रकमिश्र के सिवाय
४२	२ अचक्रुदर्शन	१५ भनुष्यगतिवत् १० केवलद्विक के सिवाय शेष दस उपयोग
४३	३ अवधिदर्शन	१५ भनुष्यगतिवत् १० केवलद्विक के सिवाय शेष दस उपयोग
४४	४ केवलदर्शन	७ केवलज्ञानवत् २ केवलज्ञान, केवलदर्शन १०—सेव्यमार्गणा

४५ १ कृष्णलेश्या १५ मनुष्यगतिवद् १० केवल द्विक के सिवाय  
शेष दस उपयोग

४६	२ नीललेश्या	१५	"	"	:
४७	३ काषोत्तलेश्या	१५	"	"	"
४८	४ तेजोलेश्या	१५	"	"	"
४९	५ पद्मलेश्या	१५	"	"	"
५०	६ शुक्ललेश्या	१५	"	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञान, ४ दर्शन)	

#### ११—भव्यमार्गणा

५१	१ भव्यत्व	१५ मनुष्यगतिवद्	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञान, ४ दर्शन)
५२	२ अभव्य	१३ तिर्थचंगतिवद्	६ अज्ञानत्विक, चक्षुदर्शन आदि तीन दर्शन

#### १२—सम्बद्धत्वमार्गणा

५३	१ औपश-	१३ तिर्थचंगतिवद्	७ मतिज्ञानवद्
	मिक		
५४	२ क्षायोप.	१५ मनुष्यगतिवद्	८ मतिज्ञानवद्
५५	३ क्षायिक	१५ मनुष्यगतिवद्	९ मतिज्ञान आदि पांच ज्ञान, चक्षुदर्शन आदि चार दर्शन
५६	४ सासादन	१३ तिर्थचंगतिवद्	६ अज्ञानत्विक, चक्षुदर्शन आदि तीन दर्शन

- ५७ ४ मिश्र १० मनोयोग ४ वचन- ६ आदि के तीन ज्ञान और  
योग ४, औदारिक, दर्शन अज्ञानमिथित  
वैक्षिक्य
- ५८ ६ मिथ्यात्व १३ लिंगचरणतिवत् ६ अज्ञानविक, चक्षुदर्शन  
आदि तीन दर्शन

### १३—संज्ञीमार्गणा

- ५९ १ संज्ञित्व १५ मनुष्यगतिवत् १२ सभी उपयोग (८ ज्ञान,  
४ दर्शन)
- ६० २ असंज्ञित्व ६ कार्मण, औदा- ४ मति-श्रुत अज्ञान, चक्षु,  
रिक्तिक, वैक्षिक्य- अचक्षुदर्शन  
द्विक, असत्यामृषा-  
वचनयोग

### १४—आहारमार्गणा

- ६१ १ आहार- १५ मनुष्यगतिवत् १२ सभी उपयोग (८ ज्ञान,  
कर्त्तव्य ४ दर्शन)
- ६२ २ अनाहार- १ कार्मणकार्य- १० मनपथविज्ञान, चक्षु-  
कर्त्तव्य योग दर्शन के सिवाय शेष दस

### द्वितीय

- असंज्ञी ४ मति-श्रुत अज्ञान, चक्षु-  
पचेन्द्रिय दर्शन, अचक्षुदर्शन

### गुणस्थानों में योग-विचारणा

जीवस्थानों और मार्गिणास्थानों में योगों और उपयोगों का विस्तार में निरूपण करने के पश्चात् अब क्रमप्राप्त गुणस्थानों में उनका कथन करते हैं। लेकिन पूर्व में जैसे सर्वेव पहले योगों का और उसके पश्चात् उपयोगों का विद्यान किया है, उसी प्रकार यहाँ भी पहले गुणस्थानों में योगों को बतलाते हैं—

जोगाहारदुगृणा मिळ्छे सासायणे अविरए य ।

अपुब्वाइसु पञ्चसु नव ओरालो मणवई य ॥१६॥

वेडविविष्टाजुया ते भीसे साहारणेण अपमत्ते ।

देसे दुविडविविजुया आहारदुगृण य पमत्ते ॥१७॥

अज्जोगो अज्जोगी सत्त सज्जोगमि होति जोगा उ ।

दो दो मणवइजोगा उरालदुगं सकम्भदणे ॥१८॥

**गात्रार्थ—**जोग—योग, आहारदुगृणा—आहारकट्टिक से न्यून (रहित), मिळ्छे—मिथ्यात्म भैं, सासायणे—सामादन में, अविरए—अविरतसम्यहृष्टि में, य—और, अपुब्वाइसु पञ्चसु—अपूर्वकरणादि पांच में, नव—नौ, ओरालो—ओदारिक, मणवई—मन और वचन योग, य—और।

**वेडविष्टा—**वैक्रिययोग से, जुय—सहित, से—वै, भीसे—मिथ्यगुणस्थान में, साहारणे—आहारकसहित, अपमत्ते—अपमत्त में, देसे—देशविरत में, दुविडविविजुया—वैक्रियविकसहित, आहारदुगृण—आहारकट्टिक से, य—और यमत्ते—प्रमत्तविरतगुणस्थान में।

**अज्जोगो—**योगरहित, अज्जोगी—अयोगिगुणस्थान, सज्जोगमि—सज्जोगी में होति—होते हैं, जोग—योग, उ—तथा, दो—दो, दो, मणवइजोग—भग्नीयोग और वचनयोग, उरालदुगं—ओदारिकट्टिक, सकम्भदणे—कार्यण्ययोग सहित।

**गात्रार्थ—**मिथ्यात्म, सासादन और अविरतसम्यहृष्टि गुणस्थान में आहारकट्टिक रहित तेरह योग होते हैं। अपूर्वक-

रणादि पांच गुणस्थानों से मन और बचन योग के चार-चार और औदारिक इस प्रकार जौ योग होते हैं।

मिश्रगुणस्थान में वैक्रिययोग सहित चस, अप्रभवत्विरत-गुणस्थान में आहारक सहित च्यारह, देशविरत में वैक्रियट्रिक सहित च्यारह और प्रमत्तविरत में आहारकट्रिक सहित तेरह योग होते हैं।

अयोगिकेवलीगुणस्थान योगरहित है और सयोगिकेवली-गुणस्थान में मन और बचन के दो-दो, औदारिकट्रिक और कार्मण ये सात योग होते हैं।

**विशेषार्थ**—इन तीन ग्राथाओं में गुणस्थानों में योगों की संख्या बतलाई है कि प्रत्येक गुणस्थान में कितने और कौन-कौन से योग सम्भव हैं। योग के मनोयोग, बचनयोग और काययोग इन तीन मूल भेदों के क्रमशः चार, चार और सात भेदों के नाम तो पूर्व में कहे जा चुके हैं और यहीं प्रारम्भ में गुणस्थानों के भेद, नाम व लक्षण न बताकर बंधकद्वार ग्राथा ८३ में बताये हैं। लेकिन उपयोगिता की हृष्टि से गुणस्थानों में योगों का निर्देश करने के पूर्व गुणस्थानों के भेद आदि जान लेना आवश्यक होने से पहले उनके भेद, नाम और लक्षण कहते हैं।

### गुणस्थानों के भेद<sup>१</sup>

गुणस्थान का लक्षण पूर्व में बताया जा चुका है कि सामान्य से अतुर्गति रूप संसार में विद्यमान सभी जीवों के गुणों में न्यूनाधिकता नहीं है। गुणों की हृष्टि से सभी आत्मायें समान हैं। लेकिन संसारी आत्माओं के गुण आवरक कर्मों द्वारा आचलादित हैं, उन आवरक कर्मों

१ गुणस्थान के भेद, लक्षण आदि का विस्तार से विचार द्वितीय कर्मण थ में किया है। उसी का संस्कृत सारांश यहीं प्रस्तुत किया जा रहा है।

की आच्छादन शक्ति के तारतम्य एवं अल्पाधिक तथा समग्र रूपेण दूर होने पर प्रगट हुए ज्ञानादि गुणों के स्थान—भेद, स्वरूपविशेष को गुणस्थान कहा जाता है। आत्मगुणों में शुद्धि के अपकर्ष और अशुद्धि के उत्कर्ष के कारण आस्त्र और बंध हैं एवं अशुद्धि के अपकर्ष और शुद्धि के उत्कर्ष के हेतु संवर और निर्जरा हैं। आस्त्र के द्वारा कर्मविरण के आने और बंध के कारण दृष्ट्यामी अथवा अनिन्द्रोहपिण्डवत् आहमा के साथ संबंध होते जाने से आत्मगुणों पर जावरण गाढ़ा होता जाता है। जिससे अशुद्धि का उत्कर्ष होता है। लेकिन संवर के द्वारा नवीन कर्मसूल के बागमन का निरोध होने तथा निर्जरा द्वारा पूर्वसंबद्ध मल का क्षय होते जाने से गुणों की शुद्धि में उत्कर्षता और अशुद्धि में अपकर्षता अथवा न्यूनता आती जाती है। जिससे जीवों की पारिणामिक शुद्धि और गुणों में उत्तरोत्तर अधिकता, वृद्धि और विकास होता जाता है। आत्मगुणों के इसी विकासक्रम को गुणस्थान बदलते हैं।<sup>१</sup>

१ तत्र गुणः ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूपा जीवस्वभावविशेषाः, स्थानं पुनरत्र तिर्था शुद्ध्यशुद्धिप्रकर्षपिकर्षकृतः स्वरूपभेदः तिष्ठन्त्यस्मिन् गुणा इतिकृत्वा यथाऽप्यवस्थाप्रस्थानमितिगुणानां स्थानं गुणस्थानमिति ।

—कर्मस्त्रव, गोविन्दपणिकृति पृ. २

द्वितीय वर्षाभ्यों में गुणस्थान का लक्षण इस प्रकार बतलाया है—

जोहि तु लक्ष्यज्ञसे उद्यादिसु संभवेहि भावेहि ।

जीवा ते गुणस्थाना गिद्दित्ता स्ववदरसीहि ॥

दर्शनभीहनीय आदि कर्मों की उदय, उपशम, क्षय, कायोपशम आदि अवस्था के होने पर होने वाले जिस परिणामों से युक्त जो जीव देखे जाते हैं, उन जीवों को सर्वज्ञ ने उसी गुणस्थान वाला और उन भावों (परिणामों) को गुणस्थान कहा है।

—गोमटसार जीकांड ८

कर्मनल के आगमन का द्वार योग है और आत्मगुणों के विकास का प्रबल अवरोधक मीहुकर्म है। जब तक मोहकर्म की दर्शन और चारिक अवरोधक दोनों शक्तियाँ प्रबल रहती हैं, तब तक कर्मों का आवरण सघन रहता है और उसके कारण आत्मा का यथार्थ स्वरूप प्रगट नहीं हो पाता है। लेकिन आवरणों के क्षीण, निर्जीण या क्षय होने पर आत्मा का यथार्थ स्वरूप व्यक्त होता है। परम स्वरूप-बोध और स्वरूप-रमणता ही जीव का लक्ष्य है और इसी में सफलता प्राप्त करना उसके परम पुरुषार्थ की घरम परिणति है।

आगमों में जीवों के स्वरूप-विवेदों, भावात्मक नियानियों - विवेदों का विचार विस्तार से किया है। लेकिन उनमें गुणस्थान शब्द का प्रयोग देखने में नहीं आता है, प्रत्युत जीवस्थान शब्द के द्वारा गुणस्थान के अर्थ को अभिव्यक्त किया है और जीवस्थान की रचना का आधार गुणस्थान की तरह कर्मविशुद्धि बताया है।<sup>१</sup> अतः यही मानना चाहिए कि आगमगत जीवस्थान पद के लिए आगमोत्तर कालीन शंथों और कर्मशंथों में प्रयुक्त गुणस्थान पद में गुण शब्द की मुख्यता के अतिरिक्त आशय में अन्तर नहीं है। शाविदक भेद होने पर भी दोनों समानार्थक हैं।

संसार में जीव बनत्त हैं। कलिपय अंशों में बाह्य शरीर, इन्द्रिय, गति आदि की अपेक्षा समानता जैसी दिखती है, फिर भी प्रत्येक जीव एक जैसा नहीं है। इसीलिए शास्त्रों में इन्द्रिय, वेद, ज्ञान, उपयोग, लक्षण आदि विभागों के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से उनके भेद बताकर वर्ग बनाये दें और ऐसा दिखता भी है। लेकिन बाह्य की अपेक्षा आत्मरिक ज्ञानादि गुणों के स्वरूप की विशेषताएँ तो असंघ्य प्रकाश

<sup>१</sup> कर्मविसरेहिमउर्गण वहुक्त्व चलहस जीवद्वाणा पण्डिता.....

की हैं। अतः इन असर्वत्य प्रकारों का सरलता से शोध कराने और उनकी मुख्य विशेषता को बताने के लिए उन असर्वत्य ज्ञानादि मुण्डों के स्वरूपविशेषों को एक-एक वर्ग में गमित करके गुणस्थान के चौदह भेदों की व्यवस्था की है। जिसके नाम इस प्रकार हैं—

(१) मिथ्यात्व, (२) सासादन, (३) सम्युक्तमित्याहृष्टि (मित्रहृष्टि), (४) अविरतसम्यमृष्टि, (५) देशविरत, (६) प्रभत्विरत-संयत, (७) अप्रभत्वसंयत, (८) अपूर्वकरण, (९) अनिवृत्तिवादर-संपराय, (१०) सूक्ष्मसंघराय, (११) उपशांतकाषायबीतरागच्छदमस्थ, (१२) क्षीणकाषायबीतरागच्छदमस्थ, (१३) सयोगिकेवली, (१४) अयोगिकेवली।<sup>१</sup> इनमें प्रत्येक के साथ मुण्डस्थान घट्व जोड़ देना चाहिए। जिसे मिथ्यात्वगुणस्थान इत्यादि।

गुणस्थानों के इस क्रम में ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रथम मिथ्यात्वगुणस्थान में आवश्यक कार्यों की सघनता होने से अशुद्धि की प्रकर्षतम स्थिति है और अंतिम चौदहवें मुण्डस्थान में शुद्धि के परम प्रकर्ष और आत्मरणता के दर्शन होते हैं। जबकि भृत्य के भेदों में आध्यात्मिक विकास की धारा को देखते हैं। पूर्व-पूर्व मुण्डस्थान से उत्तर-उत्तर के गुणस्थान में अपेक्षाकृत शुद्धि अधिक होने से ज्ञानादि मुण्ड अधिक प्रमाण में शुद्धि, प्रगट होते जाते हैं और अंत में जीवमात्र के लिए प्राप्तव्य परमशुद्ध प्रकाशमान आत्मरमणरूप परमात्मभाव प्राप्त हो जाता है। यही बताना गुणस्थान-अमविधान का उद्देश्य है।

इस क्रमविधान में संसारी जीवों की सभी मुख्य विशेषताओं के साथ सहभावी अन्य विशेषताओं का समावेश हो जाता है। ऐसा

<sup>१</sup> ३०० जीवकांड गा० ३ और १० तथा पद्मरुद्गाम ध्वनावृत्ति प्र० ३०० पृ० १६०-६१

कोई जीव जेष नहीं रहता है कि उसकी विशेषताओं का किसी तरह किसी बगेर में प्रहण न हो जाये। इसका कारण यह है कि आध्यात्मिक हृष्टि से सामान्यतया जीवों के दो प्रकार हैं—(१) मिथ्यात्मी (मिथ्याहृष्टि) और (२) सम्यक्त्वी (सम्यग्हृष्टि), अर्थात् कितने ही जीव यादु ज्ञान और विपरीत बुद्धि वाले एवं तदनुकूल आचरण करने वाले हैं और कितने ही ज्ञानी, विवेकशील, प्रयोजनभूत सद्गुरु के भर्मज एवं आदर्श का अनुसरण कर जीवन व्यक्तित करने वाले हैं।

इनमें से ज्ञानी, विपरीत बुद्धि वाले जीवों का बोध करने वाला पहला मिथ्यात्मवृण्णस्थान है और सम्यग्हृष्टि जीवों के तीन रूप हैं—  
 (१) सम्यक्त्व से गिरते समय स्वल्प सम्यक्त्व वाले, (२) अर्ध सम्यक्त्व और अर्ध मिथ्यात्म अर्थात् मिश्र और (३) विशुद्ध सम्यक्त्व वाले किन्तु चारित्रहीन। इन तीनों में से स्वल्प सम्यक्त्व वाले जीवों के लिए दूसरा सासादवगुणस्थान, मिश्रहृष्टि वालों के लिए तीसरा मिथ्यगुणस्थान और चारित्रहीन विशुद्ध सम्यक्त्वी जीवों के लिए चौथा अविरतसम्यग्हृष्टि गुणस्थान है।

यह कथन तो हुआ मिथ्यात्मी और सामान्य सम्यक्त्वी जीवों की अपेक्षा से। लेकिन जो जीव सम्यक्त्व और चारित्र सहित है, उनके भी चारित्र की अपेक्षा दो प्रकार हैं—(१) एकदेश (आशिक) चारित्र यालन करने वाले और (२) सम्पूर्ण चारित्र पालन करने वाले। ये सम्पूर्ण चारित्र का पालन करने वाले भी दो प्रकार के हैं—(१) प्रमादवश अतिचार, दोष लगाने वाले और (२) प्रमाद न रहने से निरतिचार चारित्र का पालन करने वाले। एकदेश चारित्र का पालन करने वालों का दर्शक पोचवां—देशविरतगुणस्थान है। प्रमादवश संपूर्ण चारित्र के पालन में अतिचार लगाने वाले प्रमत्संयत तांत्रक छठे गुणस्थान वाले और निरतिचार—निर्दीय चारित्र का पालन करने वाले सातवें—अप्रमत्संयतगुणस्थान वाले हैं।

यद्यपि अप्रमत्तसंयतदशा पन्न जीव वीतरागदशा, स्वरूपरमणता प्राप्त करने की ओर उम्मुख हो जाते हैं तथापि छद्मस्थ-कमद्वित है। जिससे पूर्ण वीतरागदशा प्राप्त करने में व्यवधान आता है। कर्म और आत्मशक्ति के बीच अपनी-अपनी प्रबलता के परीक्षण का एक ऐसा प्रसांग उपस्थित होता है कि जो जग-पराजय का निर्णायक होता है। अतः कितने ही अप्रमत्तसंयतमुण्डस्थानवर्ती जीव आत्मशक्ति की प्रबलता से संयुक्त कर्मशक्ति का लेदन-भेदन करने के लिए तत्पर हो जाते हैं और इसके लिए श्रेणीक्रम पर आरोहण करते हैं। जिसमें कर्मों की स्थिति, विपाकशक्ति को अधिक से अधिक निषिङ्ग, निर्वैल बनाते हैं। जिससे पारिणामिक शुद्धि पूर्व की अवेक्षा विशेष-विशेष बढ़ती जाती है। अर्थात् परिणाम शुद्ध-शुद्धतर होते जाते हैं। यह पारिणामिक शुद्धि प्रतिसमय अपूर्व ही होती है। इस दशा में वर्तमान जीवों का दर्शक आठवां अपूर्वकरणगुणस्थान है।

यद्यपि श्रेणी के आरोहण के कारण काषायिक भावों में काफी निर्वैलता आ जाती है और क्रमिक विशुद्धता भी बढ़ती जाती है, तथापि उन कषायों में उद्वेक की शक्ति बनी रहती है। अतः ऐसे जीवों का बोधक अनिवृत्तिकादरसंपराय नामक नीवां गुणस्थान है। इस गुणस्थान में भी कषायों को कृष करने का क्रम तो पूर्ववत् चलता रहता है, जिससे अंत में एक ऐसी स्थिति आती है कि उन कषायों की ज्ञानही मात्र जैसी स्थिति रह जाती है। इस स्थिति वाले जीवों को बताने वाला दसवां सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान है।

किसी भी वस्तु के इस प्रकार की स्थिति बनने पर दो रूप बन सकते हैं कि या तो वह नष्ट हो जाये अथवा तिरोहित हो जाये। कषायों के लिए भी यही समझना चाहिए। दोनों ही स्थितियों में जीव को अपने निर्मल स्वभाव के दर्शन होंगे। तिरोहित, शांत स्थिति को बताने वाला ग्यारहवां उपशास्त्रमोहबीतरागछद्मस्थंगुणस्थान

है और नष्ट अवस्था का दर्शक शीणमोहनीतरागछद्मस्थ नामक तारहवां गुणस्थान है। सण्घान्त क्षेत्रों का उद्देश संभव है, किन्तु नष्ट होने पर आत्मा को पूर्ण परमात्मदशा प्राप्त करने में कोई अवरोधक कारण नहीं रहता है।

कथाय (मोहनीयकर्म) के क्षय के साथ और भी दूसरे ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि आत्मगुणों के आच्छादक कर्मों का क्षय हो जाता है, लेकिन अभी भी शारीरादि योगों का सम्बन्ध बना रहने से वह योगयुक्त वीतराग जीव सद्योगिकेवली नामक तेरहवां गुणस्थानवर्ती कहलाता है और जब इन शारीरिक योगों का भी वियोग, क्षय हो जाता है तो ज्ञान-दर्शन आदि आत्मरमणसारूप स्थिति बन जाती है। जिसका दर्शक चौदहवां गुणस्थान अयोगिकेवली है।

इन चौदह गुणस्थानों में आदि के चार गुणस्थानों में दोनों—मोह—स्वरूपबोध आच्छादक कर्मों की और उनसे ऊपर चारिद्रमोह—स्वरूप-लाभ आवरक कर्मों की अपेक्षा है और अंतिम तेरहवें चौदहवें गुणस्थान योगसामेक्षा है।

इस प्रकार ये चौदह गुणस्थान स्व गंतव्य और प्राप्तव्य की ओर अग्रसर आत्मा के विकासदर्शक सौपान हैं।

यद्यपि गुणस्थानक्रमारोहण की इस संक्षिप्त ज्ञानी में गुणस्थानों की स्वरूपव्याख्या का पूर्वभास हो जाता है, तथापि प्रत्येक गुणस्थान का कुछ विशेषता के साथ लक्षण समझने के लिए अब संक्षेप में मिथ्यात्म आदि गुणस्थानों का स्वरूप बतलाते हैं।

१. मिथ्यात्मगुणस्थान—जीव-अजीव आदि तत्त्वों की मिथ्याविपरीत है दृष्टि, अद्वा जिसकी उस जीव को मिथ्याविष्ट कहते हैं। जैसे—किसी व्यक्ति ने घटूरा खाया हो तो उसको सफेद बस्तु भी पीली दिखती है, उसी प्रकार मिथ्यात्ममोहनीयकर्म के उदय से जिस जीव की दृष्टि विपरीत हो, जीव-अजीव आदि के स्वरूप की

अथार्थ प्रतीति नहीं ही, उस आत्मा को मिथ्याहृष्टि और उसके ज्ञानादि गुणों के स्वरूपविशेष को मिथ्याहृष्टिगुणस्थान कहते हैं।

**प्रश्न**—यदि आत्मा मिथ्याहृष्टि-विपरीतहृष्टि वाला है तो उसे गुणस्थान कैसे कह सकते हैं। क्योंकि गुण लो ज्ञान, दर्जन और चारित्र रूप हैं। जब विपरीत प्रतीति, श्रद्धा हो तब वे गुण कैसे हो सकते हैं। अर्थात् ज्ञानादि गुण जब मिथ्यात्वमोह के उदय से दूषित हों तब उन दूषित गुणों को गुणस्थान कैसे कहा जा सकता है?

**उल्लङ्घन**—यद्यपि तत्त्वार्थ की श्रद्धा रूप आत्मा के गुण को सर्वथा आच्छादित करने वाले प्रबल मिथ्यात्वमोहभीय के विपाकीदय से प्राणियों की जीव-अजीव आदि वस्तुओं की प्रतीति रूप तास्त्रिक अहंकार होती है, यद्यपि प्रत्येक प्रतीति में पह यदुक्षण है, वह पशु है, इत्यादि रूप से कुछ प्रतीति होती है। इतना ही क्यों, निमोदा-वस्त्रा में भी यह उच्छ्वास है, यह शीत है, इस प्रकार की स्फौर्नेन्द्रिय के विषय की प्रतीति (ज्ञान) अविपरीत होती है। जैसे कि अति संधन बादलों से चन्द्र और सूर्य की प्रभा के आच्छादित होने पर भी संपूर्ण-तथा उसकी प्रभा का नाश नहीं होता है, आंशिक रूप से खुली रहती है, जिससे दिन-रात का विभाग किया सके। यदि वह अंश भी खुला न रहे तो प्राणिमात्र में प्रसिद्ध दिन-रात का भेद ही नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार यहीं भी प्रबल मिथ्यात्वमोह के उदय से सम्यक्त्व रूप आत्मा का स्वरूप आच्छादित रहने पर भी उसका कुछ न कुछ अंश अनावृत रहता है। जिसके द्वारा मनुष्य और पशु आदि विषयों की अविपरीत प्रतीति प्रत्येक आत्मा को होती है। इस अंश गुण की अपेक्षा से मिथ्याहृष्टि को गुणस्थान माना जाता है।

**प्रश्न**—अंशगुण की अपेक्षा जब मिथ्याहृष्टि को गुणस्थान माना जाता है, तब उसे सम्यक्त्व कहने और मानने में क्या अपरिवर्त्तिहै?

क्योंकि मनुष्य, गुण शब्द के विवरक प्रतीति, वदा की अवैधता और अंत में निरोदावस्था में भी तथाप्रकार के स्पर्श की अव्यक्त प्रतीति की अपेक्षा से प्रत्येक आत्मा में सम्यग्वृष्टिस्त्र भाना जा सकता है। अतएव आशिक गुण की अपेक्षा से प्रत्येक आत्मा को सम्यग्वृष्टि कहना चाहिये, मिथ्यावृष्टि नहीं।

उत्तर—यह ठीक है कि किसी अंश में मिथ्यात्वी की वृष्टि यथार्थ है, किन्तु इतने मात्र से उसे सम्यग्वृष्टि नहीं कह सकते हैं। क्योंकि भास्त्र में कहा गया है कि द्वादशराग के अर्थ को मानने पर भी सूखोल्ल एक अक्षर की जो श्रद्धा, प्रतीति, विश्वास नहीं करता है, वह मिथ्यावृष्टि है। अतः यदि सूख ही प्रमाण नहीं तो भगवान् अरिहंत-भाषित जीव-अजीव आदि वस्तुविषयक यथार्थ तत्त्वनिर्णय कैसे हो सकता है? लेकिन सम्यक्त्वी जीव की यह विशेषता होती है कि उसे सर्वज्ञकथन पर अखण्ड विश्वास होता है, किन्तु मिथ्यात्वी की नहीं होता है। इसीलिये मिथ्यात्वी को सम्यग्वृष्टि नहीं कहा जा सकता है।

प्रश्न—अरिहंत-भाषित मिथ्यान्त के अर्थ को मानने पर भी तदगत एक अक्षर को न माने तो वह मिथ्यावृष्टि है। परन्तु न्याय से तो उसे मिश्रवृष्टि कहना चाहिये। क्योंकि वह भगवान् अरिहंतभाषित संगूर्ण अर्थ को मानता है, मात्र कुछ एक अर्थ को नहीं मानता है। अतः श्रद्धा-अश्रद्धा की मिश्रता होने से मिश्रवृष्टि कहना चाहिए, न कि मिथ्यावृष्टि।

उत्तर—श्रद्धा-अश्रद्धा की मिश्रता से मिश्रवृष्टि कहना चाहिये, मिथ्यावृष्टि नहीं, यह कथन वस्तुस्वरूप का अज्ञान होने से बस्तु है। क्योंकि वीतरागभाषित जीव-अजीव आदि सभी पदार्थों को जिन-प्रणीत होने से यथार्थरूप से श्रद्धा करे तब वह सम्यग्वृष्टि है, लेकिन अब जीव-अजीव आदि सभी पदार्थों को अथवा उसके अमुक अंश की

भी अवधार्थ रूप में श्रद्धा करे तब वह मिथ्याहृष्टि है और जब एक भी द्रव्य या पर्याय के विषय में बुद्धि की मंदता के कारण सम्बन्धान अथवा मिथ्याज्ञान का अभाव होने से न तो एकान्त श्रद्धा होती है और न एकान्त अश्रद्धा, तब वह मिथ्याहृष्टि बनता है। इस प्रकार जब श्रद्धा-अधर्द्धा दोनों न हों तब उसे मिथ्याहृष्टि कहते हैं। परन्तु जब एक भी वस्तु या पर्याय के विषय में एकान्त अधर्द्धा हो तब उसे मिथ्याहृष्टि ही कहा जायेगा।

२. सासादनगुणस्थान—आय—उपशम सम्यक्त्व के साथ का जो नाश करे उसे आयसादन कहते हैं। व्याकरण के नियम के अनुसार इसमें 'य' शब्द का लोप होने से आसादन शब्द बनता है। अतः जो उपशम सम्यग्हृष्टि जीव अनन्तानुबंधिकषाय के उदय से सम्यक्त्व को छोड़कर मिथ्यात्व की ओर उन्मुख है, किन्तु अभी तक मिथ्यात्व की प्राप्त नहीं किया है, तब तक अर्थात् जबन्त्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवालिका पर्यन्त सासादनसम्यग्हृष्टि कहलाता है और उस जीव के स्वरूपविशेष को सासादनसम्यग्हृष्टिगुणस्थान कहते हैं।

जिस प्रकार पर्वत से गिरते और अभी भूमि पर न आने के पहले मध्य में जो समय है, उसे न पर्वत पर ठहरने का और न भूमि पर ठहरने का समय कह सकते हैं, किन्तु अनुभवकाल है। इसी प्रकार अनन्तानुबंधिकषायों के उदय होने से सम्यक्त्वपरिणामों के छूटने पर और मिथ्यात्वपरिणामों के प्राप्त न होने पर सम्यक्त्व के अनुभवकाल-भावी परिणामों की सासादनगुणस्थान कहते हैं।

यद्यपि इस गुणस्थान के समय जीव मिथ्यात्व की ओर उन्मुख है, तथापि जिस प्रकार खोकर उसका दमन करने वाले को विलक्षण स्वाद का अनुभव होता है, इसी प्रकार सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व की ओर उन्मुख हुए जीव को भी कुछ काल तक सम्यक्त्व गुण का

विलक्षण आस्वादन अनुभव में आता है। इस स्थिति का दोतक यह सासादनगुणस्थान है।

३. मिथ्रदृष्टिगुणस्थान—सम्यग्—यथार्थ और मिथ्या—अग्य-  
थार्थ दृष्टि-शब्द है जिसकी उसे सम्यग्-मिथ्यादृष्टि और उसके  
ज्ञानादि गुणों के स्वरूपविशेष को सम्यग्-मिथ्यादृष्टिगुणस्थान कहते  
हैं। अर्थात् दर्जनमोहनीय के तीन पुँजों—मुद्र (सम्यक्त्व), अशुद्ध  
(मिथ्यात्व) और अर्धविशुद्ध (सम्यग्-मिथ्यात्व) में से जब अर्धविशुद्ध  
पुँज का उदय हो जाता है, जिससे जिनप्रणीत तस्व पर शब्द या  
अर्थशब्द नहीं होती है किन्तु गुड़ से मिथ्रित दही के स्वाद की तरह  
शब्द-शब्द या अशब्द या अर्थशब्द मिथ्र दोनों हैं। इस एकाद की शब्द इसले जीव को  
सम्यग्-मिथ्यादृष्टि कहते हैं और उसका स्वरूपविशेष मिथ्र (सम्यग्-  
मिथ्यात्व) गुणस्थान कहलाता है।

इस गुणस्थान में श्रद्धा (रुचि), अश्रद्धा (अरुचि) न होने का कारण  
यह है जीव मिथ्रगुणस्थान से पहले और चौथे इन दोनों गुणस्थानों

१ मिथ्यात्वमोहनीय के एकस्थानक और मंद द्विस्थानक रस वाले पुद्गलों  
को सम्यक्त्वमोहनीय कहते हैं, उसके उदय से जिन वचनों पर शब्द होती  
है, उस समय आत्मा क्षायोपशमिक सम्यादृष्टि होती है। मध्यम द्विस्थानक  
रस वाले मिथ्यात्व के पुद्गलों को मिथ्रमोहनीय कहते हैं। उनके उदय  
से जिनप्रणीत तस्व पर शब्द या अशब्द नहीं होती है और तीव्र द्वि, त्रि  
और चतुर स्वामक रस वाले पुद्गल मिथ्यात्वमोहनीय कहलाते हैं। उनके  
उदय से जिनप्रणीत तस्व के प्रति अरुचि ही होती है। उक्त तीन पुँजों में  
से जब अर्धविशुद्ध पुँज का उदय होता है तब उसके उदय से जीव को अरि-  
हंतभाक्षित तस्व की अर्धविशुद्ध शब्द होती है। अर्थात् जिनप्रणीत तस्व के  
प्रति रुचि या अरुचि नहीं होती है, तब सम्यग्-मिथ्यादृष्टिगुणस्थान प्राप्त  
होता है।

से आता है। पहले से आने वाले के जो अरुचि थी, वह तो हट जाती है, किन्तु रुचि थी ही नहीं। चौथे से आने वाले के जो रुचि थी, वह दूर हो जाती है और अरुचि तो थी ही नहीं। इसीलिए तीसरे गुणस्थान में रुचि या अरुचि नहीं होती है। इसी का नाम अर्धविशुद्ध शब्द है।

इस गुणस्थान का जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्भूत है। तत्पश्चात् परिणाम के अनुसार पहले या चौथे गुणस्थान को जीव प्राप्त करता है।

**४. अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान—**हिसादि सावधा व्यापारों और पापजनक प्रयत्नों के त्याग को विरति कहते हैं और पाप व्यापारों एवं प्रयत्नों का त्याग न किया जाना अविरति कहलाता है। चारिव और व्रत ये विरति के अपर नाम हैं। अतः सम्यग्दृष्टि होकर भी जो जीव किसी प्रकार के व्रत को धारण नहीं कर सकता है उसे अविरतसम्यग्दृष्टि कहते हैं और उसका स्वरूप विशेष अविरत-सम्यग्दृष्टि कहलाता है। ये सम्यग्दृष्टि आत्मायें अविरति के निमित्त से होने वाले कर्मबन्ध के दुरत फल को जानती हैं और यह भी जानती है कि मोक्षमहल में छढ़ने के लिए नरसंभी के सामान विरति है, किन्तु उसको स्वीकार नहीं कर पाती है और न उसके पालन का प्रयत्न कर पाती है। इसलिए इस गुणस्थानवतीं जीव को अविरत-सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

यद्यपि इस गुणस्थान में अीपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक इन तीन में से कोई एक सम्यक्त्व होने से हेयोपादेय का विवेक होता है और संसार के प्रति आसक्तिभाव भी अल्प होता है और आत्म-हितकारी प्रवृत्ति में उल्लास आता है, लेकिन संयमविवातक अप्रत्याख्यानावरणकषाय का उदय रहने से आंशिक संयम का भी पालन

नहीं किया जा सकता है। यही नीचे के गुणस्थान की अपेक्षा अनन्त-गुणी विशुद्धि होती है और ऊपर के पांचवें गुणस्थान की अपेक्षा अनन्तगुणहीन विशुद्धि होती है।

५. देशविरतगुणस्थान—जो सम्बन्धिटि जीव सर्वविरति की आकांक्षा होने पर भी प्रत्याख्यानावरणकथाय के उदय से हिंसादि पापक्रियाओं का सर्वथा त्याग नहीं कर सकते, किन्तु अप्रत्याख्यानावरणकथाय का उदय न होने से देशतः आंशिक त्याग करते हैं वे देशविरति कहलाते हैं। इनका स्वरूपविशेष देशविरतगुणस्थान है। देशविरति को आवक भी कहते हैं।

इस गुणस्थानबतीं कई आवक एक व्रत लेते हैं, यावत् कोई सर्व व्रत-विषयक सावद्ययोग का त्याग करते हैं। इस प्रकार अधिक-अधिक लक्षों का पालन करने वाले कई आवक ऐसे होते हैं जो अनुभति को छोड़कर सावद्ययोग का सर्वथा त्याग करते हैं।

अनुभति के तीन प्रकार हैं—प्रतिसेवनानुभति, प्रतिश्रवणानुभति और संवासानुभति। अपने या दूसरे के सावद्यारंभ से किये हुए भोजन आदि का उपयोग करना प्रतिसेवनानुभति है। पुत्र आदि किसी संबंधी के हारा किये गये पाप कर्मों को सुनना और सुनकर भी उन कर्मों को करने से उनको नहीं रोकना प्रतिश्रवणानुभति है। पुत्र आदि अपने सम्बन्धियों को पापकार्य में प्रवृत्त होने पर भी उन पर सिर्फ ममता रखना अर्थात् न तो पापकर्म को सुनना और सुनकर भी न उसकी प्रशंसा करना संवासानुभति है। इन तीनों में से जो संवासानुभति के सिवाय सर्व पाप-व्यापार का त्याग करता है वह उत्कृष्ट देशविरत आवक कहलाता है। अर्थात् अन्य आवकों अपेक्षा वह श्रेष्ठ होता है।

६. प्रभृतसंयतगुणस्थान—सर्वसंयम की धारक प्रत्याख्यानावरणकथाय का उदय न होने से जो जीव तीन करण तीन योगों से

सर्वसावद्य व्यापारों से सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं वे संयत (मुनि) हैं। लेकिन संज्ञलनकषाय का उद्देश रहने से प्रमाद का सेवन करते हैं तब तक वे प्रमत्तसंयत कहलाते हैं और उनके स्वरूपविशेष को प्रमत्तसंयतगुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थानवर्ती जीव सावधकर्मी का यहाँ तक त्याग करते हैं कि पूर्वोक्त संवासानुभाति का भी सेवन नहीं करते हैं।

यहाँ देशविरतगुणस्थान की अपेक्षा अनन्तगुणी विशुद्धि होने से विशुद्धि का प्रकर्ष और अविशुद्धि का अपकर्ष होता है और अप्रमत्त-संयतगुणस्थान की अपेक्षा अनन्तगुणहीन विशुद्धि होने से विशुद्धि का अपकर्ष और अविशुद्धि का उत्कर्ष होता है। इसी प्रकार अन्य गुणस्थानों के लिए भी समझना चाहिए।

इस गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरणकषाय का क्षयोपशम होने से जीव सामायिक अथवा छेदोपस्थापनीय चारित्र प्राप्त करता है। परिहारविशुद्धि संघमी भी हो सकता है, किन्तु उसकी विवक्षा नहीं की है। क्योंकि इस चारित्र का ग्रहण तीर्थकर अथवा जिसने तीर्थ कर से यह चारित्र ग्रहण किया है, उसके पास होता है तथा चौथे आरे में उत्पन्न प्रथम संहनन और साढ़े नी पूर्व के शानी को यह चारित्र होता है, अन्य को नहीं होता है। अतएव अल्प काल और अल्प ग्रहण करने काले होने से छठे सातवें गुणस्थान में इस चारित्र के होने पर भी विवक्षा नहीं की जाती है।

७. अप्रमत्तसंयतगुणस्थान—जो संयत (मुनि) संज्ञलनकषाय का मंद उदय होने से निद्रा, विकथा, कषाय आदि प्रमादों का सेवन नहीं करते हैं, वे अप्रमत्तसंयत कहलाते हैं और उनके स्वरूपविशेष को अप्रमत्तसंयतगुणस्थान कहते हैं।

छठे प्रमत्तसंयत और सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में इतना अंतर है कि सातवें गुणस्थान में घोड़ा-न्ता भी प्रमाद नहीं होने से

ब्रह्मों में अतिचारादि संभव नहीं है किन्तु छठे गुणस्थान में प्रमाद होने से ब्रह्मों में अतिचार लगाने की संभावना है।

प्रमाद के सेवन से ही आत्मा युणों की शुद्धि से गिरती है। इसलिये इस गुणस्थान से लेकर आये के सभी गुणस्थानों में वर्तमान मुनि अपने स्वरूप में अप्रमत्ता ही रहते हैं।

८. अपूर्वकरणगुणस्थान—अपूर्व—पूर्व में नहीं हुए अथवा अन्य मुण्डस्थानों के साथ लुलना न की जा सके उसे अपूर्व कहते हैं और करण स्थितिष्ठातादि किया अथवा परिणाम। इसका यह अर्थ हुआ कि पूर्व में नहीं हुए अथवा अन्य मुण्डस्थानों के साथ जिनकी लुलना न की जा सके ऐसे स्थितिष्ठात, रसधात, गुणश्रेष्ठी, गुणसंक्रमण और अपूर्व स्थितिवंश<sup>१</sup> ये पाँच पदार्थ जिसके अन्दर होते हैं, अथवा पूर्व में नहीं हुए ऐसे विशेषशुद्धि वाले अपूर्व परिणाम<sup>२</sup> यही होते हैं, उसे अपूर्वकरण कहते हैं और इस प्रकार के परिणाम में वर्तमान जीवों के स्वरूपविशेष को अपूर्वकरणगुणस्थान कहते हैं।

इस गुणस्थान का अपरनाम निवृत्तिबादरगुणस्थान भी है। अध्यवसाय, परिणाम, निवृत्ति ये समानार्थक शब्द हैं। अतः जिस गुणस्थान में अप्रमत्त आत्मा की अनन्तानुवंशी, अप्रत्याल्यानावरण, प्रत्याल्यानावरण इन सीनों बादर कथायों की निवृत्ति हो जाती है, उस अवस्था विशेष को निवृत्तिबादरगुणस्थान कहते हैं।

अन्तर्भूत में छठा और अन्तर्भूत में सातवां गुणस्थान होता रहता है। परन्तु इस प्रकार के स्पर्श से जो संयत विशेष प्रकार की

१. इन स्थितिष्ठात आदि एवं पदार्थों की विशेष व्याख्या उपशमश्रेणि के विचारप्रत्येक में की जायेगी।

२. अपूर्वकरण में उत्तरोत्तर अपूर्व स्थितिवंश और अध्यवसायों की वृद्धि विशेषक विचार का सारांश परिचिह्नित में दिया जाया है।

शुद्धि प्राप्त करके उपशम या क्षयक शेणी मांडने वाला होता है, वह इस अपूर्वकरणगुणस्थान में आता है। यद्यपि दोनों शेणियों का प्रारम्भ नीबैं गुणस्थान से होता है, किन्तु उनकी आधारशिला यह आठबैं गुणस्थान है। अर्थात् आठबैं गुणस्थान में उपशमन या क्षयण की योग्यता प्राप्त होती है और शेणी का प्रारम्भ नीबैं गुणस्थान से होता है।

६ अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान — जिसमें समसमयवर्ती जीवों के अध्यवसायों में तारतम्य न हो और बादर (सभूल) संपराय (कषाय) का उदय होता है, उसे अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान कहते हैं।

इस गुणस्थान की जचन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रभाग है और एक अन्तर्मुहूर्त में जितने समय होते हैं, उनने ही अध्यवसायस्थान इस गुणस्थान के होते हैं और वे प्रथम समय से लेकर उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धि वाले हैं। अर्थात् पहले समय में जो अध्यवसाय होते हैं, उससे दूसरे समय में अनन्तगुण विशुद्ध होते हैं, याहट चरम समय पर्यन्त इसी प्रकार से जानना चाहिये।

नीबैं गुणस्थान को प्राप्त करने वाले जीव दो प्रकार के होते हैं—  
(१) उपशमक और (२) क्षयक। चारिक्रमोहनीय की उपशमना करने वाले उपशमक और क्षय करने वाले क्षयक कहलाते हैं।

यद्यपि आठबैं और नीबैं गुणस्थान में अध्यवसायों की विशुद्धि होती रहती है, फिर भी इन दोनों की अपनी-अपनी विशेषता है। जैसे कि आठबैं गुणस्थान में समसमयवर्ती लैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसाय शुद्धि की संरक्षितता से असंख्यात वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं, किन्तु नीबैं गुणस्थान में समानशुद्धि के कारण समसमयवर्ती लैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसायों का एक ही वर्ग होता है। पूर्व-पूर्व गुणस्थान से उत्तर-उत्तर के गुणस्थान में कषायों के बर्ण कम-कम होते जाने से कषायों की व्युत्तता के अनुसार जीवों के

परिणामों में विशुद्धि बढ़ती जाती है। अतः आठवें गुणस्थान की अपेक्षा नौवें गुणस्थान में विशुद्धि इतनी अधिक हो जाती है कि उनके अध्यवसायों की भिन्नताएँ आठवें गुणस्थान के अध्यवसायों की भिन्नताओं से बहुत कम हो जाती हैं।

जिस गुणस्थान में एक साथ चढ़े हुए जीवों के अध्यवसायों में परस्पर तारतम्य हो, उसे निवृत्ति और जिस गुणस्थान में साथ चढ़े हुए जीवों के अध्यवसायों में परस्पर तारतम्य न हो, परन्तु एक का जो अध्यवसाय, वही दूसरे का, वही तीसरे का, इस प्रकार अनन्त जीवों का भी एक समान ही, उसे अनिवृत्तिगुणस्थान कहते हैं। यही आठवें और नौवें गुणस्थान के बीच अन्तर है।

इस गुणस्थान में भी आठवें गुणस्थान की तरह स्थितिधात आदि पांचों पदार्थ होते हैं तथा विशुद्धि का विचार वो तरह ने किया जाता है—(१) तिर्यग्मुखी विशुद्धि और (२) ऊर्ध्वमुखी विशुद्धि। इसमें उत्तरोत्तर ऊर्ध्वमुखी विशुद्धि होती है।

**१०. सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान—किट्टीरूप (कृष्ण)** किये हुए सूक्ष्मसंपराय अर्थात् लोभकषाय का जिसमें उदय होता है, उसे सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान में मात्र संज्वलन लोभकषाय के सूक्ष्म खण्डों का उदय घोष रहता है।

इस गुणस्थानबत्तीं जीव भी उपशमक अथवा धृपक होते हैं। लोभ के सिद्धाय चारिव्वमोहनीय कर्म की दूसरी ऐसी प्रकृति नहीं होती है जिसका उपशमन या क्षफण न हुआ हो। अतः उपशमक लोभकषाय का उपशमन और धृपक धृपण करते हैं। यही सूक्ष्म लोभखण्डों का उदय होने से यथार्थ्यात्मारित के प्रगट होने में कुछ न्यूनता रहती है।

**११. उपशांतकषायबोतरागछदमस्थगुणस्थान—आत्मा के ज्ञानादि गुणों को जो आच्छादित करे उसे छदम कहते हैं अर्थात् ज्ञानादि गुणों का उपशमन और उन घोतिकमों के उदय**

बाले जीवों को छद्मस्थ कहते हैं। दसवें गुणस्थान तक के छद्मस्थ रागी भी होते हैं, उनमें अलग फ़ारे के लिए वीतराग विशेषण दिया है। माथा और लोभ कषाय का उदयरूप राग और उपलक्षण से क्रोध और मान का उदयरूप द्वेष भी जिनका दूर हो गया है, उन्हें वीतराग कहते हैं। यहाँ वीतरागछद्मस्थ का प्रहण है किन्तु दसवें गुणस्थान तक के रागी छद्मस्थ का नहीं। वीतरागछद्मस्थ बारहवें गुणस्थान वाली आत्माएँ भी होती हैं, अतः उनमें पृथक् करने के लिए उपशान्तकषाय विशेषण दिया है। उपशान्तकषाय अर्थात् जिन्होंने कषायों को सर्वथा उपशमित किया धानी कषायों की सत्ता होने पर भी उनकी इस प्रकार की स्थिति बना दी है कि जिनमें संक्रमण और उद्वर्तनादि करण एवं विपाकोदय या प्रदेशीदय कुछ भी नहीं हो सकते हैं। मोहनीयकर्म का जिन्होंने सर्वथा उपशम किया है, ऐसे वीतराग का यहाँ प्रहण किये जाने में बारहवें गुणस्थान वाली आत्माओं से पृथक्करण हो जाता है। क्योंकि उन्होंने तो मोह का सर्वथा क्षय किया है। अतः उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ आत्मा का जो गुणस्थानस्थ—रूपविशेष वह उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ—गुणस्थान कहलाता है।

इस कथन का सारांश वह है कि जिनके कषाय उपशान्त हुए हैं, राग का भी सर्वथा उदय नहीं और राग के उपलक्षण से द्वेष का प्रहण हो जाने में उसका भी सर्वथा उदय नहीं है और जिनके अभी छद्म (आवरणभूत घातिकर्म) लगे हुए हैं, वे जीव उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ कहलाते हैं और उनके स्वरूपविशेष की उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थान कहते हैं।

शरद् क्रान्ति में होने वाले सरोवर के जल की तरह मोहनीयकर्म के उपशम से उत्पन्न होने वाले निर्भल परिणाम इस गुणस्थान वाले जीव के होते हैं। इस गुणस्थान में दिव्यमान जीव आगे के गुणस्थानों को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होते हैं। क्योंकि आगे के गुणस्थान वही

पा सकता है जो क्षणकश्रेणि को करता है और क्षणकश्रेणि के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है। किन्तु इस गुणस्थान वाला जीव नियम से उपज्ञामश्रेणि को करने वाला होता है। अतएव वह इस गुणस्थान से अवश्य गिरता है।

यदि गुणस्थान का समय पूरा न होने पर जो जीव भवक्षय से गिरता है तो अनुसारविमान में देवरूप से उत्पन्न होता है और वही व्रत आदि धारण करना संभव न होने से जौशे अविरतसम्पदगृहिणी-गुणस्थान को ही प्राप्त करता है और तब वह उस गुणस्थान के योग्य कर्मप्रकृतियों के बंध, उदय, उदीरण को प्रारम्भ कर देता है। परन्तु आयु के शेष रहते इस गुणस्थान से गिरता है तो पतन के समय आरोहण के क्रम के अनुसार गुणस्थान को प्राप्त करता है और उस-उस गुणस्थान के योग्य सर्व कर्मप्रकृतियों का बंध, उदय, उदीरण करना प्रारम्भ कर देता है और यह शिरने वाला कोई जीव छठे गुणस्थान की, कोई पांचवें गुणस्थान की, कोई जौशे गुणस्थान की और कोई दूसरे गुणस्थान को प्राप्त करते हुए पहले गुणस्थान तक आ जाता है।

स्थारहवें गुणस्थान की कालमयदा जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

१२. क्षीणकषायवीतरागछद्भस्थगुणस्थान—सर्वथा प्रकार से कषाय जिनके लक्ष्य हुए हैं, उनको क्षीणकषाय कहते हैं। अर्थात् जो मोहनीयकर्म का सर्वथा क्षय कर चुके हैं, किन्तु शेष छद्म (धाति-कर्म का आवरण) अभी विद्यमान है, उनको क्षीणकषायवीतराग-छद्मस्थ कहते हैं और उनका स्वरूपविशेष क्षीणकषायवीतराग-छद्मस्थगुणस्थान कहलाता है। इस गुणस्थान की जघन्य और उत्कृष्ट कालस्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और इसमें वर्तमान जीव क्षणकश्रेणि वाले ही होते हैं।

इस वारहवें गुणस्थान को प्राप्त करने के लिए मोहनीयकर्म का क्षय होना चलती है और क्षय करने के लिए उपकरणों<sup>१</sup> की जाती है।

इस वारहवें गुणस्थान के नाम में क्षीणकषाय, वीतराग और छद्मस्थ ये तीनों व्यावत्तेक विशेषण हैं। क्योंकि क्षीणकषाय इस विशेषण के अभाव में वीतरागछद्मस्थ इतने नाम से व्यारहवें गुणस्थान का भी बोध होता है। क्योंकि व्यारहवें गुणस्थान में कषाय क्षीण नहीं किन्तु उपशात होते हैं और वीतराग इस विशेषण से रहित क्षीणकषायछद्मस्थगुणस्थान इतने नाम से व्यारहवें के सिवाय चतुर्थ आदि गुणस्थानों का बोध हो जाता है। क्योंकि उन गुणस्थानों में भी अनन्तानुबंधी आदि कषायों का क्षय हो सकता है। लेकिन वीतराग इस विशेषण के होने से उन चतुर्थ आदि गुणस्थानों का बोध नहीं होता है। क्योंकि किसी न किसी अंश में राग का उदय उन गुणस्थानों में है, जिससे वीतरागत्व असंभव है। इसी प्रकार छद्मस्थ इस विशेषण के न रहने से भी क्षीणकषाय-वीतराग इतना नाम व्यारहवें गुणस्थान के अतिरिक्त तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान का भी बोधक हो जाता है। परन्तु छद्मस्थ इस विशेषण के रहने से व्यारहवें गुणस्थान का ही बोध होता है। क्योंकि तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान में विद्यमान जीव के छद्म (धातिकर्म का आवरण) नहीं रहता है। इसीलिए उन सब विशेषताओं को ग्रहण करने के लिए व्यारहवें गुणस्थान का क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ यह नामकरण किया गया है।

१३. सयोगिकेवलीगुणस्थान – योग अर्थात् वीर्य - परिस्पर्द। अतः मन, वज्रन और काया के द्वारा जिनके वीर्य की प्रवृत्ति होती हो, उन्हें सयोगि कहते हैं। अर्थात् जो चार घनधातिकर्मों (ज्ञाना-

१. क्षपकथेणि का वर्णन उपशमनाकरण में किया जा रहा है।

वरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय) का अय करके केवल-  
ज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त कर चुके हैं तथा पदार्थ को जानने-देखने  
में इन्दिय, आलोक आदि की अपेक्षा नहीं रखते हैं और योग सहित  
हैं, उन्हें सयोगिकेवली कहते हैं और उनका स्वरूपविशेष सयोगि-  
केवलीगुणस्थान कहलाता है।

इस मुण्डस्थान का काल ज्ञान्य अन्तर्मुद्दृतं और उत्कृष्ट कुछ कम  
पूर्वोक्ति वर्ण प्रभाषण है।

**१४. अयोगिकेवलीगुणस्थान**—जो केवली भगवान् योगों से  
रहित हैं, वे अयोगिकेवली कहलाते हैं। अथत् जब सयोगिकेवली  
मन, वचन और काया के योगों का निरोध कर योगरहित होकर  
मुद्द आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं तब वे अयोगिकेवली  
कहलाते हैं और उनके स्वरूपविशेष को अयोगिकेवलीगुणस्थान  
कहते हैं।

इस मुण्डस्थान में मीक्ष प्राप्त करने की प्रक्रिया प्रारंभ होती है  
और तीनों योगों का निरोध करने से अयोगि अवस्था प्राप्त होती  
है। सयोगि अवस्था में तो केवली भगवान् अपनी आयुस्थिति के  
अनुसार रहते हैं, लेकिन जिन सयोगिकेवली भगवान् के चार  
अधातिकर्मों में से आयुकर्म की स्थिति व पुद्गलपरमाणु की  
अपेक्षा वेदनीय, नाम और शोद्र इन तीन कर्मों की स्थिति और  
पुद्गलपरिमाणु अधिक होते हैं, वे समुद्धातः<sup>१</sup> करते हैं और इसके  
द्वारा वे वेदनीय, नाम और शोद्र कर्म की स्थिति व पुद्गल-  
परमाणुओं को आयुकर्म की स्थिति व पुद्गलपरमाणुओं  
के बराबर कर लेते हैं। परन्तु जिन केवली भगवान् के वेदनीय

१ सब सम्भग्—अपुनव्यविस उत्-प्रावस्थेन वेदनीयादिकर्मणोऽहननं-धातः  
अलयो-यस्त्वन् प्रवल्लविशेषे स समुद्धातः।

जिस अवस्थाविशेष में सम्यक् प्रकार से अस्ति प्रसुत रूप से वेदनीय  
आदि कर्मों का क्षय किया जाता है, उसे समुद्धात कहते हैं।

आदि तीन अधातिकर्मों की स्थिति व पुद्गलपरमाणु आयुकर्म के बराबर है, उनको समुद्रधात करने की आवश्यकता नहीं होती है। अतएव वे समुद्रधात नहीं करते हैं। केवली भगवान् द्वारा यह समुद्रधातक्रिया की जाती है, इसलिये इसे केवलिसमुद्रधात कहते हैं।<sup>१</sup>

अतिथि समय में परम निर्जन के कारणभूत तथा लेश्या से रहित अत्यन्त स्थिरता रूप ध्यान के लिये योगों का निरोध करते हैं। पहल बादर काययोग से बादर मनोयोग और बादर वचनयोग को रोकते किंतु सूक्ष्म काययोग से बादर काययोग को रोकते हैं। अनन्तर उसी सूक्ष्म काययोग से क्रमशः सूक्ष्म मनोयोग और सूक्ष्म वचनयोग को रोकते हैं। अंत में सूक्ष्मक्रियाऽनिवृत्तिशुक्लध्यान से उस सूक्ष्म काययोग को भी रोक देते हैं।

इस प्रकार सयोगिकेवली भगवान् अयोगि बन जाते हैं। साथ ही उसी सूक्ष्मक्रियाऽनिवृत्तिशुक्लध्यान की सहायता में अपने शरीर के भीतरी पोले भाग को आत्मप्रदेशों से पूर्ण कर देते हैं। जिसमें उनके आत्मप्रदेश इतने संकुचित धने बन जाते हैं कि वे शरीर के दो तिहाई भाग में समा जाते हैं और बाद में वे केवली भगवान् समुचितक्रियाऽप्रतिपातिशुक्लध्यान को प्राप्त करते हैं और पंचहस्ताक्षर (अ, इ, उ, कठ, सू) के उच्चारण करने जितने समय में अनेकीकरण करने के द्वारा वारों अधातिकर्मों का सर्वथा क्षय कर देते हैं और उक्त कर्मों का क्षय होते ही वे एक समय मात्र में ऋण्डगति से ऊपर की ओर सिद्धक्रोत्र में जले जाते हैं। वहाँ परम परमात्मदशा का अनुभव करते हुए अनन्तकाल तक विराजमान रहते हैं।

उपर्युक्त चौदह गुणस्थानों का कालप्रभाण इस प्रकार है—

द्विद्यात्वसूणस्थान—अभव्य का अनादि-अनन्तकाल, भव्य का अनादि-सातकाल और सम्यक्त्व से पतित का सादिन्साति—जघन्य से

१ केवलिसमुद्रधात सम्बन्धी प्रक्रिया का विवरण परिचिष्ट में देखिये।

अन्तमूर्हतें, उत्कृष्ट से देशोन पुद्गलपरावर्तनकाल है।

**सासावनगुणस्थान**—जघन्य से एक समय, उत्कृष्ट से छह आवलिका।

मिथि, कीणमोहु, अयोगिकेवली गुणस्थान—इन तीन का जघन्य उत्कृष्ट काल अन्तमूर्हत है। लेकिन अयोगिकेवली गुणस्थान के लिये इतना विशेष जानना चाहिये कि उसका समय पांच छस्वाक्षर—अ, इ, उ, ओ, लू—उच्चारण प्रमाण अन्तमूर्हत है।

**अविरतसम्यग्हटिगुणस्थान**—जघन्य से अन्तमूर्हतें, उत्कृष्ट से साधिक तीस सागरोपम प्रमाण।

**देशविद्वन् रायोगिकेवली गुणस्थान**—जानना ले अवर्गमूर्हत, उत्कृष्ट से देशोन पूर्वकोटि वर्षे प्रमाण।

**प्रमत्तसंयतादि उपर्णात्मोहु पर्यन्त गुणस्थान**—इन छह गुणस्थानों का काल जघन्य से मरण की अपेक्षा एक समय, अध्यथा जघन्य-उत्कृष्ट दोनों प्रकार से अन्तमूर्हत है।

इस प्रकार से गुणस्थानों के इस क्रमारोहण में नर से नारायण हीने का विधान अंकित है। अब इनमें प्राप्त योगों का कथन प्रारम्भ करते हैं।

### गुणस्थानों में योग

‘जोगाहार दुमूणा .....’ इत्यादि अर्थात् पूर्व में योग के जो मनो-योग, वचनयोग और कामयोग इन तीन मूल भेदों के क्रमशः चार, चार और सात भेदों के नाम बताये हैं, उनमें से यहाँ सर्वप्रथम मिथ्यात्व, सासादन और अविरतसम्यग्हटि—इन तीन गुणस्थानों में योगों को बताया है कि आहारकद्विक—आहारक और आहारकमिश्र इन दो योगों के बिना शेष तैरह योग होते हैं।

इन तीनों गुणस्थानों में आहारकद्विक योग न पाये जाने का कारण यह है कि आहारकशारीर और आहारकमिश्र ये दोनों योग चार्तिवसापेक्ष हैं और चौदह पूर्वधर संयत को ही होते हैं, किन्तु

इन गुणस्थानों में संयम और चौदह पूर्व के ज्ञान का अभाव है। इसी कारण मिथ्यात्व, सासादन और अविरतसम्यग्वृष्टि—इन तीन गुणस्थानों में आहारकद्विक योगों का निषेध किया है। इनसे ज्ञेय रहे तेरह योगों की प्राप्तिक्रम इस प्रकार है—

कार्मणयोग विग्रहगति और उत्तरति के प्रथम समय में, औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र—यह दो योग उत्तरति के द्वितीय समय से लेकर अपर्याप्त अवस्था तक तथा चार मनोयोग, चार वचनयोग और औदारिककार्ययोग, वैक्रियकार्ययोग यह दस योग पर्याप्त अवस्था में होते हैं। इस प्रकार कुछ मिलाकर तेरह योग मिथ्यात्व, सासादन और अविरतसम्यग्वृष्टि—इन तीन गुणस्थानों में पाये जाते हैं।

‘अपुच्छाइसु पञ्चसु’<sup>१}</sup> अर्थात् अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसंप्राप्त, उपज्ञातमोह और क्षीणमोह इन पांच गुणस्थानों में नीनीयोग होते हैं। वे नीयोग हैं—‘बोगलो मणवैद्य य’ अर्थात् औदारिककार्ययोग, मनोयोगचतुष्क और वचनयोगचतुष्क। ज्ञेय छह योग न होने का कारण यह है कि ये पांची गुणस्थान विग्रहगति, केवलीसमुद्धात और अपर्याप्त-अवस्था में नहीं पाये जाते हैं तथा अप्रमत्तावस्थाभावी हैं। अतः कदाचित् कोई लब्धिसंपत्ति इन गुणस्थानों को प्राप्त करे भी तो इन गुणस्थानों में प्रमादजन्य लब्धिप्रयोग संभव नहीं होने से वैक्रियद्विक और आहारकद्विक रूप चार योग नहीं होते हैं तथा औदारिकमिश्र और कार्मण कार्ययोग अनुक्रम से अपर्याप्त अवस्था एवं विग्रहगति और केवलीसमुद्धात में होते हैं। जिससे इन अपूर्वकरणादि पांच गुणस्थानों में वैक्रियद्विक, आहारकद्विक, औदारिकमिश्र और कार्मण इन छह योगों के सिवाय ज्ञेय तीय योग होते हैं।

तीसरे मिथ्यगुणस्थान में तूर्णोक्त नीयोगों के साथ ‘वैउच्चिकानुया’—वैक्रियकार्य को मिलाने से दस योग होते हैं और औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र, कार्मण, आहारकद्विक ये पांच योग नहीं होते हैं।

इसका कारण यह है कि यह तीसरा गुणस्थान पर्याप्त-अवस्था में ही होता है, जिससे अपर्याप्त-अवस्थाभावी औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र और कार्मण योग संभव नहीं हैं तथा आहारकष्टिक तो लविष्टसंपत्ति चौदह पूर्वधर को ही होते हैं और इस गुणस्थान में चौदह पूर्वधर होता नहीं है, जिससे वे भी संभव नहीं हैं। इस प्रकार इन पाँचों योगों को कम करने पर शेष चार मनोयोग, चार वचनयोग, औदारिक और वैक्रिय कार्ययोग ये दस योग ही मिश्रगुणस्थान में संभव हैं।

मिश्रगुणस्थान में वैक्रियमिश्रकाययोग न मानने पर जिज्ञासु का प्रश्न है—

प्रश्न—अपर्याप्त-अवस्थाभावी देव, नारक सम्बल्धी वैक्रियमिश्र-काययोग संभव न हो, परन्तु वैक्रियलविधिधारी पर्याप्त मनुष्य, तिर्यकों के मिश्रहट्टि होने पर वैक्रियशरीर भी संभव है। जिससे वे जब उसे प्रारम्भ करें तब उनको वैक्रियमिश्रकाययोग हो सकता है। इस अपेक्षा हट्टि से मिश्रगुणस्थान में वैक्रियमिश्रकाययोग मानना चाहिए। फिर उसका निषेध क्यों किया है?

उत्तर—इस गुणस्थान वाले तथाविधयोग्यता का अभाव होने से वैक्रियलविधि का उपयोग नहीं करते हैं। इसलिए यहाँ वैक्रियमिश्रयोग नहीं माना है।<sup>१</sup>

'ते जुया साहारण ऊपमत्ते' अर्थात् पूर्व में कहे गये औदारिक आदि नी तथा वैक्रिय इन दस योगों के साथ आहारककाययोग

<sup>१</sup> आचार्य भलयगिरिसूरि ने इसका विशेष स्पष्टीकरण न करते हुए यही बताया है कि—तेषां वैक्रियाकरणभावतोऽन्यतो वा कृतशिचर्त्कारणादाचार्येणान्यैषत्र तन्माभ्युपगम्यते, तन्म सम्यगवगच्छाप्य तथाविधसंप्रदायाभावत्।

इस गुणस्थान वाले वैक्रियलविधि न करते हों, इसलिए अथवा →

को मिलाने पर अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थान में र्यारह योग पाये जाते हैं। अप्रमत्तसंयतगुणस्थान में यद्यपि किसी भी लक्षित का प्रयोग नहीं किया जाता है, किन्तु उठे प्रमत्तसंयतगुणस्थान में वैक्रिय या आहारक लक्षित का प्रयोग करने के पश्चात् कोई इस अप्रमत्तसंयतगुणस्थान में जाये तो दोनों शुद्ध योग अर्थात् वैक्रिय और आहारक योग संभव हैं, मिश्र नहीं। क्योंकि लक्षित करते और छोड़ते समय प्रमत्तदणा होती है, जिसमें उस समय मिश्रयोग संभव है। इसीलिए अप्रमत्तसंयतगुणस्थान में वैक्रिय, आहारक सहित पूर्वोक्त औदारिक, मनोवौगचतुष्क, वचसयोगचतुष्क कुल र्यारह योग माने जाते हैं।

‘देसे दुखितदिवजुया’ अर्थात् युवे में जो अपूर्वकरण आदि पांच गुणस्थानों में चार मनोयोग, चार वचसयोग और एक औदारिककाययोग कुल नौ योग बताये हैं, उनमें वैक्रिय और वैक्रियमिश्र काययोग की और मिलाने से र्यारह योग देशविरत नाम पांचवें गुणस्थान में होते हैं।

इस गुणस्थान में वैक्रियट्रिक योग मानने का कारण यह है कि पांचवां युगस्थान मनुष्य और तिर्यकों में होता है और यदि वे वैक्रियलक्षितसंपन्न हों तो वैक्रियशारीर बना सकते हैं। तथा उत्तरवैक्रियशारीर बनाने समय वैक्रियमिश्र और बनाने के पश्चात् वैक्रिय योग होगा। किन्तु आहारकट्रिक तथा औदारिकमिश्र और कार्मण्योग न होने का कारण यह है आहारकट्रिक पूर्ण संयमसापेक्ष है, किन्तु देशविरतगुणस्थान में पूर्ण संयम नहीं है तथा अपर्याप्त-

अन्य किसी कारण से भयकर्त्ता आप्यर्यं तथा और दूसरे आचार्यों ने यही वैक्रियमिश्र नहीं माना है। उसका वास्तविक कारण तथाविष्टसंप्रवाद का अभाव होने से हम नहीं जान सके हैं।

गोम्मटसार जीवकांड नाथा ७०३ में भी मिश्रगुणस्थान में वैक्रियमिश्रयोग नहीं बताया है।

अवस्था न होने से औदारिकमिश्र व कार्यण योग भी नहीं हो सकते हैं।

पांचवें गुणस्थान में बताये गये खारह योगों के साथ आहारक, आहारकमिश्र इन दोनों योगों को मिलाने पर प्रमत्तसंयतगुणस्थान में कुल तेरह योग होते हैं—‘आहारदुरुगण य पमते’।<sup>१</sup>

तेरह योग मानने का कारण यह है कि यह गुणस्थान मनुष्यों में संभव है। अतः मनोयोगचतुष्टय, वचनयोगचतुष्टय और औदारिक कुल नौ योग तो सब मनुष्यों में साधारण हैं तथा इस गुणस्थान में वैक्रिय और आहारक लविष्यसंपन्न मुनियों को वैक्रियात्मिक और आहारकात्मिक होते हैं। वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र ये दो योग वैक्रियात्मिक और आहारकात्मिक के प्रारम्भ और परिवर्त्याग के समय पाये जाते हैं और उसके सिवाय शेष लविष्यकाल में वैक्रिय और आहारक योग होते हैं। इसलिए प्रमत्तसंयतगुणस्थान में तेरह योग माने हैं।

इस प्रकार से अभी तक पहले मिथ्यात्वगुणस्थान से लेकर बारहवें क्षीणमोहगुणस्थान तक बारह गुणस्थानों में योग का विचार किया गया। अब शेष रहे तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में योगों का निर्देश करते हैं—

‘अज्जोमो अज्जोमी’ अथवा अयोगिकेवली नामक चौदहवें गुणस्थान में सूडम या ब्राह्म कोई भी योग नहीं होता है। क्योंकि अयोगि-अवस्था का कारण योग का अभाव ही है। अथवा अव अयोगि-अवस्था में योग का अभाव ही है तो फिर योग के भेदों में

<sup>१</sup> दिगम्बर कर्मशंखों में पांचवें और सातवें गुणस्थान में औदारिककाययोग, चार मनोयोग, चार वचनयोग कुल नौ योग तथा छठे गुणस्थान में औदारिक-काययोग, आहारकात्मिक, चार मनोयोग, चार वचनयोग कुल खारह योग बताये हैं।

से किसी भी योग का सद्भाव कैसे माना जा सकता है ? इसलिए चौदहवें गुणस्थान में कोई भी योग नहीं होता है, वह सो योगातीत अवस्था है—‘अज्ञोगो अज्ञोगी’।

लेकिन सथोगिकेवलीगणस्थान में—‘सत्त सञ्जीगमि होति’—सात योग होते हैं । जिनके नाम हैं—सत्यमनोयोग, असत्यामृषामनोयोग, सत्यवचनयोग, असत्यामृषावचनयोग, औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग और कार्मणकाययोग—‘दो दो मणवद जोगा उरालदुर्ग सकम्भहम्’ ।

इनमें से औदारिकमिश्र केवलिसमुद्धात के दूसरे, छठे और सातवें समय में तथा कार्मण तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में होते हैं । शेष रहे पाँच योगों में से औदारिककाययोग विहार आदि की प्रवृत्ति के समय में, वचनयोगद्वय देशनादि के समय तथा मनोयोग-द्वय मनपर्यायज्ञानी अथवा अनुसार देवों के मन द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देते समय होते हैं ।

इस प्रकार गुणस्थान में योगों का निर्देश जानना चाहिए ।<sup>१</sup> अब योगों की तरह गुणस्थानों में उपयोग का विवेचन करते हैं ।

### गुणस्थानों में उपयोग

अच्चवखुच्चवखुदंसणमन्नाणतिगं च मिळ्ळसासाणे ।

विरयाविरए सम्मे नाणतिगं दंसणतिगं च ॥१८॥

मिस्समि वामिस्सं मणनाणजुये पमतपुञ्चाणं ।

केवलियनाणदंसण उवओगा अजोगिजोगीसु ॥२०॥

शब्दार्थ—अच्चवखुच्चवखुदंसण—अच्चकुच्चकुदंसण, अन्नाणतिगं—अन्नान, त्रिक, च—जीर, मिळ्ळ—मिथ्यात्म, सासाणे—सासादन में, विरयाविरए—

<sup>१</sup> विगम्बरसाहित्य में वर्णित गुणस्थानों में योग—निर्देश को परिचय में देखिये ।

दिवतादिवत (देशादिवत) में, सम्भव—अविरतसम्यग्हटिगुणस्थान में, नाण-  
तिर्ग—तीन ज्ञान, वैसर्वतिर्ग—तीन दर्शन, इत्यादि और ।

**मित्तसंघि**—मिथगुणस्थान में, बाह्यिक्स—ज्यामित्र-मित्रित, मणिक्ष-  
शुद्धि—मनपर्याप्तिज्ञान सहित, प्रभलयुक्तज्ञाने—प्रभत हैं पूर्व में जिनके अधर्ति,  
प्रभस्तमेवत आदि गुणस्थानों में, केवलिक्ष्माणवैसर्वा—केवलज्ञान केवलदर्शन,  
उपयोग—उपयोग, अज्ञोग्निज्ञोग्नीशु—अयोगि और सयोगि केवली गुण-  
स्थान में ।

**गाथत्वं**—मिथ्यात्व, सासादन गुणस्थान में अज्ञानविक और  
अचक्षुदर्शन, चक्षुदर्शन ये पांच उपयोग तथा अविरतसम्यग्हटिगुण  
और देशादिवत गुणस्थान में तीन ज्ञान और तीन दर्शन इस प्रकार  
छह उपयोग होते हैं ।

**मिथगुणस्थान में पूर्वोक्त छह उपयोग (अज्ञान से) मित्रित  
होते हैं** । प्रभत आदि क्षीणमोह पर्यन्त सात गुणस्थानों में मन-  
पर्याप्तिसहित सात उपयोग तथा अयोगि व सयोगि केवली गुण-  
स्थान में केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो उपयोग होते हैं ।

**विशेषात्म**—उपयोग के बारह भेदों के नाम पूर्व में बताये जा चुके हैं । उनमें से प्रत्येक गुणस्थान में प्राप्त उपयोगों का निर्देश करते हुए कहा है कि 'मित्रेसासाणे'—मिथ्यात्व और सासादन नामक पहले दूसरे दो गुणस्थानों में अचक्षुदर्शन, चक्षुदर्शन और अज्ञानविक—मति-  
अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, विभगज्ञान इस प्रकार कुल मिलाकर पांच उपयोग होते हैं । आदि के इन दो गुणस्थानों में मति-अज्ञान आदि अज्ञानविक, और चक्षु अचक्षु दर्शन ये पांच उपयोग भानने का कारण यह है कि इन दोनों गुणस्थानों में सम्यक्त्वसहचारी मतिज्ञान आदि पांच ज्ञान, अवधिदर्शन, केवलदर्शन ये सात उपयोग नहीं होते हैं ।<sup>१</sup>

१ सिद्धान्त के मतानुसार महीं अवधिदर्शन भी संभव है । इसका स्पष्टीकरण

अविरतसम्यग्हटित और देशविरत नामक चौथे और पांचवें मुण्डस्थान में 'नाणतिगं दंसगतिगं'— आनन्दिक—भतिजान, श्रुतजान, अवधिजान और दर्शनविक्षिक—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन

करते हुए टीकाकार अत्त्वार्थ मन्त्रमिश्रूति ने बताया है कि—श्रुतविदों में यहाँ किस अभिप्राय से अवधिदर्शन नहीं भाना है, यह हम ममझ नहीं सके हैं। क्योंकि भगवतीसूत्र (८/२) में लघुष्ट रूप से कहा है कि— हे प्रभो ! अवधिदर्शनों अनाकार उपयोगी जानी है या अजानी ?

हे मौतम ! जानी भी है और अजानी भी। जो जानी होते हैं तो कोई तीन ज्ञान वाले होते हैं और कोई चार ज्ञान वाले। जो तीन ज्ञान वाले हैं के भतिजानी, श्रुतजानी और अवधिजानी होते हैं और जो चार ज्ञान वाले हैं वे भति, श्रुत, अवधि और मन्त्रपर्याय जानी होते हैं। किन्तु जो ज्ञानी होते हैं वे नियम से भति-अजानी, श्रुत-अजानी और विभंगजानी होते हैं।

इस प्रकार सूत्र में मिथ्याहटित विभंगजानियों को भी अवधिदर्शन दण्ड रूप से बताया है। क्योंकि जो ज्ञानी होता है वह मिथ्याहटित ही होता है। जब अवधिजानी सासाधनभाव को अथवा भिक्षभाव को प्राप्त करतब वही भी अवधिदर्शन होता है। अर्थात् जैसे अवधिजानोपयोग के समय अवधिजानी को प्रथम सामान्यरूप अवधिदर्शन होता है, वैसे ही विभंग-ज्ञानोपयोग के पूर्व विभंगजानी को भी अवधिदर्शन भानना चाहिये। भगवतीसूत्र का पाठ इस प्रकार है—

'ओहिदंसणअणामाशोवउलगणं भर्ते ! कि नाणी अश्राणी ?

गोयमा ! नाणीयि अश्राणीति । जड़ नाणी ते अत्येगद्या तिनाणी, अत्येगद्या चउनाणी । जे तिणाणी ते आभिणिकोहिएणाणी, सुयणाणी, ओहिणाणी । जे चउनाणी ते आभिणिकोहिएणाणी सुयनाणी ओहिनाणी मणपञ्जवणाणी । जे बणाणि ते निष्मा मङ्गाणाणी सुयअणाणी विभंगनाणी ।

दिग्मद्वर कार्यग्रंथियों में भी आदि के दो मुण्डस्थानों में अज्ञानविक्षिक, चक्षु-वर्णन, अचक्षुदर्शन ये पांच उपयोग भाने हैं।

इस तरह कुल भिलाकर छह उपयोग होते हैं। ये दोनों गुणस्थान सम्यक्त्वसहजारी हैं, अतः मिथ्यात्व न होने से मिथ्यात्वनिमित्तक तीन ज्ञान तथा सर्वविवरति न होने से मनपर्याप्तिज्ञान और ज्ञातिकमें का अभाव न होने से केवलद्विक—केवलज्ञान, केवलदर्शन यह छह उपयोग संभव नहीं हैं। जिसमें शेष रहे मतिज्ञान आदि छह उपयोग होते हैं।

'मिस्सेमि' अर्थात् मिथ्यगुणस्थान में भी यही पूर्वोक्त छह उपयोग होते हैं, यानी सीन ज्ञान और दृष्टिज्ञान उपयोग होते हैं। लेकिन इसनी विशेषता है कि ये 'वामिस्सेमि'—मिथ्यित होते हैं, यानी अज्ञानमिथ्यित होते हैं। इसका कारण यह है मिथ्यगुणस्थान में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनों के अंश होते हैं। उनमें से जब किसी समय सम्यक्त्वांश का बाहुल्य होता है, उस समय सम्यक्त्व की अधिकता है और यदि मिथ्यात्वांश की अधिकता हो तो मिथ्यात्व अधिक रहता है और यदि किसी समय दोनों अंशों की समानता हो तो सम्यक्त्व और मिथ्यात्व अंश समान रहता है। इसीलिये जब सम्यक्त्व अंश अधिक होता है तब ज्ञान का अंश अधिक और अज्ञान का अंश अल्प होता है तथा जब मिथ्यात्वांश का बाहुल्य हो तब अज्ञानांश अधिक और ज्ञान का अंश अल्प होता है, किन्तु दोनों अंशों के समान होने पर ज्ञान और अज्ञान दोनों समप्रभाव में होते हैं। इसी कारण मिथ्यगुणस्थान में अज्ञानमिथ्यित तीन ज्ञान और तीन दर्शन इस प्रकार छह उपयोग समझना चाहिए—'मिस्सेमि वामिस्सेमि'।

मिथ्यगुणस्थान में अवधिदर्शन मानने का कथन सिद्धान्त की अपेक्षा समझना चाहिए। कर्मसिद्धान्तवादियों में कुछ आचार्य अवधिदर्शन नहीं मानते हैं।

इस प्रकार से प्रथम पांच गुणस्थानों में उपयोगों का कथन करने के पश्चात् अब शेष गुणस्थानों में उपयोगों का निरूपण करते हैं।

जिसका सुरभता से दोध करने के लिए इन गुणस्थानों के दो वर्ग बनाये हैं। प्रथम वर्ग में छद्मस्थ-अवस्थाभावी प्रमत्तसंयत आदि क्षीणमोह पर्यन्त सात गुणस्थान हैं और द्वितीय वर्ग में निरावरण-अवस्था में प्राप्त सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इन दो गुणस्थानों का समावेश है।

प्रथम वर्ग के गुणस्थानों में उपयोगों का कथन करने के लिए गाथा में पद दिया है 'पमत्तपुब्वाण' अर्थात् पूर्व में पहले से लेकर पांचवें तक जिन पांच गुणस्थानों में उपयोगों का विचार किया जा सका है, उसमें शेष रहे छद्मस्थभावी प्रमत्तसंयत आदि क्षीणमोह पर्यन्त सात गुणस्थानों में पूर्ववित सम्यक्त्वसहचारी तीन ज्ञान और तीन दर्शन इन छह उपयोगों के साथ सर्वविरतिसहचारी 'मणनाणजुय'—मनस्त्वर्दितज्ञान को दिया गया होते हैं।

इन सात गुणस्थानों में अज्ञानत्रिक और केवलद्विक इन पांच उपयोगों को नहीं मानने का कारण यह है कि मिथ्यात्व का अभाव होने से मति-अज्ञान, थ्रुत-अज्ञान और विभ्रंगज्ञान यह तीन अज्ञान नहीं पाये जाते हैं तथा अभी घातिकमों का क्षय न होने से केवलद्विक—केवलज्ञान और केवलदर्शन उपयोग भी संभव नहीं हैं। इसीलिए इन पांच को छोड़कर शेष सात उपयोग इनमें समझना चाहिए। तथा—

'अज्ञोगिजोगीसु' अर्थात् निरावरण-अवस्था में पाये जाने वाले अयोगि और सयोगि केवली नामक इन दोनों गुणस्थानों में केवलिक ज्ञान-दर्शन यानि केवलज्ञान और केवलदर्शन यह दो उपयोग होते हैं। घातिकमों का क्षय होने से छद्मस्थ-अवस्थाभावी मतिज्ञान आदि सात ज्ञानोपयोग तथा चक्षुदर्शन आदि तीन दर्शनोपयोग कुल दस उपयोग नहीं होते हैं। इसीलिए इन केवलीद्विक गुणस्थानों में केवलज्ञान और केवलदर्शन यह दो उपयोग मिले जाते हैं।

केवलीद्विक गुणस्थानों में केवलज्ञान-दर्शन यही दो उपयोग मानने पर जिज्ञासु का प्रश्न है—

**प्रश्न—**अपने-अपने आवरण का देश—आंशिक क्षयोपशम स्तोत्रे और ज्ञानावरण, दर्शनावरण का उदय होने पर जैसे जीवों को मति, श्रुति, अवधि, मनपर्याय ज्ञानोपयोग, अचक्षु, चक्षु, अवधि दर्शनोपयोग होते हैं, तो उसी प्रकार स्व-आवरण का सर्वक्षय होने पर वे केवलज्ञान, केवलदर्शन के समान क्यों नहीं हो जाते हैं ?

**उत्तर—**ये उपयोग क्षायोपशमिक हैं। क्षायोपशमिक भाव का अभाव नहीं होता है। क्षायोपशमिक उपयोगों का देशावरण क्षय ही संभव है। जैसे कि मेष से आच्छादित सूर्य का चटाई के छिद्रों में प्रविष्ट प्रकाश घट-पटादि पदार्थों को प्रकाशित करता है। उसी प्रकार केवलज्ञानावरण से आकृत केवलज्ञान का प्रकाश मति आदि आवरणों के छिद्रों से निकलकर अपने-अपने नाम को धारण करके जीवादि पदार्थों को प्रकाशित करता है और चटाई के नष्ट होने पर जैसे छिद्रों का भी नाश हो जाता है, उसी प्रकार सर्वावरण दूर होने पर क्षयोपशमजनित छिद्रों का भी अपगम हो जाता है। केवलज्ञान के अति लिमिट होने तथा केवलज्ञानावरण का क्षय होने से उसका प्रकाश मंद नहीं होता है। इसीलिए वे उपयोग नहीं होते हैं।

इस प्रकार से गुणस्थानों में उपयोगों का कथन समझना चाहिए। अब योगोपयोगमार्गणा अधिकार के विवेचनीय विषयों में से शेष रहे मार्गणास्थानों में जीवस्थानों और गुणस्थानों का निर्देश करने के लिए प्रथकार आचार्य पहले मार्गणास्थानों के नाम बतलाते हैं।

**मार्गणास्थानों के नाम व भेद**

मद्द इंदिए य काए जोए वेए कसाय नाणे य ।

संजमदंसणलेसा भव्य सन्ति सम्भ आहारे ॥२१॥

**शब्दार्थ—** गड—गति, हंदिए—हन्त्रिय, य—और, काट—करय, जोए—योग, वेष—वेद, कसाई—काषाय, माणे—जान, य—और, संयमशंखण्डेश्वर—संयम, दर्शन और लेश्या, भव्य—भव्य, सन्नि—संज्ञी, सम्म—सम्प्रकल्प, आहारे—आहार ।

**गाथार्थ—** गति, हन्त्रिय, काषाय, योग, वेद, काषाय, जान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, संज्ञी, सम्प्रकल्प और आहार ये मार्गणा के मूल चौदह भेद हैं ।

**विशेषार्थ—** गाथा में मूल चौदह मार्गणाओं के नाम बताये हैं । यद्यपि पूर्व में इनके उत्तर भेदों का नाम सहित विस्तार से वर्णन किया जा चुका है । लेकिन ग्रंथकार आचार्य ने स्वोपञ्चशृङ्खिल में मध्यम हृष्टि से इस प्रकार उत्तर भेदों की संख्या बतलाई है—चार, पाँच, दो, तीन, तीन, चार, आठ, पाँच अथवा एक, चार, छह, दो, दो, दो और दो । जिसका आशय यह हुआ कि गति आदि मूल मार्गणाओं के साथ यथाक्रम से संख्या को योजना करके प्रत्येक मार्गणा के उत्तरे-उत्तरे भेद समझ लेना चाहिए, अर्थात् बतिमार्गणा के चार भेद, हन्त्रियमार्गणा के पाँच भेद इत्यादि ।<sup>१</sup>

अब इन मार्गणास्थानों में जीवस्थानों का विचार करते हैं ।

१ ग्रंथकार आचार्य ने संयममार्गणा के पाँच अथवा एक भेद बतलाये हैं । ये कठन अपेक्षा से जानना चाहिए कि वहि संयम को सामान्य से प्रहृण करे तो अन्य भेद संभव नहीं होने से एक भेद होगा और जिन ग्रन्तिपक्ष के शुद्ध संयम के विशेष से सामान्यिक आदि यथात्म्यात् पर्यन्त पाँच भेद करने पर पाँच भेद होंगे । पहले जो संयममार्गणा के सात भेद बतलाये हैं, उनमें शुद्ध संयम भेदों के साथ स्तरतिपक्षी अविरत और एकदोष संयम देशविरत का भी प्रहण किया है । यह सब कथव संख्येप व विस्तार की हृष्टि से लम्जना चाहिये ।

मार्गणास्थानों में जीवस्थान

तिरियगद्वय चोदस नारयसुरनरगईमु दो ठाणा ।

एगिदिएमु चउरो विगलपणिदीमु छच्चउरो ॥२२॥

**शब्दार्थ**—तिरियगद्वय—तिर्यचमति में, चोदस—चौदह, नारयसुरनरगईमु—नरक, देव और मनुष्य गति में, दो ठाणा—दो जीवस्थान, एगिदिएमु—एकेन्द्रियों में, चउरो—चार, विगलपणिदीमु—विकलेन्द्रियों और पचेन्द्रियों में, छच्चउरो—छह और चार ।

**गाथार्थ**—तिर्यचमति में चौदह, नरक, देव और मनुष्य गति में दो, एकेन्द्रिय में चार, विकलेन्द्रियों में छह और पचेन्द्रियों में चार जीवस्थान होते हैं ।

**विशेषार्थ**—मार्गणास्थानों में जीवस्थानों का निर्देश प्रारम्भ करते हुए माथा में गति और इन्द्रिय मार्गणा के चार और पाँच भेदों में प्राप्त जीवस्थानों को बतलाया है ।

‘तिरियगद्वय चोदस’—तिर्यचमति में सभी चौदह जीवस्थान होते हैं । क्योंकि एकेन्द्रिय में लेकर पचेन्द्रिय तक के सभी भेद तिर्यचमति में सम्भव होने से जीवस्थानों के सभी चौदह भेद इसमें पाया जाना स्वाभाविक है । इसीलिए तिर्यचमति में सभी चौदह जीवस्थान माने जाते हैं तथा गतिमार्गणा के नरक, देव और मनुष्य इन सीनों भेदों में से प्रत्येक में ‘दो ठाणा’—पर्याप्त-अपर्याप्त संज्ञी पचेन्द्रिय रूप दो-दो जीवस्थान होते हैं । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

नरक और देव गति में संज्ञीद्विक (अपर्याप्त-पर्याप्त) जीवस्थान मानने का कारण यह है कि नरक और देव गति में वर्तमान कोई जीव असंज्ञी नहीं होते हैं । चाहे वे पर्याप्त हों या अपर्याप्त, किन्तु सभी संज्ञी होते हैं । इसलिए इन दो गतियों में अपर्याप्त, पर्याप्त संज्ञीद्विक जीवस्थान माने हैं ।

यहाँ प्रथुक्त अपर्याप्त शब्द करण-अपर्याप्त के लिये समझना चाहिये। क्योंकि देव और नरक गति में लिख-अपर्याप्त रूप से कोई उत्पन्न नहीं होता है।

मनुष्यगति में भी यही जो दो जीवस्थान बतलाए हैं, वे नारक और देवों के समान करण-अपर्याप्त और समन्वय - यह सहित की विवक्षा करके समझना चाहिये। क्योंकि नारक और देव तो लिख-अपर्याप्त होते ही नहीं हैं, वे करण-अपर्याप्त होते हैं, लेकिन मनुष्य करण-अपर्याप्त और लिख-अपर्याप्त दोनों प्रकार के संभव हैं। अतः लिख-अपर्याप्त को ग्रहण करके यदि मनुष्यगति में जीवस्थानों का विचार किया जाये तो पूर्वोक्त दो जीवस्थानों के साथ अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय, इस तीसरे जीवस्थान को मिलाने पर तीन जीवस्थान संभव हैं।

मनुष्यगति में अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवस्थान मानने का कारण यह है कि मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—गर्भज और संमूचितम्। गर्भज मनुष्य तो संज्ञी ही होते हैं और वे अपर्याप्त और पर्याप्त दोनों प्रकार के पाये जाते हैं। लेकिन संमूचितम् मनुष्य दाई द्वीप-समुद्र में गर्भज मनुष्यों के मल-मूत्र आदि में पैदा होते हैं और जिनको आगु अन्तर्मूहूर्तप्रमाण होती है एवं अपनी योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण किये बिना ही मर जाते हैं। ऐसे संमूचितम् मनुष्यों की अपेक्षा अपर्याप्त असंज्ञी जीवस्थान को मिलाने पर मनुष्यगति में अपर्याप्त-पर्याप्त संज्ञीतिक और अपर्याप्त असंज्ञी यह तीन जीवस्थान पाये जाते हैं।<sup>३</sup>

३ कहिण भते । सम्मुच्छमणुस्ता सम्मुच्छति ?

मोयमा ! असोमणुस्तत्त्वे एष्यालीसाए जीयण मयस्तहस्तेसु अद्वाद्वज्ज्ञेसु  
क्षीवसमुद्देसु, पन्नरससु कम्भमूमीसु, तीसाए अकम्भमूमीसु, छप्पन्नाए अंतर-  
क्षीवेसु, गल्भवक्कंसियमणुस्ताए वेव उच्चारेसु वा पासवणेसु वा खेलेसु वा

गतिमार्गणा के चार भेदों में जीवस्थानों का विचार करने के पश्चात् अब इन्द्रियमार्गणा के भेदों में जीवस्थानों को बतलाते हैं—

**इन्द्रियमार्गणा—‘एगिदिएसु चउरो’—अर्थात् एकेन्द्रियभार्गणा में अपर्याप्ति-पर्याप्ति सूक्ष्म, बादर एकेन्द्रिय रूप व्यार जीवस्थान होते हैं। क्योंकि इनके सिवाय अन्य निसी जीवस्थान में एकेन्द्रिय जीव नहीं पाये जाते हैं तथा ‘विगलपर्णिदीसु छुच्चउरो’—अथवा विकलेन्द्रियत्विक—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय इन्द्रियमार्गणा के इन तीन भेदों में अपर्याप्ति-पर्याप्ति द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय रूप छह जीवस्थान होते हैं। क्योंकि ये पर्याप्ति-अपर्याप्ति के भेद से दो-दो प्रकार के हैं। इसलिए द्वीन्द्रिय के दो—अपर्याप्ति-पर्याप्ति द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय के दो—अपर्याप्ति-पर्याप्ति त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय के दो—अपर्याप्ति-पर्याप्ति चतुरिन्द्रिय जीवस्थान होते हैं। जिनका वोग छह है। इसीलिये विकलेन्द्रियत्विक में छह जीवस्थान माने हैं और पंच-न्द्रियमार्गणा में अपर्याप्ति संज्ञी, पर्याप्ति संज्ञी, अपर्याप्ति असंज्ञी, पर्याप्ति असंज्ञी वह चार जीवस्थान होते हैं।**

सिशाष्टेसु वा नतेमु वा विलेसु वा पूएसु वा सोणिएसु वा मुब्केसु वा सुब्कपुम्यलगरिसाडेसु वा विगयजीवकालेवरेसु वा धीमुरिससंजोगेसु वा नवरमिठमगेसु वा सक्केसु चेव अमुहृदठाशेसु एत्य वा समुद्दिष्यम सणूस्सा शमुञ्ज़ति अंगुलस्सा असंज्ञेज्जभामभित्ताए ओगाहणाए, असम्भी मिच्छु-दिट्ठी अन्नाणी भव्वाहि पञ्जस्तीहि अपञ्जत्तागर अंतीमृहृत्तद्वाज्या चेव कालं करति ति ।

द्विगम्बर कम्बग्रन्थों में भनुष्यगति में संज्ञी पर्याप्ति-अपर्याप्ति ये दो जीवस्थान माने हैं। ऐसे तीन गतिमार्गणाओं के जीवस्थानों की संख्या में अन्तर नहीं है—गिरयणरहेवगइसु सण्णीषज्जलया आयुष्या य ।

—पंचसंश्लह, शतकाधिकार या. ८

इस प्रकार मे गति और इन्द्रिय मार्गणा में जीवस्थानों का विचार करने के पश्चात् अब आगे की गाथा में काय और योग मार्गणा के भेदों में जीवस्थानों का निर्देश करते हैं—

**दस तसकाए चउचउ थावरकाएसु जीवठाणाइं ।**

**चत्तारि अहु दोमिन य कायबई माणसेसु कमा ॥२३॥**

**शब्दार्थ—** बस—इस, तसकाए—तसकाय, चउचउ—चार-चार, थावर-काएसु—स्थावरकाय में, जीवठाणाइ—जीवस्थान, चत्तारि—चार, अहु—आठ, दोमिन—दो, य—और, कायबई—काय और बचन योग, माणसेसु—मनोयोग में, कमा—अम से ।

**गाथार्थ—** तसकाय में दस, स्थावरकाय में चार-चार और काययोग, बचनयोग और मनोयोग में अनुक्रम से चार, आठ और दो जीवस्थान होते हैं ।

**विशेषार्थ—** कायमार्गणा और योगमार्गणा के उत्तरभेदों में जीवस्थानों के निर्देश का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

‘दस तसकाए’ अर्थात् तसकाय में दस जीवस्थान हैं । तस नामकर्म के उदय वाले जीवों का तस कहते हैं और तस नामकर्म का उदय द्वीन्द्रिय से लिकार पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त के जीवों में होता है । अतः जीवस्थानों के चौदह भेदों में से एकेन्द्रिय सम्बन्धी अपर्याप्ति, पर्याप्ति सूक्ष्म एकेन्द्रिय और बादर एकेन्द्रिय इन चार जीवस्थानों को छोड़कर शेष दस जीवस्थान तसकाय में होते हैं । जिनके नाम इस प्रकार हैं— अपर्याप्ति-पर्याप्ति के भेद से प्रत्येक दो-दो द्वीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, चतुर्निंद्रिय, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय । इन सबका जोड़ दस होता है ।

‘चउ-चउ थावरकाएसु’—अर्थात् स्थावरकायमार्गणा में चार-चार जीवस्थान जानना चाहिये । अथकार आचार्य ने क्रिस्तार से स्थावरों के पृथ्वी, अल, तेज, वायु और बनस्पति यह पाँच भेद से

करके सामान्य से स्थावरस्थद में शहण करके चार-चार जीवस्थान बतलाये हैं।

जिनको स्थावरनामकमें का उदय हो उन्हें स्थावर कहते हैं और इनके सिफे पहली स्पर्शनेन्द्रिय होती है। अतः एकेन्द्रिय में पाये जाने वाले सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्ति, सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्ति, बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्ति और बादर एकेन्द्रिय पर्याप्ति यह चार जीवस्थान स्थावरकाय के इन पांच भेदों में भी समझना चाहिये।

ग्रंथकार आचार्य ने योगमार्गणा में जीवस्थानों का विचार परस्पर निरपेक्ष अलग-अलग योगों में किया है कि केवल काययोग में अपर्याप्ति-पर्याप्ति सूक्ष्म बादर एकेन्द्रिय रूप चार जीवस्थान पाये जाते हैं। क्योंकि एकेन्द्रिय सिफे काययोग वाले ही होते हैं। मनोयोगरहित वचनयोग में पर्याप्ति-अपर्याप्ति श्रीनिद्रिय, त्रीनिद्रिय, चतुर्निद्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय रूप आठ जीवस्थान हैं और मनोयोग में अपर्याप्ति-पर्याप्ति संज्ञी पंचेन्द्रिय ये दो जीवस्थान होते हैं।<sup>१</sup>

१ ग्रन्थिय ग्रन्था ६ में जीवस्थानों के योगों का विवेद करते हुए बताया है कि पर्याप्ति विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय में काययोग और वचनयोग, संज्ञी पर्याप्ति में सभी योग और शेष जीवों में काययोग होता है। इस प्रकार पर्याप्ति चार जीवभेदों में वचनयोग, एक में मनोयोग और शेष नीं भेदों में काययोग माना है। लेकिन यहाँ काययोग में चार, वचनयोग में आठ और मनोयोग में दो जीवस्थान बतलाये हैं। इस प्रकार परस्पर विरोध है। जिसका परिचार यह है कि—पूर्व में (ग्रन्था ६ में) लविध-अपर्याप्ति की विवक्षा करके उनके किया का सम्पादिकाल न होने से उसकी गौणता मान करके लविध-अपर्याप्ति श्रीनिद्रियादि चार भेदों में वचनयोग और संज्ञी अपर्याप्ति में मनोयोग की विवक्षा नहीं की है। जबकि पहली लविध-पर्याप्ति की विवक्षा होने से करण-अपर्याप्ति व्यवस्था में उन लविध-पर्याप्ति जीवों के करण-पर्याप्ति जीवों की भारह किया का आरंभकाल और

यद्यपि पंथकार आचार्य ने वचनयोगमें आठ जीवस्थान बतलाये हैं लेकिन एक दूसरी इटि से विचार करने पर पर्याप्त द्वीन्द्रिय, लीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय। संज्ञी पंचेन्द्रिय ये पांच जीवस्थान होंगे। इसका कारण यह है कि पर्याप्त अवस्था में स्वर अथवा शब्दो-चारण संभव है, उसमें पूर्व नहीं तथा वचन का सम्बन्ध भाषापर्याप्ति से है। भाषापर्याप्ति एकेन्द्रियों के होती नहीं है। उनमें आदि की चार—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोऽङ्गास पर्याप्तियाँ होती हैं और द्वीन्द्रियादि में भाषापर्याप्ति होती है। जब वे स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण कर लेते हैं, तब उनमें भाषापर्याप्ति पूर्ण ही जाने से वचनयोग हो सकता है। इसीलिए वचनयोग में पर्याप्त द्वीन्द्रिय आदि पांच जीवस्थान मानना चाहिये।

योगमार्गणा के भेदों में पूर्वोक्त प्रकार से जीवस्थानों को बताने के प्रसंग में यह भी जान लेना चाहिये कि केवल कायथोग, वचनयोग और मनोयोग की विवक्षा हीने से इस प्रकार के जीवस्थान छाटित होते हैं। लेकिन सामान्यतः काययोग सभी संसारी जीवों को होने से उसमें सभी चौदह जीवस्थान पाये जायेंगे। वचनयोग में एकेन्द्रिय के चार भेदों के सिवाय दस और मनोयोग में ती संज्ञी पंचेन्द्रिय

समाप्तिकाल एक मानकर अपर्याप्त द्वीन्द्रियादिक चार में भी वचनयोग और संज्ञी अपर्याप्त में मनोयोग बताया है—

पूर्वसूत्रं लब्ध्यपर्याप्तकविवक्षातोनिष्ठाकाला प्राप्तात्यस्त्रोक्तम्, उत्तर-  
सूत्रं तु करणापर्याप्तकानां पर्याप्तकवद्यनात् कियाकालनिष्ठाकालयोद्वच्च  
कथकिअदभेदादिस्यदिरोध इति ।

—पंचसंग्रह स्वोपन्नवृत्ति, पृ. ३८.

दिग्म्बर साहित्य में मनोयोग में एक संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान बतलाया है—भणओए सृणीपञ्जस्त्वो दु णायव्यो ।

—दि० पंचसंग्रह ४/११

पर्याप्त-अपर्याप्त यह दो जीवस्थान पाये जायेगे। परन्तु यहाँ मनोयोग वालों को वचनयोग और काययोग की एवं वचनयोग वालों को काययोग की शीणता करके उनकी विवक्षा नहीं की है। जिसमें मनोयोग में दो, वचनयोग में आठ और काययोग में चार जीवस्थान बतलाये हैं। अपर्याप्त अवस्था में वचनयोग और मनोयोग की विवक्षा उनको ये योग होने की अपेक्षा समझना चाहिये। यहाँ अपर्याप्त शब्द से करण-अपर्याप्त को गहण करना चाहिये। अन्यथा क्रियात्मक रूप में तो ये दो योग सभी पर्याप्तियों से पर्याप्त होने के पहचान ही होते हैं। तथा—

चउचउ पुमित्यवेण् सञ्चाणि नपुंसकंपराएसु ।

किष्टाइतिगाहारगभव्वाभव्ववे य मिच्छे य ॥२४॥

**शब्दार्थ**—चउचउ—दारचार, पुमित्यवेण्—पुरुष और स्त्रीवेद में, सञ्चाणि—सभी, नपुंसकंपराएसु—नपुंसकवेद और कषायों में, किष्टाइतिग—कृष्णादि तीन लेश्या, आहारगभव्वाभव्वे—आहारक, भव्य और अभव्य, य—और, मिच्छे—मिथ्यात्म में, य—और।

**गाथार्थ**—पुरुष और स्त्री वेद में चार-चार, नपुंसकवेद, कषाय, कृष्णादि तीन लेश्याओं, आहारक, भव्य, अभव्य और मिथ्यात्म में सभी जीवस्थान होते हैं।

**विशेषार्थ**—गाथा में वेद, कषाय, लेश्या, आहारक, भव्य और सम्यक्त्व इन पांच मार्याणा के यदायोग भेदों में जीवस्थानों का निर्देश किया है।

**वेदमार्गणा**—सर्वप्रथम वेदमार्गणा के तीन भेदों में से स्त्रीवेद और पुरुषवेद इन दो भेदों में जीवस्थानों को बतलाया है—‘चउ-चउ पुमित्यवेण’—पुरुषवेद और स्त्रीवेद में अपर्याप्त-पर्याप्त असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय रूप चार-चार जीवस्थान होते हैं। अवर्त पुरुषवेद में प्राप्त चार जीवस्थानों के जो नाम हैं वही चार

नाम स्त्रीवेद में पाये जाने वालों के भी हैं। यहाँ अपर्याप्ति का मतलब करण-अपर्याप्ति है, लविष्ट-अपर्याप्ति नहीं, क्योंकि लविष्ट-अपर्याप्ति को तो नपुंसकवेद ही होता है।

यद्यपि सिद्धान्त में असंज्ञी पर्याप्ति और अपर्याप्ति इन दोनों जीव भेदों में मात्र नपुंसक वेद बताया है<sup>१</sup> और यहाँ कार्मग्रन्थिकों ने स्त्री और पुरुष ये वेद माने हैं। लेकिन इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है। क्योंकि सिद्धान्त का कथन भाववेद की अपेक्षा से और कार्म-ग्रन्थिकों का कथन द्रष्टव्यवेद की अपेक्षा से है। अर्थात् भाव से तो इनमें नपुंसकवेद होता है और यहाँ पुरुषवेद और स्त्रीवेद उनमें मात्र स्त्री और पुरुष लिय का आकार होने के आधार से बताया है।

नपुंसकवेद, क्रोध, मान, माया, सोभ कथाय, कुरुणलेश्या, सील-लेश्या, कपोतलेश्या, आहारक, भव्य, अभव्य, मिथ्यादृष्टि तथा च आत्म से बहीत लर्णात इन तीनु मार्गणाओं में सभी तीदह जीव-स्थान होते हैं। इन तीदह मार्गणाओं में सभी जीवस्थान इसलिये माने जाते हैं कि सभी प्रकार के जीवों में इन तीरह मार्गणाओं गत बांतरिक भाव संभव हैं। तथा—

तेऽउलेसाइसु दोन्नि संजमे एवकमदुमणहारे ।

सण्णी सम्ममि य दोन्नि सेसयाइ असनिम्भि ॥२५॥

शब्दार्थ—तेऽउलेसाइसु—तेजो आदि तीन लेश्याओं में, दोन्मि—दो, संजमे—संयम में, एवकम—एक, अदुर्ठ—आठ, अणहारे—अनाहारक में,

१ तेण भन्ते । असन्निपञ्चनिद्यतिरिक्षजोशिया कि इत्थेयमा, पुरिसवेयमा, नपुंसवेयमा ?

गोयमा ! नोइत्थेयमा नोपुरिसवेयमा, नपुंसवेयमा ।

सत्त्वी—संज्ञी, सम्बन्धि—सम्यक्त्व में, य—और, दोनिः—दो, सेसवाहु—शेष, असंनिष्ठि—असंज्ञी में।

**गाथार्थ**—तेजो आदि तीन लेश्याओं में दो, संयम में एक, अनाहारक में आठ, संज्ञी और सम्यक्त्व में दो और असंज्ञी में शेष रहे जीवस्थान होते हैं।

**विशेषार्थ**—गाथा में लेश्यामार्गणा के भेद तेजोलेश्या आदि तीन शुभ लेश्याओं तथा संयम, अनाहारक, संज्ञी, सम्यक्त्व मार्गणाओं में संभव जीवस्थानों का निर्देश किया है।

कृष्णादि तीन भेदों से शेष रहे लेश्या के तेज, सद्म और शुक्ल इन तीन शुभ भेदों में अपर्याप्त-पर्याप्ति संज्ञी पञ्चेन्द्रिय रूप दो जीवस्थान होते हैं—‘तेउलेसाहुदोन्ति’। यहाँ अपर्याप्ति का अर्थ करण-अपर्याप्ति ग्रहण करना चाहिये। कथोंकि लक्ष्मि-अपर्याप्तिकों के तो कृष्ण, नील, काषोत्त ये तीन अशुभ लेश्यायें होती हैं तथा गाथा के उत्तरार्थ में आगत ‘य-च’ शब्द से अनुकूल अर्थ का समुच्चय करके यह आशय ग्रहण करना चाहिये कि करण-अपर्याप्ति बादर एकेन्द्रिय जीवों को भी तेजोलेश्या पाई जाती है। इस इष्ट से तेजोलेश्या में बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्ति जीवस्थान संभव होने से कुल मिलाकर तीन जीवस्थान प्राप्त होते हैं।

बादर एकेन्द्रिय जीवों के अपर्याप्ति अवस्था में तेजोलेश्या इस अपेक्षा से मानी जाती है कि जब कोई भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क, सौधर्म और ईशान देवलोक के देव १ जिनमें तेजोलेश्या संभव है, मरकर बादर पर्याप्ति पृथकी, जल या वनस्पति काय में उत्पन्न होते हैं

१ किष्म्हानीलाकाऊ तेउलेसा य भवणवंतरिया ।

जोइस सोहम्मीसाणि तेउलेसा मुण्णेयच्चा ॥

—बृहत्संग्रहणी पञ्च च १

भवनपति और व्यंतर देवों के कृष्ण आदि चार लेश्यायें होती हैं किन्तु

तब कुछ काल तक अपर्याप्ति (करण-अपर्याप्ति) अवस्था में उनको तेजोलेश्या होती है।<sup>१</sup> क्योंकि यह सिद्धान्त है—

जलसे भरह ललसे उबड़जह ।

अर्थात् जिन लेश्यापरिणामों में जीव का मरण होता है, उन्हीं लेश्यापरिणामों से भवान्तर में उत्पन्न होता है। जिससे बादर एकेन्द्रिय पृथक्षी, जल और प्रत्येक बनस्पति जीवों के अपर्याप्त अवस्था में कुछ समय तक तेजोलेश्या पाथे जाने से तेजोलेश्यमार्गणा में पर्याप्त-अपर्याप्ति संज्ञी के अतिरिक्त बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्ति रूप तीसारा भी जीवस्थान माना जाता है।

पद्म और शुक्ल लेश्या के परिणाम संज्ञी के सिवाय दूसरे जीवों में न होने के कारण इन दो लेश्याओं में अपर्याप्ति और पर्याप्ति संज्ञी पचेन्द्रिय यह दो जीवस्थान हैं।

‘संज्ञमे एकक’ अर्थात् सामायिक आदि संयममार्गणा के पांच भेदों तथा देशविरतमार्गणा कुल छह भेदों में पर्याप्ति संज्ञी पचेन्द्रिय रूप एक ही जीवस्थान होता है। इसका कारण यह है कि पर्याप्ति संज्ञी पचेन्द्रिय के सिवाय अन्य प्रकार के जीवों में सर्वविरति और देशविरति संयम धारण करने की योग्यता नहीं होती है।

अनाहारक मार्गणा में आठ जीवस्थान होते हैं—‘अट्ठमण्हारे’। जिनके नाम इस प्रकार हैं—अपर्याप्ति-पर्याप्ति संज्ञी तथा अपर्याप्ति-

ज्योतिष और सौधर्म-हितान देवलोक में तेजोलेश्या ही होती है।

१ पुढ़कीआउ बणस्माइ गव्हे पञ्जातसंखजीर्धेसु ।

सम्बुद्धाण्डवासो सेसापडिसेहिया ठाणा ॥

—बृहसंग्रहणी एव ७४

पृथक्षी, जल, बनस्पति और संख्यात वर्षे की अस्यु वाले गर्भेज पर्याप्तिकों में ही स्वर्ग-चर्युत देव पैदा होते हैं, अन्य स्थानों में नहीं।

सूक्ष्म बाहर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय ।

सब प्रकार के अपर्याप्त जीव अनाहारक उस समय होते हैं, जिस समय के विश्रहस्ति में एक, दो या तीन समय तक आहार प्रहण नहीं करते हैं ।<sup>१</sup> लेकिन पर्याप्त संज्ञी को अनाहारक इस अपेक्षा से माना जाता है कि केवली भगवान के वलिसमुद्घात के तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में कार्यण काययोगी होने के कारण किसी प्रकार के आहार को प्रहण नहीं करते हैं ।<sup>२</sup>

‘सर्णी सम्मभि य दीनि’ अर्थात् संज्ञीमार्गणा तथा क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक इन तीन सम्यक्त्वमार्गणाओं से पर्याप्त-अपर्याप्त संज्ञी पञ्चेन्द्रिय यह दो जीवस्थान होते हैं । क्योंकि अन्य सब जीवस्थान असंज्ञी होने से संज्ञीमार्गणा में संज्ञीद्विक जीव-स्थानों के सिवाय अन्य कोई जीवस्थान संभव नहीं हैं । अतः यही दो जीवस्थान होते हैं तथा क्षायिक आदि सम्यक्त्वद्विक में यही दो जीव-स्थान मानने का कारण यह है कि जो जीव आयु बांधने के बाद क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, वह उस बढ़ आयु के अनुसार चारी गतियों में से किसी भी गति में जग्म ले सकता है । इसी अपेक्षा से क्षायिक सम्यक्त्व अपर्याप्त-अवस्था में माना जाता है । इसी प्रकार

१ उत्पत्तिस्थान की वक्ता से अन्नान्तर प्रहण करने के लिए जाते हुए किसी छट्टमस्थ जीव को विश्रहस्ति में एक, दो या तीन विश्रह (धूमाव) करना पड़ते हैं । इसी अपेक्षा से एक, दो या तीन समय तक अनाहारक दशा संभव है—

एक ही श्रीन्वाऽनाहारकः ।

तस्वार्थसूत्र २ । ३०

२ कार्यण शरीर योगी तृतीयके रूपमें चतुर्थे च ।  
समयत्रये य तस्मिन् भवत्यनाहारको नियमात् ॥

क्षायोपशमिक सम्यकत्व को अपर्याप्ति-अवस्था में मानने का कारण यह है कि भावी तीर्थकर आदि जब देवमति से छुत होकर मनुष्य-जन्म यहण करते हैं तब वे क्षायोपशमिक सम्यकत्व सहित होते हैं। इस प्रकार क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यकत्व में पर्याप्ति-अपर्याप्ति संज्ञी पञ्चेन्द्रिय रूप से जीवस्थान होते हैं तथा औपशमिक सम्यकत्व के लिए यह समझना चाहिये कि आयु पूर्ण हो जाने पर जब कोई औपशमिक सम्यग्हटि यारहवें गुणस्थान में सरण करके अनुत्तर विमान में पैदा होता है तब अपर्याप्ति-अवस्था में औपशमिक सम्यकत्व पाया जाता है।

औपशमिक सम्यकत्वमार्गणा में भी दो जीवस्थानों का विवेश करने पर जिज्ञासु पूछता है—

**प्रश्न**—क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यकत्व सहित भवान्तर में जाना संभव होने से इन दोनों सम्यकत्वों में तो संज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्ति यह जीवस्थान माना जा सकता है, परन्तु औपशमिक सम्यकत्व में संज्ञी अपर्याप्ति जीवस्थान कैसे घटित होगा? क्योंकि अपर्याप्ति-अवस्था में तद्योग्य अथवावसाय का अभाव होने से कोई भी नया सम्यकत्व उत्पन्न नहीं होता है। कदाचित् यह कहा जाये कि अपर्याप्ति-अवस्था में भले ही नया सम्यकत्व उत्पन्न न हो, परन्तु क्षायिक, क्षायोपशमिक की तरह परमव में लाया हुआ अपर्याप्ति-अवस्था में हो तो उसका निषेध कीन कर सकता है? परन्तु यह कथन भी अयोग्य है। क्योंकि जो मिथ्याग्हटि मिथ्यात्वगुणस्थान में तीन करण करके औपशमिक सम्यकत्व प्राप्त करता है, वह जब तक हो तब उक कोई जीव मरण नहीं करता है और आयु को भी नहीं बांधता है। जैसा कि आयमों में कहा है—

अनवंशोऽप्यथात्तु गवर्ध कार्यं च सासक्षो कुण्ड।

उवसमसमविद्ठी चउण्हमेकंपि न कुण्ड॥

अथसु सासादनसम्यग्हटि अनन्तानुर्दधी का वंश, अस्तानुर्दधी का उदय, आयु का वंश और मरण इन चार कायमें को करता है,

किन्तु औपशमिक सम्यग्गृहिणि इन चारों में मे एक भी कार्य नहीं करता है।

कदाचित् यह कहा जाये कि उपशमश्रेणि का उपशमसम्यक्त्व अपर्याप्त-अवस्था में होता है, तो यह कथन भी योग्य नहीं है। क्योंकि उपशमश्रेणि पर आङ्गुष्ठ जीव यदि वही मरण कर अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होता है तो उसको देवायु के पहले समय में सम्यक्त्वमोहनीय के पुद्गलों का उदय होने से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है, किन्तु औपशमिक सम्यक्त्व नहीं होता है। जैसा कि गतकाचूणि में संकेत किया है—

जो उद्वस्मसम्बद्धिः उद्वस्मसेहोए कालं करेह सो वडम समए वेव  
सम्मस्तुं उदयाश्विद्याए ओदून सम्मस्तपुग्मले वेएह, तेण न उद्वस्मसम्बद्धिः  
अपञ्जलयो लब्धइ सि ।

अर्थात् जो उपशमसम्यग्गृहिणि उपशमश्रेणि में भरण को प्राप्त होता है, वह प्रथम समय में ही सम्यक्त्वमोहनीय पुंज को उदयाश्विद्या में लाकर वेदन करता है, जिससे उपशम सम्यग्गृहिणि अपर्याप्त नहीं होता है। यानि अपर्याप्त-अवस्था में औपशमिक सम्यक्त्व नहीं पाया जाता है।

इस प्रकार उपशम सम्यक्त्वमार्गण में संज्ञी पञ्चन्द्रिय पर्याप्त यही एक जीवस्थान संभव है, परन्तु अपर्याप्त संज्ञी जीवस्थान वटित नहीं होता है।

उत्तर—उपर्युक्त कथन संगत नहीं है। क्योंकि साततिका की कूणि में जहाँ गुणस्थानों में नामकर्म के बांध और उदय स्थानों का विचार किया गया है, वही चाँथे अविरतसम्यग्गृहिणिगुणस्थान के उदयस्थानों के विचार के प्रसंग में पच्चीस और सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थान देव और नारकों की अपेक्षा बताये हैं। उनमें नारकों को क्षायिक और वेदक—क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी बताया है, किन्तु देवों

को तीनों प्रकार के सम्यकत्व बाला कहा है। उत्तमबन्धी पाठ इस प्रकार है—

‘पच्चीस सत्तावीसौदया देव नेरइए पहुच्च । नेरइयो खहगवेयग-  
सम्मदिट्ठी, तेहो तिविह सम्मदिट्ठी वि ।’

अर्थात्—पच्चीस और सत्ताईस प्रकृतिक उदयस्थान देव और नारकों की अपेक्षा होते हैं, उनमें नारक क्षायिक और वेदक सम्यग्हण्ठि और देव सीनों (क्षायिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक) सम्यकत्व बाले होते हैं। इन दोनों उदयस्थानों में से पच्चीस प्रकृतिक-उदयस्थान शरीरपर्याप्ति के निर्माण समय में और सत्ताईस-प्रकृतिक उदयस्थान शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त और ऐष वर्णाप्तियों से अपर्याप्ति को होता है। इस प्रकार यह दोनों उदयस्थान अपर्याप्ति अवस्था में होने से यहाँ भी अपर्याप्त अवस्था में औपशमिक सम्यकत्व को ग्रहण किया है। तस्व तो केवलजानीगम्य है ।’

१ दिवम्बर साहित्य में उपशमश्रेणिभावी—उपशम सम्यकत्व जीवों को अपर्याप्त अवस्था में होता है इसी भल को माना है—

विदिव्युवसम्मगतं सेही तो दिधिण अविरदादीमु ।

सग सग लेत्सायरिते देव अपञ्जतगेव लृते ॥

—श्री० जीवकांड, गाथा ७२३

उपशमश्रेणि से उत्तरकर अविरत आदि गुणस्थार्तों को प्राप्त करने वालों में से जो जीव अपनी-अपनी लेष्या के अनुकार मरण करके देव पर्याप्ति को प्राप्त करता है, उभी को अपर्याप्ति अवस्था में हृतीयोपशम सम्यकत्व (उपशमश्रेणिभावी होता) है।

श्रथकार आचार्य ने इसी अपेक्षा से संभवतः सम्यकत्व में संकी पर्याप्ति और अपर्याप्ति यह दो जीवस्थान भाने हों। लेकिन श्रथमोपशम सम्यकत्व की अपेक्षा जीवस्थानों का विचार किया जाये तो एक संशीप्तेन्द्रिय पर्याप्ति जीवस्थान होगा। पर्योगि प्रथमोपशम सम्यकत्व के समय आयुर्वेद, मरण आदि नहीं होता है। जैवाकि कहर कहा है—‘अगवंष्टोदशमात्मनै दृश्यादि ।

‘सिसायाहं असंनिमित्तम्’—अर्थात् पूर्वोक्त पर्याप्ति और अपर्याप्ति संज्ञी के सिवाय जोष रहे बारह जीवस्थान असंज्ञी मार्गणा में पाये जाते हैं। क्योंकि संज्ञित्व और असंज्ञित्व का भेद पर्याप्ति जीवों में ही पाया जाता है, लेकिन जोष बारह जीवस्थान असंज्ञी जीवों के ही होते हैं। इसलिए असंज्ञी मार्गणा में बारह जीवस्थान समझना चाहिए।

अब पूर्वोक्त में जोष रही शानादि मार्गणाओं में जितने जीवस्थान संभव है, उनका प्रतिपादन करते हैं—

तुमु नाणदंसणाहं सब्वे अन्नाणिणो य विन्नेया ।

सन्निमित्तम् अयोगि अवेद एवमाह मुण्डेयव्वं ॥२६॥

**शब्दार्थ**—तुमु—दोनों में, नाणदंसणाहं—ज्ञान और दर्शन, सब्वे—सभी, अन्नाणिणो—अज्ञनियों की, य—और, विन्नेया—जानना चाहिए, सन्निमित्तम्—संज्ञी में, अयोगि—अयोगि, अवेद—अथेष्टि, एवमाह—इत्यादि, मुण्डेयव्वं—समझना चाहिए।

**गायत्री**—ज्ञान और दर्शन दो जीवस्थानों में और अज्ञान सभी जीवस्थानों में जानना चाहिए। अयोगि, अवेष्टि इत्यादि भाव संज्ञी में समझना चाहिये।

**विशेषार्थ**—गाया में ज्ञान और दर्शन मार्गणा के भेदों में जीवस्थानों का विचार करते के प्रसंग में एक सामान्य नियम का विवेद करते हुए संज्ञी जीवस्थान की विशेषता वर्ताताहै है।

मतिज्ञान आदि पांच भेदों के साथ मति-अज्ञान आदि तीन की मिलाने से ज्ञानमार्गणा के आठ भेद हैं। अर्थात् ज्ञान मार्गणा के दो वर्ग हैं। प्रथम वर्ग मतिज्ञानादि पांच सम्यक्ज्ञानों का और दूसरा वर्ग मति-अज्ञान आदि तीन अज्ञानों—मिथ्यज्ञानों का है। यही बात वक्षुदर्शन आदि दर्शनों के लिए भी समझना चाहिए। यदि के मिथ्यात्म-

सहकृत हैं तो भिन्नादर्शीन कहलायेंगे और सम्बन्धत्व सहित हैं तो सम्बन्धदर्शीन। इन दोनों में जीवस्थानों के किञ्चार का प्रमुख सूक्ष्म यह है कि 'दुसु नाणदंसमाइ'—ज्ञान—सम्बन्धज्ञान और इर्षण—सम्बन्धदर्शीन दो जीवभेदों—संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्ति और अपर्याप्ति में संभव है, अन्य जीवभेदों में संभव नहीं है, लेकिन 'सब्वे अन्नाणिषो' अर्थात् अज्ञान में सभी चौदह जीवस्थान हो सकते हैं।

अब संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवस्थान की विशेषता बतलाते हैं कि अयोगित्व, अवेदित्व और 'आइ'—आदि भाव भेद में इनके ही समकक्ष अलैश्यत्व, अकषायत्व, अनिन्द्रियत्व आदि भाव भाव 'सन्निमिम्म' संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्ति जीवस्थान में ही संभव है, शेष में नहीं। परन्तु यहाँ इतना विशेष समझना चाहिए कि ये सब भाव मनुष्यगति में ही प्राप्त हो सकेंगे, अन्यत्र संभव नहीं है।

संज्ञी पर्याप्ति जीवस्थान में अयोगित्व आदि भावों की प्राप्ति का संकेत करने पर जिज्ञासु पूछता है कि—

प्रश्न—सूक्ष्म, बादर योग के बिना अयोगित्व में संज्ञीपना कैसे घट सकता है। अर्थात् जब अयोगि दशा में योग ही नहीं है तो फिर संज्ञी कहे जाने का क्या आधार है ?

उत्तर—उक्त प्रश्न का समाधान यह है कि सप्तोगिकेवलि की तरह द्रव्यमन का सम्बन्ध होने से अयोगि को भी संज्ञी व्यपदेश होता है।<sup>१</sup> जैसा कि सप्ततिकानुषिं में कहा है—

मणकरणं केवलिणो वि अस्ति तेष्य सन्निषो भन्वति ।

केवली को भी मनकरण—द्रव्यमन होने से संज्ञी कहा जाता है। अर्थात् द्रव्यमन की अपेक्षा रखकर अयोगिदशा में संज्ञित्व मानने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है।<sup>२</sup>

<sup>१</sup> केवली भगवान् 'नो संज्ञी नो असंज्ञी' कहलाते हैं। जिसका स्पष्टीकरण गत्पा ३२ में किया गया है।

<sup>२</sup> दिगम्बर साहित्य में भी अयोगिकेवली अवस्था में द्रव्यमन के सम्बन्ध से

अब पूर्व गाथा के विवेचन का विस्तार से विचार करते हैं—

**दोमइसुयओहिदुर्गे** एक मणनाण के बल विभर्गे ।

**छ लिंगं व चक्षुदंसणं चउदसं ठाणाणि सेस तिर्गे ॥२७॥**

**शब्दार्थ**—**धो**—धो, **मइसुयओहिदुर्गे**—मति, श्रुत और अवधिदिक में, एक—एक, **मणनाणके बलविभर्गे**—मनपर्यायज्ञान, केवलज्ञान और विज्ञान में, **छ**—चौह, **लिंग**—तीन, **व**—अथवा, **चक्षुदंसण**—चक्षु दर्शन, चउदस—चौदह, **ठाणाणि**—जीवस्थान, सेस तिर्गे—गोप तीन में ।

**गाथार्थ**—मति, श्रुत और अवधिदिक में वो जीवस्थान होते हैं । मनपर्यायज्ञान, केवलज्ञान और विभंगज्ञान में एक तथा चक्षुदर्शन में तीन अथवा छह और गोप रहे अज्ञानविक में सभी चौदह जीवस्थान होते हैं ।

**विशेषार्थ**—पूर्वगाथा में किये गये सामान्य निर्देश के अनुसार अद्व ज्ञान और दर्शन भागेणा के अदान्तर आठ और चार घेदों में पृथक-पृथक जीवस्थानों को वर्ताते हैं ।

**‘दोमइसुयओहिदुर्गे’**—अर्थात् मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, और अवधिदर्शन इन चार भागेणाओं में पर्याप्त-अपर्याप्त संकी

संजित्र भाना है—

रणसहित्यर्णं लयणदिदृठं तणुव्वमिदिसओगम्हि ।

उत्तो भानो वयरिण्डियं णाणेण हीणभ्हि ॥

—गोमटसार जीवकाँड २२७

ज्ञानस्थ मनसहित जीदों का व्यवहार प्रयोग मनपूर्वक होता है । इसलिए धृत्रियज्ञान से रोहत केवली अवदान में भी उपलाप से मन भाना जाता है । इसलिए केवली के अयोगि होने पर भी उनको संक्षी कहते हैं ।

पंचेन्द्रिय यह दो जीवस्थान होते हैं। इसका कारण यह है कि ये मतिज्ञान आदि सम्यक्तवसापेक्ष हैं और सम्यक्तव संज्ञी में होता है, असंज्ञी में नहीं। जिससे भृति-श्रुतज्ञान आदि का असंज्ञी में होना असम्भव है तथा कोई-कोई जीव जब मति आदि तीनों ज्ञानों सहित जन्म ग्रहण करते हैं, उस समय उन जीवों के अपर्याप्त अवस्था में भी मति, श्रुति, अवधित्रिक होते हैं। इसीलिए मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधित्रिक-अवधिवर्णन इन चार मार्गणाओं में अपर्याप्त-पर्याप्त संज्ञीपञ्चेन्द्रिय यह दो जीवस्थान माने जाते हैं।

‘एक मणज्ञाणकेवलविभगी’ अर्थात् मनपर्यायज्ञान, केवलत्रिक-केवलज्ञान, केवलदर्शन और विभंगज्ञान मार्गणाओं में पर्याप्त संज्ञी पञ्चेन्द्रिय रूप एक जीवस्थान होता है। यहाँ विभंगज्ञान में जो पर्याप्त संज्ञी रूप एक जीवस्थान बताया है, वह तिर्यक्, मनुष्य और असंज्ञी नारक की अपेक्षा समझना चाहिए। क्योंकि संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यक् और मनुष्यों को अपर्याप्त अवस्था में विभंगज्ञान उत्पन्न नहीं होता है तथा असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय में से जो रत्नप्रभा नाथक प्रथम नरक में नारक रूप से उत्पन्न होते हैं, उनका असंज्ञी नारक ऐसा नामकरण किया जाता है, उनको भी अपर्याप्त अवस्था में विभंगज्ञान उत्पन्न नहीं होता, किन्तु सभी पर्याप्तियों से पर्याप्त होने के बाद उत्पन्न होता है। इसी अपेक्षा से विभंगज्ञान में संज्ञी पर्याप्त रूप एक जीवस्थान बताया है। जैकिन सामान्यापेक्षा विचार किया जाये तो विभंगज्ञान मार्गणा में संज्ञी पर्याप्त और अपर्याप्त ये दोनों जीवस्थान हो सकते हैं। क्योंकि संज्ञी तिर्यक्, मनुष्यों में से उत्पन्न होते देव नारकों की अपर्याप्त अवस्था में भी विभंगज्ञान उत्पन्न होता है।<sup>१</sup>

चक्रुद्ग्रन्थ मार्गणा में अपर्याप्त पर्याप्त चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय, संज्ञी पञ्चेन्द्रिय इस प्रकार छह अथवा पर्याप्त चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी

<sup>१</sup> दिग्भवर साहित्य में विभंगज्ञान में संज्ञीपञ्चेन्द्रिय पर्याप्त रूप एक जीवस्थान माना है।

पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय ये तीन जीवस्थान पाये जाते हैं—‘छ तिर्ग व चक्षुदर्शण ।’ इन दोनों मतों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

क्तिपय आचार्यों का मत है कि अपर्याप्त अवस्था में भी चक्षुदर्शन हो सकता है । किन्तु इसके लिए इन्द्रिय पर्याप्ति का पूर्ण बन जाना आवश्यक है । क्योंकि इन्द्रिय पर्याप्ति न बन जाये तब आँख के पूर्ण न बनने में चक्षुदर्शन हो ही नहीं सकता है ।

इस कथन का सारांण यह है कि अपर्याप्त अवस्था में इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण हो जाने के बाद यदि शेष पर्याप्तियों से अपर्याप्त भी हो तो ऐसे पर्याप्ति भी चक्षुदर्शनमेंगढ़ोग हो सकता है । अतः उनके मतानुसार तो पर्याप्त-अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय इस प्रकार चक्षुदर्शन मार्गणा में छह जीवस्थान घटित होते ।

लेकिन जो इस मत को स्वीकार नहीं करते अर्थात् पर्याप्त अवस्था में ही चक्षुदर्शनोपयोग मानते हैं, उनके मतानुसार पर्याप्त चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय ये तीन जीवस्थान चक्षुदर्शन मार्गणा में माने जायेंगे । इस मत को मानने वालों का हृष्टिकोण यह है कि चक्षुदर्शन आँख वालों के ही होता है और आँखें चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय इन तीन प्रकार के जीवों के पर्याप्त अवस्था में ही होती हैं । इसके सिवाय अन्य प्रकार के जीवों में चक्षुदर्शन का भी अभाव है । जलएव चक्षुदर्शन में तीन जीवस्थान मानना चाहिये ।

इन दोनों मतों के मतव्यों का दिवदर्शन कराने के लिये ग्रंथकार आचार्य ने गाथा में ‘व’ शब्द दिया है ।<sup>१</sup>

<sup>१</sup> चक्षुदर्शन में तीन और छह जीवस्थान मानने का कारण इन्द्रिय पर्याप्ति की दो व्याख्याएँ हैं—

‘चक्रदस ठाणाणि सेस तिगे’—अर्थात् पूर्वोक्त से योग रहे ज्ञान और दर्शन भार्गणा के तीन भेदों—मति-अज्ञान, शुत-अज्ञान और अचक्षुदर्शन—में चौदह जीवस्थान होते हैं। मति-अज्ञान और शुत-अज्ञान तो सभी प्रकार के जीवों में संभव होने से माने जा सकते हैं। लेकिन अचक्षुदर्शन में भी सब जीवस्थान मानने पर जिज्ञासा होती है कि अचक्षुदर्शन में जो सात अपर्याप्त जीवस्थान हैं, वे इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पश्चात और स्वयोग्य पर्याप्तियाँ अभी पूर्ण न हुई हों, वैसी अपर्याप्त अवस्था की अपेक्षा या इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण

(अ) इन्द्रिय पर्याप्ति जीव की वह शक्ति है, जिसके द्वारा धृतुरूप में परिणत आहार-पुद्गलों में से आन्य पुद्गल इन्द्रियरूप से उत्पादित होते हैं। यह व्याख्या प्रज्ञाप्ता वृत्ति में है। जिसके अनुसार स्वयोग्य संपूर्ण पर्याप्तियाँ पूर्ण होने के बाद ही इन्द्रियजन्य उपयोग प्रवृत्त होता है। अपर्याप्त अवस्था में चतुरिन्द्रिय आदि को चक्र होने पर भी उसका उपयोग नहीं होता है। अतः चक्रदर्शन में तीन जीवस्थान होते हैं।

(आ) इन्द्रिय पर्याप्ति जीव की वह शक्ति है, जिसके द्वारा योग्य आहार-पुद्गलों को इन्द्रियरूप में परिणत करके इन्द्रियजन्य बोध का सामर्थ्य प्राप्त किया जाता है। यह व्याख्या बृहत्संब्रह्मी स्था अवश्यकी वृत्ति की है। जिसके अनुसार इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पश्चात इन्द्रियजन्य उपयोग प्रवृत्त होता है। यानी इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण करकी हो कि न्यु स्वयोग्य अन्य पर्याप्तियाँ पूर्ण न भी की हों ऐसे जीव को चक्रदर्शन हो सकता है। इस अपेक्षा से चक्रदर्शन में छह जीवस्थान माने जाते हैं।

दिग्भाग्वत आचार्यों ने चक्रदर्शन में छह जीवस्थान माने हैं—

‘चक्रदर्शने भत्तुरिन्द्रियाऽसंक्षिप्त पर्याप्ताऽपर्याप्ताः षष्ठः । अपर्याप्तकामेऽपि चक्रदर्शनस्य क्षयोपकामसद्भावात्, शक्त्यपेक्षया वा षड्भा जीवसमाप्ति भवन्ति ।

होने के पहले भी अचक्षुदर्शन होता है, यह मान कर। अर्थात् इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद के अपर्याप्तियों अथवा इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले के अपर्याप्तियों को ग्रहण किया किया है।

यदि प्रथम पक्ष माना जाये कि इन्द्रिय पर्याप्ति के पूर्ण होने के बाद स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण न हुई हों तो उस स्थिति में सभी जीवस्थान अचक्षुदर्शन में माने जा सकते हैं। लेकिन दूसरा पक्ष माना जाये कि इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले भी अचक्षुदर्शन होता है तो इस पक्ष में यह प्रश्न होता है कि इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले इन्द्रिय नहीं होने से उस अवस्था में अचक्षुदर्शन कैसे माना जा सकता है?

इसका समाधान यह है—अचक्षुदर्शन कोई एक इन्द्रियजन्य दर्शन नहीं है, वह नेत्र इन्द्रिय के सिवाय अन्य किसी भी इन्द्रियजन्य दर्शन है। जिससे वह ज्ञाति रूप अथवा द्रव्य-इन्द्रिय और भाव-इन्द्रिय दोनों रूपों में अथवा भावेन्द्रिय रूप में होता है। इसी से अचक्षुदर्शन को इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले और पीछे दोनों अवस्थाओं में माना जा सकता है। जिससे अचक्षुदर्शन में सभी जीवस्थान माने जाते में किसी प्रकार का विवाद नहीं है।

सासादनसम्यक्त्व मार्गणा में अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरन्द्रिय, असंज्ञीपञ्चेन्द्रिय, संज्ञीपञ्चेन्द्रिय ये छह और सातवीं संज्ञीपञ्चेन्द्रिय पर्याप्ति कुल मिलाकर सात जीवस्थान होते हैं। इनमें छह अपर्याप्ति और एक पर्याप्ति जीवस्थान है। सूक्ष्म एकेन्द्रिय को छोड़कर अन्य छह प्रकार के जीवस्थान इसलिए माने जाते हैं कि जब कोई औपशमिक सम्यक्त्विति जीव उस सम्यक्त्व को छोड़ता हुआ बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरन्द्रिय, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय और संज्ञीपञ्चेन्द्रिय में जन्म लेता है, तब उसके अपर्याप्ति अवस्था में सासादन सम्यक्त्व पाया जाता है। किन्तु कोई भी जीव औपशमिक सम्यक्त्व का वर्णन करते हुए सूक्ष्म एकेन्द्रिय में पैदा नहीं होता है।

लथा संज्ञी पञ्चेन्द्रिय के सिवाय कोई भी जीव पर्याप्त अवस्था में सासादन सम्यक्त्व बाला नहीं होता है। क्योंकि औषधमिक सम्यक्त्व पाने काले जीव संज्ञी ही होते हैं दूसरे नहीं। इसलिए सासादन सम्यक्त्व मार्गणा में सात जीवस्थान माने जाते हैं।<sup>१</sup>

मिथ सम्यक्त्वमार्गणा में एक संज्ञी पञ्चेन्द्रियपर्याप्त जीवस्थान होता है। क्योंकि संज्ञीपञ्चेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के सिवाय अन्य जीवों में तथाविष्ट परिणामों की योग्यता नहीं होने से मिथ-दृष्टि सम्यग्-मिथ्यात्व—नहीं होती है।

इस प्रकार से मार्गणास्थानों के ब्राह्मण उत्तर भेदों में जीवस्थानों कथन समझना चाहिए।<sup>२</sup> अब वर्ण विषयों में से जेष रहे मार्गणा स्थानों में गुणस्थानों को बतलाते हैं।

**मार्गणास्थानों में गुणस्थान—**

सुरत्तररएसु चत्तारि पञ्च तिरिएसु चोद्दस मणूसे ।

इगिविगलेसु जुयल मव्वाणि पणिदिसु हवंति ॥२८॥

१ यहीं जो अर्थात् एकेन्द्रिय आदि को सासादनसम्यक्त्व का अधिकारी कहा है, वे करण-अर्थात् समझना चाहिए, लक्ष्मि-अर्थात् नहीं। क्योंकि लक्ष्मि-अपर्याप्त जीव तो मिथ्याजीवी ही होते हैं।

दिग्मन्त्र आचार्यों ने सासादनसम्यक्त्व में सात के सिवाय अङ्ग व दो जीवस्थान भी माने हैं।

सासणसम्मे सत्त अपज्जता होति सण्णि-पञ्जसा ।

पञ्चसंश्लेष्ह ४/१३ की टीका

२. दिग्मन्त्र कर्मग्रन्थों में प्राप्त मार्गणास्थानों में जीवस्थानों का विवार फरिशिष्ठ में देखिये।

**शब्दार्थ—**—तुरन्तारणम्—देव और नारकों में, चत्तारि—चार, पंच—पाँच, तिरिएसु—तिर्यचों में, छोड़ा—चोदह, मनुष्य—मनुष्यों में, इन्द्रियगतेसु—एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियों में, गुणतं—युगल (दो), सम्बन्धणि—सभी, परिणविसु—पञ्चेन्द्रियों में, हर्षति—होते हैं।

**गाथार्थ—**—देव और नारकों में चार, तिर्यचों में पाँच, मनुष्यों में चोदह गुणस्थान होते हैं तथा एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियों में दो और पञ्चेन्द्रियों में सभी (चोदह) गुणस्थान जानना चाहिए।

**विशेषार्थ—**—गाथा में गति मार्गणा के चार और इन्द्रिय मार्गणा के पाँच भेदों में प्राप्त गुणस्थानों को बतलाया है।

देव, नारक, तिर्यच और मनुष्य यह गति मार्गणा के चार भेद हैं। उनमें से 'सुरनाराणम् चत्तारि'—देव और नारकों में आदि के मिथ्यात्म, सासादन, मिथ्र और अविरतसम्यग्दृष्टि ये चार गुणस्थान होते हैं। क्योंकि अप्रत्याक्ष्यानावरण कारण के उदय से संयम धारण करने की शक्ति की अभिव्यक्ति नहीं होने के कारण देव और नारक स्वभाव से ही विरति रहित होते हैं। इसलिए इन दोनों गतियों में प्रथम चार गुणस्थान माने जाते हैं।

**'पंच तिरिएसु'**—तिर्यच गति में आदि के पाँच गुणस्थान—मिथ्यात्म, सासादन, मिथ्र, अविरतसम्यग्दृष्टि और देशविरत होते हैं। क्योंकि जातिस्वभाव से तिर्यचगति में सर्वविरति तो संभव नहीं, किन्तु देशविरति संयम का पालन किया जा सकता है और आगे के छठे आदि गुणस्थान सर्वविरति के ही होते हैं और सर्वविरति का धारण-पालन सिर्फ मनुष्य गति में ही सकता है। इसीलिए तिर्यचगति में आदि के पाँच गुणस्थान माने जाते हैं।

तिर्यचगति में पाँच गुणस्थान मानने के सम्बन्ध में इतना विशेष समझना चाहिए कि गर्भज तिर्यचों में सम्यक्त्व और देशविरति

योग्य परिणाम हो सकते हैं। युगलिक तिर्यकों के आदि के चार ही गुणस्थान होते हैं और औपशमिक आदि तीन सम्यक्तवों में से किसी भी प्रकार का सम्यक्तव संभव है और संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी तिर्यक में क्षायिक के सिवाय ऐष दो सम्यक्तव और देशविरति तक के पाँच गुणस्थान संभव हैं।

मनुष्यगति में सभी प्रकार के परिणाम संभव होने से सब गुणस्थान पाये जाते हैं—‘बोद्धस मणुसे’।

एकेन्द्रिय विकलेन्द्रियतिक—द्विन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय इन चार इन्द्रिय मार्गणा के भेदों में युग्मल—मिथ्यात्व, सासादन यह दो गुणस्थान पाये जाते हैं। इसका कारण यह है कि अज्ञान के कारण तत्वशब्दाहीन होने से गिर्यात्वगुणस्थान तो जातिगुणस्थान सभी जीवों में पाया जाता है और सासादनगुणस्थान इनकी अपर्याप्त अवस्था में होता है। क्योंकि एकेन्द्रिय आदि की आयु का बंध हो जाने के बाद जब किसी को औपशमिक सम्यक्तव होता है तब उसका त्याग करता हुआ सासादनसम्यक्तव सहित एकेन्द्रिय आदि में जन्म लेता है तो अपर्याप्त अवस्था में कुछ काल के लिए दूसरा सासादनगुणस्थान भी पाया जाता है।<sup>१</sup>

पञ्चेन्द्रिय मार्गणा में सभी चौदह गुणस्थान संभव हैं। क्योंकि पञ्चेन्द्रियों में भनुष्यों का समावेश होने से, उनमें सभी भाव पाये जाते हैं—‘सञ्चाणि पर्णदिसु हृवंति’।

इस प्रकार गति मार्गणा के चार और इन्द्रियमार्गणा के पाँच, कुल नौ भेदों में गुणस्थान बतलाने के बाद अब काय आदि मार्गणाओं में गुणस्थानों का निर्देश करते हैं—

<sup>१</sup> पर्याप्त नामकर्म के उदय वाले लक्ष्यथर्थाप्ति कारण-अपर्याप्तिकों को करते अपर्याप्त अवस्था में सासादनगुणस्थान संभव है। लक्ष्य-अपर्याप्तिकों को मात्र मिथ्यात्वगुणस्थान होता है।

**सब्बेसु वि मिच्छो वाउतेडसुहुमतिग पमोत्तूण ।  
सासायणो उ सम्मो सञ्जिदुगे सेस सञ्जिम्म ॥२६॥**

**शब्दार्थ—**सब्बेसुवि—सभी जीवों में, मिच्छो—मिथ्यात्व, वाउतेड  
हुमतिगम—वायु, लेज और सूक्ष्मत्रिक को, पमोत्तूण—छोड़कर, सासायणो—  
सासादन, उ—और, सम्मो—सम्यक्त्व, (अविरतसम्यग्दृष्टि) सञ्जिदुगे—  
संज्ञीष्ठिक में, सेस—शेष, सञ्जिम्म—संज्ञी में ।

**गाथार्थ—**मिथ्यात्वगुणस्थान तो सभी जीवों में होता है ।  
सासादन गुणस्थान वायुकाय, लेजस्काय और सूक्ष्मत्रिक की छोड़-  
कर शेष सभी जीवों में तथा अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान  
संज्ञीष्ठिक में और शेष गुणस्थान संज्ञी जीवों में होते हैं ।

**विशेषार्थ—**कायमार्गण के लह भेदों में गुणस्थान बललाने के  
प्रारम्भ में एक सामान्य सूल कहा है—

**‘सब्बेसुवि मिच्छो’—**अर्थात् पृथ्वीकाय आदि त्रसपर्यन्त सभी जीवों  
में सामान्यतया मिथ्यादृष्टिगुणस्थान होता है ।

अब दूसरे खे अंकर चौदहवें गुणस्थान तथा के लेह गुणस्थानों  
का निर्देश करते हैं कि—वायुकायिक, लेजस्कायिक और सूक्ष्मत्रिक—सूक्ष्म,  
साधारण और अपर्याप्त नामकर्म के उदयबाले जीवों को छोड़कर  
शेष लिङ्घा—पर्याप्त और करण—अपर्याप्त जीवों एवं संज्ञीपर्याप्त जीवों  
में सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान पाया जाता है । क्योंकि लिङ्घा—अप-  
र्याप्त सूक्ष्म, साधारण नामकर्म के उदयबाले एकेन्द्रिय आदि में कोई  
जीव सासादन भावसहित आकर जन्म ग्रहण नहीं करता है ।

**‘सम्मो सञ्जिदुगे’—**संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त और पर्याप्त इन दोनों  
प्रकार के जीवों में अविरतसम्यग्दृष्टि नामक चौथा गुणस्थान होता है  
और इनसे शेष रहे गुणस्थान अर्थात् मिथ्यादृष्टि और देशविरति से लिकर  
अयोग्यिकेवल पर्याप्त गुणस्थान संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के  
होते हैं ।

अतएव प्रत्येक भार्गवा में यथावोच्य गुणस्थानों की योजना स्वदुष्टि  
दे कर लेना चाहिये । तथा—

जा बाथरो ता वैएसु तिसु वि तह तिसु य संपराएसु ।

लोभंभि जाव सुहुमी छल्लेसा जाव सम्मोत्ति ॥३०॥

**शब्दार्थ**—जा—जब तक, बाथरो—बादर, ता—तब तक, वैएसु—  
भेदों में, तिसु—तीन, वि—भी, तह—तथा, तिसु—तीनों में, य—और, संपराएसु—  
कथाओं में, लोभंभि—लोभ में, जाव—तक, सुहुमी—सूक्ष्मसंपराय, छल्लेसा—छह  
लेश्या, जाव—तक, सम्मोत्ति—अविरत सम्प्रदृष्टि ।

**गाथार्थ**—जब तक बादर कथायें हैं तब तक के गुणस्थान तीन  
वेद और तीन कथायों में होते हैं । अर्थात् तीन वेद और तीन  
कथायों में बादरसंपराय तक के गुणस्थान होते हैं । लोभ में सूक्ष्म  
संपराय तक के और छह लेश्याओं में अविरतसम्प्रदृष्टि तक के  
गुणस्थान पाये जाते हैं ।

**विशेषार्थ**—गाथा में वेद, कथाय और लेश्या मार्गणा के कमशः  
तीन, चार और छह भेदों में गुणस्थानों का निर्देश किया है ।

वेदमार्गणा के पुष्टि, स्त्री और नपुंसक तथा कथायमार्गणा के  
क्रोध, मान और भाया इन तीन-तीन भेदों में जब तक बादर कथायें  
(तीव्र शक्ति वाली कथायें) रहती हैं, वही तक के गुणस्थान समझ  
लेना चाहिए । बादर कथायों का उदय पहले मिथ्यात्व से लेकर  
अनिवृत्तिवादरसंपराय नामक नींवें गुणस्थान तक रहता है । अतः  
पहले से लेकर नींवें तक के नीं गुणस्थान वेदलिक और कथायलिक  
में समझना चाहिए ।<sup>१</sup>

१ वेद के तीन भेदों में नीं गुणस्थान दृश्यवेद की अपेक्षा नहीं फिल्मु आद्येद  
की अपेक्षा समझना चाहिये । क्योंकि वेद देशघासी है और वह सर्वधारी  
कथायों के क्षयोपकाम से प्राप्त गुण का घास नहीं करता है । परन्तु सर्वेन-

उदय की अपेक्षा इनमें गुणस्थानों के विचार का कारण यह है कि नीचे गुणस्थान के अंतिम समय में तीन वेद और क्रोधादि तीन संज्ञवलन कथाय या तो क्षीण हो जाती हैं या उपशांति, इस कारण आगे के गुणस्थानों में इनका उदय नहीं रहता है। परन्तु सत्ता की अपेक्षा इन छहों मार्गणाओं में गुणस्थानों का विचार किया जाये तो आरहवें उपशांतमोहगुणस्थान तक इनकी सत्ता पाये जाने से आरह गुणस्थान होते हैं।

इसी प्रकार 'लोभमि जाव सुहुमी'—लोभ (संज्ञवलन लोभ) का उदय भी दसवें सूधमसंपरायगुणस्थान तक रहता है। अतएव उदय की अपेक्षा इसमें दस गुणस्थान होते हैं और सत्ता तो आरहवें गुणस्थान तक जारी रहती है।

ब्रह्मादि छह लेखाओं में पहले में लेकर चौथे अविरतसम्यरहष्टि गुणस्थान तक जारी गुणस्थान होते हैं — 'छल्लीसा जाव सम्मीति'।

लेखा मार्गणा के छह भेदों में यह गुणस्थानों का कथन सामान्य से किया गया है। जिसका विशेष स्पष्टीकरण आगे की गाथा में करते हैं।

अपुञ्चाइसु सुक्का नतिथ अजोगिमिम तिन्नि सेसार्ण ।

मीसोएगो चउरो असंजयासंजया सेसा । ३१॥

प्रथमार्थ—अपुञ्चाइसु—अपुर्वकरणादि में, सुक्का—एकल लेखा, नतिथ—नहीं होती है, अजोगिमिम—अयोगि में, तिन्नि—तीन, सेसार्ण—शेष गुण-

धाती कथायों के उदय से युक्त उसका उदय चारित्र का धात करता है। वेद के तीव्र, मंद आदि असंख्य भेद होते हैं। उनमें के कितने ही यद भेद क्षेत्र के गुणस्थान में भी प्रतीयमान होते हैं किन्तु अस्यस्त मंद होने से गुण के बाधक नहीं होते हैं।

स्थानों में, भीतो—मिश्र में, एगो—एक, चउरो—चार, असंयत में, संयत—संयत में, सेसा—शेष गुणस्थान ।

**गाथार्थ**—अपूर्वकरणादि में शुक्ललेश्या होती है। अयोगि में एक भी लेश्या नहीं होती है और शेष गुणस्थानों में तीन लेश्यायें होती हैं। मिश्र में एक, असंयत में चार और शेष गुणस्थान संयत के होते हैं।

**विशेषार्थ**—गाथा के पूर्वार्थ में पृथक्-पृथक् लेश्याओं में गुणस्थानों का और उत्तरार्थ में मिश्रसम्यकत्व मार्गणा एवं संयम, असंयम के भेद से संयममार्गणा में गुणस्थानों का कथन किया है।

सर्वप्रथम लेश्या-भेदों में पृथक्स्थान छठताटे हैं जिन 'आगुब्बाइमु सुक्का'—अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान में लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान तक छह गुणस्थानों में शुक्ललेश्या होती है और 'नत्ति अजोगिमि'—अयोगिकेवली गुणस्थान में कोई भी लेश्या नहीं है। क्योंकि जहाँ तक योग हो वही तक लेश्या होती है, किन्तु इस गुणस्थान में योग का अभाव है।

शेष रहे देशविरत, प्रभत्संयत और अप्रभत्संयत में तेजी पद्म और शुक्ल ये तीन शुभ लेश्यायें होती हैं। देशविरतादि को ये तीन शुभ लेश्यायें देशविरति और सर्वविरति<sup>१</sup> को प्राप्त करने के समय होती हैं और उनकी प्राप्ति होने के बाद छह लेश्यायें संभव हैं। इसका कारण यह है कि देशविरत आदि ये तीन गुणस्थान सम्यकत्व-मूलक विरतिरूप हैं और इनकी प्राप्ति तेज, आदि शुभ लेश्याओं के समय होती है, कृष्णादि अशुभ लेश्याओं के समय नहीं होती है। ती

१ यही सर्वविरति शब्द से प्रभत्संयत नामक छठा गुणस्थान ग्रहण करता जाहिए। क्योंकि अप्रभत्संयत में तो सदैव तीन शुभ लेश्यायें होती हैं। इस प्रकार लेश्यमार्गणा के छह भेदों में छह गुणस्थान संभव हैं।

भी प्राप्ति हो जाने के बाद परिणामशुद्धि में कुछ न्यूनता आने पर अशुभ लेश्यायें भी आ जाती हैं।<sup>१</sup>

लेकिन कृष्णादि छहों लेश्याओं में पृथक्-पृथक् गुणस्थानों का विचार किया जाये तो कृष्ण, नील, काषाय इन तीन लेश्याओं में आदि के छह गुणस्थान होते हैं। इनमें से पहले चार गुणस्थान ऐसे हैं, जिन की प्राप्ति के समय और प्राप्ति के बाद भी उक्त तीन लेश्यायें होती हैं और देशविरत, प्रमत्तविरत ये दो गुणस्थान सम्यक्त्वमूलक होने से प्राप्ति के समय शुभ लेश्यायें होती हैं किन्तु तत्पश्चात् परिणामिक शुद्धि में न्यूनता के कारण अशुभलेश्या भी आने से पांचवीं और छठा गुणस्थान माने जाते हैं।<sup>२</sup>

तेजोलेश्या और पद्मलेश्या में आदि के सात गुणस्थान होते हैं। इसका कारण यह है कि ये दोनों लेश्यायें सातों गुणस्थानों की प्राप्त करने के समय और प्राप्ति के पश्चात् भी रहती हैं।

शुक्ललेश्या में मिथ्यात्व से लेकर सयोगिकेवली पर्यन्त तेरह गुणस्थान होते हैं। क्योंकि चौदहवें गुणस्थान में थोग न रहने से लेश्या का अभाव है।

१ (क) सम्मलयुक्त भव्यासु लहड़ि सुहासु तीसु य चरित ।

पुच्चपद्मिकन्नओ पुण बनवरीए उ लेसाए ॥

—अदृ० निर्मुक्ति च८२

..... सम्यक्त्व की प्राप्ति सब लेश्याओं में होती है, किन्तु चारित्र की प्राप्ति पिछली तीन लेश्याओं में होती है और चारित्र प्राप्त होने के बाद छह में से कोई लेश्या हो सकती है।

(ख) सम्यक्त्व देशविरति मर्वदितीनप्रतिपत्ति कालेषु गुभलेश्याव्यभेद, तदुलरकानं तु भवी अपि लेश्यः पराकर्त्तव्येऽपीति ।

..... यच्चसंवह, मलय टीका पृ० ४०

२ कहीं-कहीं कृष्णादि तीन अशुभ लेश्याओं में जो पहले चार गुणस्थान माने जाते हैं, वे गुणस्थानों की प्राप्ति की जेवा से समझना चाहिये कि उक्त-लेश्याओं के समय आदि के चार गुणस्थानों के सिवाय अन्य कोई गुणस्थान प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

इस प्रकार विशेषता से लेश्याओं में गुणस्थानों का कथन करने के पश्चात् अब शेष रही मार्गणाओं के भेदों में गुणस्थान बतलाते हैं कि—

मनोयोग, बचनयोग और काययोग मार्गणाओं में अयोगिकेवली को छोड़कर पहले मिथ्यात्व से लेकर सयोगिकेवली पर्यन्त तेरह गुणस्थान होते हैं।<sup>१</sup> क्योंकि औद्धवें सयोगिकेवलिगुणस्थान में किसी प्रकार का योग न रहने से योग मार्गणा में आदि में तेरह गुणस्थान माने जाते हैं।

ज्ञानमार्गणा के भेद मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान मार्गणाओं में चौथे अविरतसम्यग्हटित से लेकर बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान पर्यन्त नीं गुणस्थान होते हैं। क्षौंकि सम्पत्तन-प्राप्ति के पूर्व तीन गुणस्थानों में मति आदि अज्ञान रूप होते हैं और अंतिम दो गुणस्थानों में क्षायिक उपयोग होने से इनका अभाव हो जाता है। इसीलिये मति आदि तीन ज्ञानों में अविरतसम्यग्हटित आदि नीं गुणस्थान माने जाते हैं।

१ मनोयोग आदि में गुणस्थानों का उल्लं कथन सामान्य से किया है। उनके अवान्सर भेदों में गुणस्थान इस प्रकार ज्ञानमा जाहिये—

१. सत्यमन, असत्यमृद्घामन, सत्यक्षमन, असत्यामृद्घामन, औदारिक काययोग इन पाँच योगों में मिथ्यात्व आदि सयोगिकेवली पर्यन्त तेरह गुणस्थान हैं।
२. असत्यमन, मिथ्य मन, असत्यक्षमन, मिथ्यक्षमन इन चार में आदि के बारह गुणस्थान होते हैं।
३. औदारिकमिथ्य और कामेण काययोग में पहला, दूसरा, चौथा और तेरहवां ये चार गुणस्थान होते हैं।
४. वैक्षिय काययोग में आदि के साल और वैक्षियमिथ्य काययोग में पहला, दूसरा, चौथा, पाँचवां और छठा ये पाँच गुणस्थान हैं।
५. आहारक काययोग में छठा, सातवां ये दो और आहारकमिथ्य काययोग में सिर्फ़ छठा गुणस्थान होता है।

मनपर्याय आनंदार्थिका में प्रभुत्तसंयत भानक छठे से लेकर क्षीण-मोह पर्यन्त सात गुणस्थान हैं। यद्यपि मनपर्यायज्ञान की प्राप्ति तो सातवें अप्रभुत्तसंयत गुणस्थान में होती है, किन्तु मनपर्यायज्ञानी प्रभुत्तसंयत से लेकर क्षीणमोह गुणस्थान तक पाये जाने से सात गुणस्थान माने हैं।<sup>१</sup>

**केवलद्विक**—केवलज्ञान और केवलदर्शन इन दो मार्गणालों में सयोगिकेवली और अयोगिकेवली ये दो गुणस्थान होते हैं। क्योंकि केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों क्षायिक भाव हैं और क्षायिक भाव वे कहलाते हैं, जो तदाकरणकर्म के निःशेषरूपेण क्षय होने से सदा-सर्वदा के लिये निरावरण होकर एकरूप रहते हैं। केवलज्ञानादरण और केवलदर्शनादरण का क्षय बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान के चरम समय में होता है, तब तेरहवें गुणस्थान की प्राप्ति होती है। इसीलिए केवलद्विक में सयोगि और अयोगि केवली अंतिम दो गुणस्थान माने जाते हैं।

**अज्ञानद्विक**—भृत्यज्ञान, श्रुतज्ञान और विभिन्नज्ञान आनंदार्थिका के इन तीन भेदों में मिथ्यात्व, सासादन और मिथ्य ये तीन गुणस्थान होते हैं। लेकिन सिद्धान्त की दृष्टि से विचार किया जाये तो वहाँ सासादन को ज्ञानरूप माना है। अतः अज्ञानद्विक में पहला मिथ्यात्व गुणस्थान बतलाया है। यह तीन गुणस्थान मानना कार्मग्रंथिकों के

१ देव और भारकों को स्वभावगत विशेषता से तथा तिर्यक एकदेश आरिति का पालन करने वाले होने से मनपर्यायज्ञान को प्राप्त नहीं करते हैं। मनुष्यों में भी सर्वविश्वि का पालन करने पर मनपर्यायज्ञान सभी को नहीं होता है किन्तु उन्हीं को पाया जाता है जो कर्मभूमिज, संक्षी, पञ्चेन्द्रिय, पर्याप्त, गर्वज, सम्यग्विष्ट, सर्वविश्वि और प्रब्रह्मज्ञान आरिति वाले हैं।

मत से है और इसमें भी सिन्हता है। कुछ एक कार्मयंत्रिक आचार्यों ने आदि के दो गुणस्थान और कुछ एक ने तीन गुणस्थान माने हैं। एतद्विषयक दोनों का हस्तिकोण यह है—

अज्ञानत्रिक में आदि के दो गुणस्थान मानने वाले आचार्यों का मत है कि यद्यपि तीसरे मिश्रगुणस्थान के समय शुद्ध सम्यकत्व - यथार्थविषय-प्रतिपत्ति न हो किन्तु उस गुणस्थान में मिश्रहस्ति होने से कुछ न कुछ यथार्थ ज्ञान की मात्रा रहती है। क्योंकि मिश्रहस्ति में जब मिश्रात्मत्व का उदय अधिक प्रमाण में हो तब तो अज्ञानांश अधिक और ज्ञानांश अल्प रहता है, किन्तु जब मिश्रात्मत्व का उदय संद हो और सम्यकत्व पुरुगलों का उदय तीव्र रहता है तब ज्ञान की मात्रा अधिक और अज्ञान की मात्रा अल्प होती है। इस प्रकार मिश्रहस्ति की कैसी भी स्थिति हो, किन्तु उसमें अल्पात्मिक प्रमाण में ज्ञान संभव होने से उस समय के ज्ञान को अज्ञान न मानकर ज्ञान मानना उचित है। अतः अज्ञानत्रिक में आदि के दो गुणस्थान मानना चाहिये।<sup>१</sup>

अज्ञानत्रिक में आदि के तीन गुणस्थान मानने वाले आचार्यों का मत्त्वात्म है—

तीसरे गुणस्थान के समय यद्यपि अज्ञान को ज्ञान मिश्रित कहा है, लेकिन मिश्रज्ञान को ज्ञान मानना उचित नहीं है, अज्ञान ही मानना चाहिये। क्योंकि शुद्ध सम्यकत्वविहीन सभी ज्ञान अज्ञान ही है। यदि सम्यकत्वांश के कारण तीसरे गुणस्थान में ज्ञान को अज्ञान न मानकर ज्ञान मान लिया जाये तो दूसरे गुणस्थान में भी सम्यकत्व का अंश होने से ज्ञान की अज्ञान न मानकर ज्ञान मानना पड़ेगा। लेकिन यह इष्ट नहीं है। अज्ञानत्रिक में दो गुणस्थान मानने वाले भी दूसरे गुणस्थान में पर्ति आदि को अज्ञान मानते हैं। इसलिये

१ दिगम्बर आचार्यों ने अज्ञानत्रिक में पहले दो गुणस्थान माने हैं।

सासादन की तरह यिथ मुण्डस्थान में भी भृति आदि को अज्ञान मान-  
कर अज्ञानविक में तीन गुणस्थान मानना चाहिये ।

यही अज्ञानविक में तीन गुणस्थान मानने के सत को स्वीकार  
किया गया है ।

दर्शनमार्गण के तीन भेदों—चक्र, अचक्र और अवधिदर्शन में  
पहले भित्त्यात्म से लेकर क्षीणमोह पर्यन्त बारह गुणस्थान होते हैं ।  
वे इस अभिप्राय से माने हैं कि वे तीनों दर्शन क्षायोपशमिक हैं और  
क्षायोपशमिक भाव बारहबैं गुणस्थान तक पाये जाते हैं और क्षायिक  
भावों के उत्पन्न होने पर क्षायोपशमिक भावों का अभाव हो जाता  
है । उन दोनों का साहचर्य नहीं रहता है ।

सिद्धान्त में अवधिज्ञान और अवधिदर्शन का भेद विवक्षा से  
वर्णन कर अवधिदर्शन में पहले से लेकर बारहबैं पर्यन्त बारह गुण-  
स्थान माने हैं अर्थात् अवधिज्ञानी की तरह विभंगज्ञानी को भी अवधि-  
दर्शन माना है । तत् सम्बन्धी आगम पाठ का सारांश इस प्रकार है—

हे भगवन् ! अवधिदर्शन रूप अनाकार उपयोग वाले जीव ज्ञानी  
हैं या अज्ञानी ?

गौतम ! ज्ञानी भी हैं और अज्ञानी भी हैं । जो ज्ञानी  
हैं उनमें कोई लोन ज्ञान वाले और कोई घार ज्ञान वाले हैं ।  
जो अज्ञानी हैं वे भृतिअज्ञानी, श्रुत-अज्ञानी और विभंगज्ञानी समझना  
चाहिए (भगवती ८/२) ।

सिद्धान्त के उक्त कथन का आशय यह है कि विभंगज्ञान और  
अवधिदर्शन दोनों में भेद है, अभेद नहीं है । इसी कारण विभंगज्ञानी  
में अवधिदर्शन माना जाता है । सिद्धान्त के भतानुसार पहले भित्त्यात्म  
गुणस्थान में विभंगज्ञान सम्भव है, दूसरे आदि में नहीं । इसलिए  
दूसरे आदि ग्यारह गुणस्थानों में अवधिज्ञान के साथ और पहले  
गुणस्थान में विभंगज्ञान के साथ अवधिदर्शन का साहचर्य मानकर  
पहले से बारह गुणस्थान मानना चाहिए । क्योंकि अवधिज्ञानी

और विभंगज्ञानी के दर्शन में अनाकारता का अंश समान है, इसीलिये विभंगज्ञानी के दर्शन का विभंगदर्शन ऐसा अलंग नाम से रखकर एक अवधिदर्शन रखा है।

इसी सिद्धान्त पक्ष को स्वीकार करके यह अवधिदर्शन में आदि के बारह गुणस्थान मानते हैं। लेकिन कुछ जान्मविद्वित आचार्य शृङ्खले तीन गुणस्थानों में अवधिदर्शन नहीं मानकर चौथे से बारहवें तक नी गुणस्थानों में और कुछ विद्वान् तीसरे से बारहवें तक दस गुणस्थानों मानते हैं। इस भत्तभिन्नता का कारण है—पहले तीन गुणस्थानों में और आदि के दो गुणस्थानों में अज्ञान मानना। यद्यपि ये दोनों प्रकार के कार्मश्रविक आचार्य अवधिज्ञान से अवधिदर्शन को अलग मानते हैं परन्तु विभंगज्ञान से अवधिदर्शन का उपयोग अलग नहीं मानते हैं। इसके लिए उनकी युक्ति है कि जैसे विभंगज्ञान से विषय का यथार्थ ज्ञान नहीं होता है, उसी प्रकार भिन्नात्मक अवधिदर्शन से भी नहीं होता है। इस अधेद विद्वा के कारण पहले भत्त के अनुसार चौथे से बारह तक और दूसरे भत्त के अनुसार तीसरे से बारह गुणस्थान तक अवधिदर्शन माना जाता है।<sup>१</sup>

मिथ्ससम्यक्त्वमार्गणा और देशविरतचारित्रमार्गणा में अपने-अपने नाम बाला एक-एक गुणस्थान है। क्योंकि तीसरा गुणस्थान मिथ्सहिटरूप और पाँचवाँ देशविरतरूप है। अविरति मार्गणा में आदि के बार गुणस्थान—मिथ्यात्व, साकादन, मिथ्र और अविरत-

१ चौथे से लेकर बारहवें तक भी गुणस्थानों में अवधिदर्शन मानने का पक्ष प्राचीन चतुर्थ कर्मश्रव्य गाथा २६ तथा सर्वार्थसिद्धि टीका में निर्दिष्ट है—‘अवधिदर्शने असंवत्सम्यग्हट्क्षादीन क्षीणकषायन्तानि।’ तथा तीसरे से बारहवें तक दस गुणस्थानों में अवधिदर्शन मानने का पक्ष प्राचीन चतुर्थ कर्मश्रव्य गाथा ७०-७१ में बताया है। गोम्मठसार जीवकांड में भी दोनों पक्षों का संकेत गाथा ६५१ और ७०५ में है।

**सुम्याद्विष्ट**—होते हैं। क्योंकि आगे के गुणस्थान पौच्छें आदि सब गुणस्थान विरतिरूप हैं।

अब संयम मार्गणा के सामाधिक आदि यथात्प्रथात् पर्यन्त पौच्छेदों में गुणस्थान बतलाते हैं। सामान्य नियम यह है कि इनका पालन संयत मुनि करते हैं और उनकी प्राप्ति सर्वसंयम सापेक्ष है परन्तु ऐदों की अपेक्षा उनमें पाये जाने वाले गुणस्थान इस प्रकार समझना चाहिए—

सामाधिक और छेदोपस्थापनीय चारित्र मार्गणा में छठे प्रमत्त-संयत से लेकर नीवें अनिवृत्तिबादर गुणस्थान तक चार गुणस्थान हैं। क्योंकि ये सरायसंयम होने ने ऊपर के गुणस्थानों में नहीं पाये जाते हैं। परिहारविशुद्धिचारित्रमार्गणा में छठा और सातवाँ ये दो गुणस्थान हैं। इसका कारण यह है कि परिहारविशुद्धि संयम के रहने पर श्रेणि आरोहण नहीं किया जा सकता है और श्रेणि का आरोहण आठवें गुणस्थान से प्रारम्भ होता है। इसलिये इसमें छठा, सातवाँ गुणस्थान समझना चाहिये। सूक्ष्मसंपराय चारित्र में स्वनाम बाला एक सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान पाया जाता है। क्योंकि दसवाँ गुणस्थान सूक्ष्मसंपराय है। इसीलिये इसमें अपने नाम बाला एक गुणस्थान कहा है। यथात्प्रथातसंयममार्गणा में अंतिम चार गुणस्थान होते हैं। क्योंकि मोहनीय कर्म का उदयाभाव होने पर यह चारित्र प्राप्त होता होता है और मोहनीय कर्म का उदयाभाव यारहवें उपशात्तमोह गुणस्थान से लेकर चौदहवें अयोग्यिकेवलिगुणस्थान तक रहने से यथात्प्रथात चारित्र में अंतिम चार गुणस्थान माने जाते हैं। तथा—

अबभवितएसु पढमं सञ्चाणियरेसु दो असन्नीसु ।

सन्नीसु बार केवलि नो सन्नी नो असणी वि ॥३२॥

**पात्रार्थ**—अवधिकरण—अभ्यर्थी में, पढम—पहला, सञ्चाणियरेसु—इतर (भज्यी) में सभी, दो—दो, असन्नीसु—असंज्ञियों में, सन्नीसु—

संज्ञियों में, वार—वार, केशलि—लेनकर्ता, लोकस्थी, जो संज्ञी, जो—असंज्ञी—जो असंज्ञी, जो—भी ।

**गाथार्थ**—अभव्यों में पहला, भव्यों में सभी, असंज्ञियों में दो और संज्ञियों में बारह गुणस्थान होते हैं । केवलजानी भी संज्ञी नो असंज्ञी हैं ।

**विशेषर्थ**—गाथा में भव्य और संज्ञी मार्गणा के भेदों में गुणस्थान बतलाये हैं ।

भव्य मार्गणा के दो भेद हैं—भव्य और अभव्य । इनमें से पहले अभव्य भेद में गुणस्थानों को बताया है कि 'अद्भवितेसु पहम'—अभव्यों में पहला मिथ्यात्व गुणस्थान होता है । अभव्यों में पहला मिथ्यात्व गुणस्थान इसलिये माना जाता है कि वे स्वभावतः ही सम्यक्त्व-प्राप्ति की योग्यता वाले नहीं हैं और सम्यक्त्व की प्राप्ति के बिना दूसरा आदि आगे के गुणस्थान संभव नहीं हैं, लेकिन 'सञ्चाणियरेसु'—अभव्य से इतर—प्रतिपक्षी अर्थात् भव्य मार्गणा में सभी प्रकार के परिणाम संभव होने से सभी गुणस्थान—पहले मिथ्यात्व के लेकर अयोगि-केवली पर्यन्त चौदह गुणस्थान संभव हैं ।

संज्ञी मार्गणा के संज्ञी और असंज्ञी इन दो भेदों में से असंज्ञी में आदि के दो गुणस्थान होते हैं—'दो असन्नीसु' । इसका कारण यह है कि पहला मिथ्यात्वगुणस्थान तो सामान्यतः सभी असंज्ञी जीवों को होता है और दूसरा सासादनगुणस्थान लक्ष्य-पर्याप्ति को करण-अपर्याप्ति अवस्था में पाया जाता है । क्योंकि लक्ष्य-अपर्याप्ति एकेन्द्रिय आदि में कीई जीव सासादन भाव सहित आकर उत्पन्न नहीं होता है । इसी-लिये असंज्ञी मार्गणा में पहला, दूसरा ये दो गुणस्थान माने जाते हैं ।

संज्ञी मार्गणा में अंतिम दो—सयोगिकेवली और अयोगिकेवली गुणस्थानों को छोड़कर शेष पहले से बारह तक बारह गुणस्थान होते हैं—'सन्नीसु बार' । क्योंकि सयोगिकेवली और अयोगिकेवली सभी नहीं

कहलाते हैं परन्तु द्रव्यमन का उनके साथ सम्बन्ध है हसलिये असंजी भी नहीं कहा जा सकता है। इसी स्थिति को स्पष्ट करने के लिये श्रध्यकार आचार्य ने गाथा में पद दिया है—‘केवलि नोसन्नी नो असन्नी दि’। इसी मंतव्य का सर्वथन सप्ततिकाचूणि में भी होता है—

‘मणकरण केवलिणो दि अतिथि तेण सन्तिणो दुच्चंति’। मणोविज्ञाणं पदच्छते सन्तिणो न हृचंति ति ।’

अथात् केवली भगवान के मनकरण—द्रव्यमन है, जिससे वे संजी कहलाते हैं, किन्तु मनोविज्ञान की अपेक्षा वे संजी नहीं हैं।

केवली भगवान को नोसंजी, नोअसंजी कहने के उक्त कथन का सारांश यह है कि मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके उनके द्वारा विचार करती हुई आत्माएँ संजी कहलाती हैं। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में केवलज्ञान होने से मनोवर्गणा द्वारा विचारकर्तृत्व नहीं है परन्तु केवलज्ञान के द्वारा पदार्थों को जानकर अन्य कोश में रहे हुए मनपर्यायज्ञानी अथवा अनुशार विमानवासी देवों का उत्तार देने के लिये मनोवर्गणाओं को ग्रहण करते हैं, जिससे उनमें द्रव्यमन है भावमन नहीं है। भावमन नहीं होने के कारण संजी भी नहीं कहा जा सकता है, किन्तु द्रव्यमन होने से संजी भी कहा जायेगा। सारांश यह है कि बारहवें गुणस्थान तक मनोवर्गणाओं का ग्रहण और उनके द्वारा मनन परिणाम भी होता है, जिससे वे संजी कहलाते हैं। इसीलिये संजीभार्गणा में आदि के बारह गुणस्थान माने गये हैं।<sup>१</sup> तथा—

अपमत्तु वसन्त अजोगि जाव सब्वेदि अविरयाइया ।

वेयग-ज्वराम-खाइयदिट्टी कमसो मुणोयव्वा ॥३३॥

<sup>१</sup> शूतपूर्व प्रशापननय की अपेक्षा केवलित्रिक गुणस्थानों को संजी मानते पर संजीभार्गणा में चौदह गुणस्थान भी माने जा सकते हैं।

**शास्त्रार्थ**—अप्रभृत—अप्रभृतसंयत, उपभृत—उपशांतमोह, अजोगि—अयोगिकेवली, जात—तक, सव्वेदि—मधी, अविरथाइया—अविरत से प्रारम्भ करके, वेदक—उपभृत—जायद्विष्टी—वेदक (क्षायोपशमिक) उपशम और क्षायिक सम्बन्धित में, कमसी—कम से, मुखेयत्वा—जानना चाहिये।

**गाथार्थ**—अविरत में प्रारम्भ करके अप्रभृतसंयत, उपशांतमोह और अयोगिकेवली तक के गुणस्थान क्रम में वेदक, उपभृत और क्षायिक सम्बन्धित मार्गजाओं में जानना चाहिये।

**दिशेषार्थ**—गाथा में सम्यक्त्वमार्गणा के मुख्य तीन भेदों में गुणस्थान बतलाये हैं और उनमें 'अविरथाइया' अविरत में प्रारम्भ करके अनुक्रम से अप्रभृतसंयत, उपशांतमोह और अयोगिकेवली गुणस्थानों का सम्बन्ध जोड़ने का संकेत किया है। जिसका स्पष्टीकरण के दौरान विवेचन इस प्रकार है—

'अविरथाइया'—अथत् सम्यक्त्व-प्राप्ति की प्रारम्भिक भूमिका अविरतसम्बन्धित नामक चौथा गुणस्थान है। इसी बात का संकेत करने के लिये ग्रंथकार आचार्य ने वेदक सम्यक्त्व आदि में गुणस्थानों की संख्या की गणना चौथे अविरतसम्यक्त्वमिति गुणस्थान से प्रारम्भ की है कि वेदक-सम्यक्त्व यानि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में चौथे अविरतसम्यक्त्वमिति गुणस्थान से लेकर सातवें अप्रभृतसंयत पर्यन्त चार गुणस्थान होते हैं। क्योंकि यह सम्यक्त्व तभी होता है, जब सम्यक्त्वमोहनीय का उदय हो और श्रेणि-आरोहण के पूर्व तक रहता है। श्रेणि का प्रारम्भ आठवें गुणस्थान से होता है और सम्यक्त्वमोहनीय का उदय उससे पूर्व के गुणस्थान—अप्रभृतसंयत तक रहता है। इसी कारण वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्व में चौथे से सातवें तक चार गुणस्थान माने जाते हैं।

औपशमिक सम्यक्त्व में चौथे से लेकर चारहवें उपशांतमोह गुणस्थान पर्यन्त आठ गुणस्थान होते हैं। इनमें चौथा आदि चार गुण-

स्थान प्रथमोपशम सम्यकत्व की प्राप्ति के समय और आठवें से लेकर ग्यारहवें तक चार गुणस्थान उपशम श्रीणि के समय होते हैं। इसी कारण इन दोनों प्रकार के औपशमिक सम्यकत्व के कुल मिलाकर आठ गुणस्थान औपशमिक सम्यकत्व में माने जाते हैं।<sup>१</sup>

क्षायिक सम्यकत्व में अविरतसम्यग्रहणि से लेकर अयोग्यकेवली पर्यन्त ग्यारह गुणस्थान होते हैं। क्योंकि क्षायिक सम्यकत्व चौथे आदि गुणस्थान में प्राप्त होता है और प्राप्ति के बाद सदा के लिये रहता है। इसीलिये इसमें चौथे अविरतसम्यग्रहणि से लेकर चौदहवें अयोग्यकेवली पर्यन्त ग्यारह गुणस्थान माने याये हैं और गुणस्थानातीत सिद्धों में सौ क्षायिक सम्यकत्व ही पाया जाता है। मार्गणास्थानों में गुणस्थानों का निरूपण करने से यहाँ उसका पृथक सेवकत्व समझना चाहिये। तथा—

सम्यकत्वमार्गणा के उक्त भेदों के अतिरिक्त जिए रहे मिथ्याहृष्टि, सासादनसम्यकत्व और मिश्रसम्यकत्व भेदों में अपने-अपने नाम वाला एक-एक गुणस्थान होता है। क्योंकि पहला गुणस्थान मिथ्यात्व रूप, दूसरा सासादन रूप और तीसरा मिश्रहृष्टि रूप है। इसीलिए मिथ्यात्व आदि तीनों में अपने नामवाला एक-एक गुणस्थान बताया है। शेष रहे मार्गणास्थान भेद आहारक में गुणस्थान इस प्रकार है—

आहारगेसु तेरस पञ्च अणाहारगेसु वि भवति ।

भणिया जोगुवयोगाणमगणा बंधगे भणिमो ॥३४॥

१ दिग्भवर साहित्य में औपशमिक सम्यकत्व के प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम यह दो नेत्र करके पृथक-पृथक गुणस्थान इस प्रकार बतलाये हैं—

अथदादो पठमुवममवेदगसमस्तकुर्ण अथपमसोऽसि ।

गो. जीवकांड गा. ६५४

विदियुवसमस्तमत्तं अविरदसम्मादि संतमोहोत्ति ।

—गो. जीवकांड गा. ६५५

**शब्दार्थ**—आहारगेसु—आहारकों में, सेरस—तेरह, पञ्च—पाँच, अनाहारगेसु—अनाहारकों में, वि—भी, अवृत्ति—लौटे हैं, इतिहास—कथा, जीवदृष्टयोगाश—योगोपयोगों की, मन्मात्र—मार्गणा, अंशगे—बंधक जीवों का, अग्निमो—वर्णन करूँगा।

**गाथार्थ**—आहारकों में तेरह और अनाहारकों में पाँच गुणस्थान होते हैं। इस प्रकार से योगोपयोगमार्गणा का कथन किया, अब (कर्म) बंधक जीवों का वर्णन करूँगा।

**विशेषार्थ**—गाथा में अन्तिम मार्गणा आहार के दो भेदों में गुणस्थानों का निर्देश करके अधिकार समाप्ति एवं क्रम-प्राप्त दूसरे बंधक अधिकार को प्रारम्भ करने का संकेत किया है।

आहारमार्गणा के दो भेद हैं—आहारक और अनाहारक। इनमें से आहारक जीवों के अयोगिकेवलिगुणस्थान को छोड़कर शेष पहले मिथ्यात्व से लेकर सयोगिकेवली पर्यन्त तेरह गुणस्थान होते हैं—‘आहारगेसु तेरह’। क्योंकि अयोगिकेवलिगुणस्थान में किसी प्रकार का आहार ग्रहण नहीं किये जाने से तेरह गुणस्थान ही सम्भव हैं। तथा ‘पञ्च अणाहारगे’ अनाहारकमार्गणा में पाँच गुणस्थान हैं। वे इस प्रकार—

पहला मिथ्यात्व, दूसरा सासादन, चौथा अविरतसम्यग्दृष्टि और अंतिम दो—अयोगिकेवली, अयोगिकेवली गुणस्थान। इनमें से पहला-दूसरा और चौथा गुणस्थान तो विग्रहमति की अनाहारक-कालीन अवस्था की अपेक्षा और तेरहवाँ गुणस्थान केवलिसमुद्घात की तीसरे-चौथे और पाँचवें समय में होने वाली अनाहारक दृष्टि की अपेक्षा और चौदहवाँ गुणस्थान योगनिरोधजन्य अनाहारकत्व की अपेक्षा जानना चाहिये। चौदहवें गुणस्थान में योग का अभाव हो जाने से औदारिक आदि शरीरों के पोषक पुराजों का ग्रहण न

करने और उन-उन पुत्रों का आगमन रुक जाने से अनाहार-  
कृत्व है।

इस प्रकार से मार्गजास्थान भेदों में गुणस्थानों का विधान जानना चाहिये। सरलता से समझने के लिये प्रारूप परिशिष्ट में देखिये।

उक्त प्रकार से योग्योपयोगभार्गणा से सम्बन्धित विषयों का वर्णन समाप्त होने पर ग्रंथकार आचार्य ने उपसंहार करने के लिये संकेत दिया है—‘भणिधा जोगुवयोगाणभग्णा’ अर्थात् योग्योपयोगभार्गणा अधिकार का तो कथन पूर्ण हुआ अब क्रम-प्राप्त बंधक अधिकार की गणित्य करते हैं—‘वृष्ट्यं भणितो’;

इस प्रकार से योगोपयोगार्था अधिकार पूर्ण हुआ ।

## परिशिष्ट १

### योगोदयोगमार्गशा-अधिकार की मूल गाथायें

नमित्तं जिणं वीरं समं दुहुकम्भनिदुवर्गे ।  
 वोच्छामि पंचसंग्रहमेय महत्त्वं जहत्त्वं च ॥१॥  
 सथगाइ पंच गंथा जहारिहं जेण एत्थं संखिता ।  
 दाराणि पंच अहवा तेण जहत्त्वाभिहाणमिर्ण ॥२॥  
 एत्थं य जोगृहयोगमाणमगणा बंधगा य वस्तव्वा ।  
 तहं बंधियव्व य बंधहेयदो बंधविहिणो य ॥३॥  
 सञ्चमसञ्चर्च उभयं असञ्चमोसं मणोवर्ह अटु ।  
 वेउव्वाहारोरालमिस्ससुद्धाणि कम्मदर्ग ॥४॥  
 अग्नाणतिर्ग नाणाभि पंच हङ्ग अटुहा उ सागरो ।  
 अनक्खुदंसणाइचउहुवओगो अणागरो ॥५॥  
 विगलासभ्रोपजज्ञतएसु लब्धति कायबह्योगा ।  
 सञ्चेवि सञ्चिपज्जत्तएसु सेसेसु काओगो ॥६॥  
 लद्धीए करणेहि य ओरालियभीसगो अपज्जते ।  
 पज्जते ओरालो वेउव्विय भीसगो वा वि ॥७॥  
 कम्मुरलद्यमपज्जे वेउच्चिदुर्गं च सञ्चिलद्विले ।  
 पज्जेसु उरलोच्चिय वा ए वेउच्चियदुर्गं च ॥८॥  
 महसुयअग्नाण अचक्खु दंसणेककारसेसु ठाणेसु ।  
 पज्जत्तष्वउपर्णिदिसु सञ्चक्खु सञ्चीसु बारसदि ॥९॥  
 इग्निविगलथावरेसु न मणो दो भेय केवलदुर्गम्भि ।  
 इग्निधावरे न वाया विगलेसु असञ्चमोसेव ॥१०॥

सच्चाव असच्चमोसा दो दोमुवि केवलेसु भासाओ ।  
 अतरगह केवलिएसु कामयश्चत्त तं विवक्षाए ॥१०॥  
 मणनाणविभगेसु भीसं उरलपि नारयसुरेसु ।  
 केवलयावरविगले वेउविदुर्गं न संभवइ ॥११॥  
 आहारदुर्गं जायह चोहसपुत्रिस्तस इह विसेसणओ ।  
 मणुयगइपञ्चेदियमाइएसु समईए जोएजा ॥१२॥  
 मणुयगईए बारस मणकेवलवज्जिथा नवजासु ।  
 इगिथावरेसु तिनि उच्च विगले बार तससगले ॥१३॥  
 जोए वेए सभी आहारगभव्यसुकलेसासु ।  
 बारस संजमसंमि नव दस लेसाकसाएसु ॥१४॥  
 सम्मतकारणेहि मिछुनिमित्ता न होति उवबोगा ।  
 केवणदुगेण सेसा गतेव अचक्कुचक्कूसु ॥१५॥  
 जोगाहारदुर्गुणा मिछु लासायणे अविरए य ।  
 अपुष्वाहसु पंचमु नव औरालो मणवई य ॥१६॥  
 वेउविविजुया ते भीसे साहारणे अपमत्ते ।  
 देसे दुविउविविजुया आहारदुरोण य पमत्ते ॥१७॥  
 अज्जोगी अज्जोगी सत्त सजोगमि होति जोगा उ ।  
 दो दो मणवइजोगा उरालदुर्गं सकम्महर्ग ॥१८॥  
 अचक्कुचवलुदंसणमध्नाणतिर्गं च मिछुसासाणे ।  
 विरयाविरए सम्मे नाणतिगं दंसणतिर्गं च ॥१९॥  
 मिस्समि वामिस्सं मणनाणजुयं पमत्तपुष्वाणं ।  
 केवलियनाणदंसण उवबोगा अज्जोगिजोगीसु ॥२०॥  
 गह इदिए य काए जोए वेए कसाय नाणै य ।  
 संजमदंसणलेसा भवसभिसम्म आहारे ॥२१॥  
 तिरियगइए चोहस नारयसुरनरगईसु दो ठाणा ।  
 एर्गदिएसु चउरो विगलपणिदीसु छचउरो ॥२२॥

दस तसकाए चउ चउ थावरकाएसु जीवठाणाई ।  
 चत्तारि गङ्गु दोळि ॥ कहयलहिमाजनेसु कमा ॥२३॥  
 चउ चउ पुमित्थिवेए सब्बाणि नपुससंपराएसु ।  
 किष्हाइतिगाहारगमच्छाभव्वेय मिच्छे य ॥२४॥  
 लेउलेसाइसु दोळि संजमे एकमटुमणहारे ।  
 सण्णी सम्भमि य दोळि सेसयाह असनिमि ॥२५॥  
 दुमु ताणदंसणाइं सब्बे अणाणिणो य विन्नेया ।  
 सश्रिम्मि अयोगि अवेह एवमाइ मुण्यव्वं ॥२६॥  
 दो मझसुयओहिदुगे एकं मणमाणकेवलविभगे ।  
 छ तिगं ब चक्खुदंसण चउदस ठाणाणि सेस तिगे ॥२७॥  
 सुरनारएसु चत्तारि पंच तिरिएसु चोदस मणूसे ।  
 इगि विगलेसु चुयलं सब्बाणि पणिदिसु हवति ॥२८॥  
 सब्बेसुवि मिच्छो वाउतेउमुहुमतिगं पमोत्तूषं ।  
 सासायणो उ सम्मो सञ्चिदुगे सेस सश्रिम्मि ॥२९॥  
 जा आयरो ता बेएसु तिसु वि तह तिसु य संपराएसु ।  
 लोभमि जाव सुहुमो छलेसा जाव सम्मोत्ति ॥३०॥  
 अपुच्छाइसु सुकका नलिथ अजोगिम्मि तिशि सेसाणं ।  
 मीसो एगो चउरो असजया संजया सेसा ॥३१॥  
 अभज्विएसु पछमं सब्बाणियरेसु दो असघीसु ।  
 सक्षीसु बार केवलि नो सन्नो नो असक्षीकि ॥३२॥  
 अपमत्तुवसन्तअजोगि जाव सब्बेवि अविरयाईया ।  
 वेयगउवसमखाइयदिट्टी कमसो मुण्यव्वा ॥३३॥  
 आहारगेसु लेरस पंच अणाहारगेसु वि भवति ।  
 भणिया जोगुवयोगाणमनगणा बंधगे भणिभो ॥३४॥

## दिवाम्बरसाहित्य में अपेक्षाभेद से जीवस्थानों के भेदों का वर्णन

जैन बाड़मय में संसार के अनन्त जीवों का गुण, धर्म, स्वभाव, आकार-प्रकार, इन्द्रियों आदि की समानता की अपेक्षा वर्णीकरण किया है। लेकिन इस वर्णीकरण की अपनी-अपनी हृषिट है और उसका आरण है—जीवमात्र में विद्यमान विशेषताओं का सुगमता से धोष कराना। इसीलिये किसी में हृष्यमान शरीर, इन्द्रियों आदि की, किसी में बाह्य शरीर आदि के साथ-साथ उनमें प्राप्त भावों की और किसी में मात्र भावों की मुख्यता है। जिसके नाम क्रमशः जीवस्थान, मार्यादास्थान और गुणस्थान हैं। उनमें से पहले वहाँ जीवस्थानों के भेदों का विचार करते हैं।

जीवस्थानों के वर्णीकरण में बाह्य शरीर, इन्द्रिय आदि की अवस्थाएँ मुख्य हैं। इसीलिये जीवस्थान का सामान्य लक्षण जललाया है कि जिसके द्वारा अनेक जीव एवं उनकी अनेक प्रकार की जातियाँ जगती जायें, अनेक जीवों का अथवा जीवों की अनेक जातियों का संग्रह किया जाये। अर्थात् ऋस-स्थावर, बादर-मूळम, पर्याप्त-आपर्याप्त, प्रत्येक-साधारण इन चार युगलों में से अविरुद्ध त्रिसादि कर्मों से युक्त जातिनामकर्म का उदय होने पर जीवों में प्राप्त होने वाले ऊर्ध्वतासामान्य<sup>१</sup> रूप या तिर्थकूसामान्य<sup>२</sup> रूप धर्मों को जीवस्थान कहते हैं।

शास्त्रों में स्थान, योनि, शरीर की अवगाहना और कुलों के भेद, इन चार

१ एक पदार्थ की कालक्रम से होने वाली अनेक पर्यायों में रहने वाले समान धर्म को ऊर्ध्वतासामान्य अथवा साहृष्यसामान्य कहते हैं।

२ एक समय में अनेक पदार्थगत साहृदय धर्म को तिर्थकूसामान्य कहते हैं।

अधिकारों के द्वारा जीवस्थानों का समराहण विवेचन किया है। लेकिन यहाँ इन आरों में से स्थान की अपेक्षा जीवस्थानों के भेद बहलाये हैं।

जीवस्थानों के क्रमसः जीवह इकाई सीम लतीय, असीम, अद्वीतीय, अड्डतालीय, चड्ढन और सत्तावन भेद होते हैं। इन भेदों में जीवह भेद मुख्य है और अपेक्षा से भेद किये जाने पर उसके इकाईस आदि भेद बनते हैं। जिनका स्पष्टटीकरण इस प्रकार है—

### जीवस्थानों के जीवह भेद—

बादर एकेन्द्रिय	$\times 2$	अपर्याप्ति-पर्याप्ति	३	५
सूक्ष्म एकेन्द्रिय	$\times 2$	अपर्याप्ति-पर्याप्ति	३	२
हीन्द्रिय	$\times 2$	—	३	२
श्रीन्द्रिय	$\times 2$	—	३	२
चतुर्णिंद्रिय	$\times 2$	—	३	२
असंक्षी पञ्चेन्द्रिय	$\times 2$	—	३	२
संक्षी पञ्चेन्द्रिय	$\times 2$	—	३	२
				१४

### जीवस्थानों के उच्चकोश भेद—

बादर एकेन्द्रिय	$\times 3$	लड्डपर्याप्ति, निवृत्यपर्याप्ति (करण-अपर्याप्ति), पर्याप्ति	३	३
सूक्ष्म एकेन्द्रिय	$\times 3$	लड्डपर्याप्ति, निवृत्यपर्याप्ति (करण-अपर्याप्ति), पर्याप्ति	३	३
हीन्द्रिय	$\times 3$	—	३	३
श्रीन्द्रिय	$\times 3$	—	३	३
चतुर्णिंद्रिय	$\times 3$	—	३	३
असंक्षी पञ्चेन्द्रिय	$\times 3$	—	३	३
संक्षी पञ्चेन्द्रिय	$\times 3$	—	३	३
				१४

## जीवस्थानों के सीधे शेष—

पृथ्वीकाय	$\times 2$	बादर-मूळम्	$\times 2$	अपर्याप्ति-पर्याप्ति	=	४
अलकाय	$\times 2$	" "	$\times 2$	" "	=	४
तेजस्काय	$\times 2$	" "	$\times 2$	" "	=	४
वायुकाय	$\times 2$	" "	$\times 2$	" "	=	४
वस्त्रपतिकाय	$\times 2$	" "	$\times 2$	" "	=	४
द्वीन्द्रिय	$\times 2$	अपर्याप्ति-पर्याप्ति			=	२
वीन्द्रिय	$\times 2$	" "			=	२
चतुर्विन्द्रिय	$\times 2$	" "			=	२
असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय	$\times 2$	" "			=	२
संज्ञी पञ्चेन्द्रिय	$\times 2$	" "			=	२
						-----
						३०

## जीवस्थानों के बदलीय शेष—

पृथ्वीकाय	$\times 2$	बादर-मूळम्	$\times 2$	अपर्याप्ति-पर्याप्ति	=	४
अलकाय	$\times 2$	" "	$\times 2$	" "	=	४
तेजस्काय	$\times 2$	" "	$\times 2$	" "	=	४
वायुकाय	$\times 2$	" "	$\times 2$	" "	=	४
साधारण वस्त्रपति	$\times 2$	" "	$\times 2$	" "	=	४
प्रत्येक वस्त्रपति	$\times 2$	अपर्याप्ति-पर्याप्ति			=	२
द्वीन्द्रिय	$\times 2$	" "			=	२
वीन्द्रिय	$\times 2$	" "			=	२
चतुर्विन्द्रिय	$\times 2$	" "			=	२
असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय	$\times 2$	" "			=	२
संज्ञी पञ्चेन्द्रिय	$\times 2$	" "			=	२
						-----
						३२

जीवस्थानों के क्लासीज भेद —

पृथ्वीकाय	$\times 2$	आदर-सूक्ष्म	$\times 2$	अपर्याप्त-पर्याप्त	$=$	४
जलकाय	$\times 2$	" "	$\times 2$	" "	$=$	४
तेजस्काय	$\times 2$	" "	$\times 2$	" "	$=$	४
वायुकाय	$\times 2$	" "	$\times 2$	" "	$=$	४
साधारण नित्यनिमोद						
वनस्पति	$\times 2$	" "	$\times 2$	" "	$=$	४
साधारण इतरभौतिकियोद						
वनस्पति	$\times 2$	" "	$\times 2$	" "	$=$	४
प्रत्येक वनस्पति	$\times 2$	अपर्याप्त-पर्याप्त	$=$	$=$	$=$	४
हीन्द्रिय	$\times 2$	" "				
श्रीन्द्रिय	$\times 2$	" "				
चतुर्भिन्द्रिय	$\times 2$	" "				
असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय	$\times 2$	" "				
संज्ञी पञ्चेन्द्रिय	$\times 2$	" "				

जीवस्थानों के अक्लीज भेद —

पृथ्वीकाय	$\times 2$	आदर-सूक्ष्म	$\times 2$	अपर्याप्त-पर्याप्त	$=$	४
जलकाय	$\times 2$	" "	$\times 2$	" "	$=$	४
तेजस्काय	$\times 2$	" "	$\times 2$	" "	$=$	४
वायुकाय	$\times 2$	" "	$\times 2$	" "	$=$	४
साधारण नित्यनिमोद						
वनस्पति	$\times 2$	" "	$\times 2$	" "	$=$	४
साधारण इतरभौतिकियोद						
वनस्पति	$\times 2$	" "	$\times 2$	" "	$=$	४
सप्ततिष्ठित प्रत्येक वनस्पति	$\times 2$	अपर्याप्त-पर्याप्त	$=$	$=$	$=$	४
अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति	$\times 2$	" "				
हीन्द्रिय	$\times 2$	" "				
श्रीन्द्रिय	$\times 2$	" "				
चतुर्भिन्द्रिय	$\times 2$	" "				
असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय	$\times 2$	" "				
संज्ञी पञ्चेन्द्रिय	$\times 2$	" "				

श्रीब्रह्मामों के अङ्गतालीस भेद—

पूर्वीकाय	× २ बादर-सूक्ष्म	× ३ लक्ष्यपर्याप्ति-निरुत्त्यपवर्ति-	पर्याप्ति	=
बलकाय	× २	॥ ॥	× ३	॥ ॥
तेजस्काय	× २	॥ ॥	× ३	॥ ॥
वायुकाय	× २	॥ ॥	× ३	॥ ॥
साधारण वनस्पति	× २	॥ ॥	× ३	॥ ॥
प्रस्त्रेक वनस्पति	× ३	लक्ष्यपर्याप्ति-निरुत्त्यपर्याप्ति-पर्याप्ति	पर्याप्ति	=
द्वीपिंद्रिय	× ३	॥ ॥	॥ ॥	॥ ॥
श्रीनिंद्रिय	× ३	॥ ॥	॥ ॥	॥ ॥
चतुरिंद्रिय	× ३	॥ ॥	॥ ॥	॥ ॥
असंज्ञी पंचेन्द्रिय	× ३	॥ ॥	॥ ॥	॥ ॥
संज्ञी पंचेन्द्रिय	× ३	॥ ॥	॥ ॥	॥ ॥
				४५

श्रीब्रह्मामों के चतुर्वय भेद—

पूर्वीकाय	× २ बादर-सूक्ष्म	× ३ लक्ष्यपर्याप्ति-निरुत्त्यपर्याप्ति-	पर्याप्ति	=
बलकाय	× २	॥ ॥	× ३	॥ ॥
तेजस्काय	× २	॥ ॥	× ३	॥ ॥
वायुकाय	× २	॥ ॥	× ३	॥ ॥
साधारण नित्यनियोग				
वनस्पति	× २	॥ ॥	× ३	॥ ॥
साधारण इतररगतिनियोग				
वनस्पति	× २	॥ ॥	× ३	॥ ॥
प्रस्त्रेक वनस्पति	× ३	लक्ष्यपर्याप्ति-निरुत्त्यपर्याप्ति-पर्याप्ति	पर्याप्ति	=
द्वीपिंद्रिय	× ३	॥ ॥	॥ ॥	॥ ॥
श्रीनिंद्रिय	× ३	॥ ॥	॥ ॥	॥ ॥
चतुरिंद्रिय	× ३	॥ ॥	॥ ॥	॥ ॥
असंज्ञी पंचेन्द्रिय	× ३	॥ ॥	॥ ॥	॥ ॥
संज्ञी पंचेन्द्रिय	× ३	॥ ॥	॥ ॥	॥ ॥
				४४

जीवस्थानों के सत्तावन भेद—

पूर्वीकाय	$\times 2$	जादर-सूक्ष्म	$\times 3$	लक्ष्यपर्याप्ति-निवृत्यपर्याप्ति-		पर्याप्ति =	५
जलकाय	$\times 2$	,,	$\times 3$	,,	,,	=	६
तेजस्काय	$\times 2$	,,	$\times 3$	,,	,,	=	६
वायुकाय	$\times 2$	,,	$\times 3$	,,	,,	=	६
साधारण निलनिगोद							
बनस्पति	$\times 2$	,,	$\times 3$	,,	,,	=	६
साधारण इतरणतिगोद							
बनस्पति	$\times 2$	,,	$\times 3$	,,	,,	=	६
सप्रतिष्ठित प्रत्येक बनस्पति	$\times 3$	लक्ष्यपर्याप्ति-निवृत्यपर्याप्ति-पर्याप्ति =					
अप्रतिष्ठित प्रत्येक बनस्पति	$\times 3$						
द्वीनिद्रिय	$\times 3$	,,	,,	,,	,,	=	३
श्रीनिद्रिय	$\times 3$	,,	,,	,,	,,	=	३
चतुरनिद्रिय	$\times 3$	,,	,,	,,	,,	=	३
असंज्ञी पञ्चनिद्रिय	$\times 3$	,,	,,	,,	,,	=	३
संज्ञी पञ्चनिद्रिय	$\times 3$	,,	,,	,,	,,	=	३

५७

स्थान की अपेक्षा जीवस्थानों के भेद—

जीवस्थानों के भेदों का पूर्वीक एक प्रकार है। अब यदि दूसरे प्रकार से जीवस्थानों के भेदों का विचार किया जाये तो स्थान की अपेक्षा इस प्रकार भी किया जा सकता है।

सामान्य से जीवस्थान का एक भेद है। क्योंकि जीव कहने से जीवमात्र का प्रह्लण हो जाता है। तस और स्थावर की अपेक्षा दो भेद; एकेनिद्रिय, विकलेनिद्रिय, सकलेनिद्रिय (पञ्चनिद्रिय) की अपेक्षा तीव्र भेद; यदि इनमें पञ्चनिद्रिय

के संज्ञी, असंज्ञी हो भेद कर दिये जायें तो चार भेद; एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, श्रीन्द्रिय, चतुरन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय की अपेक्षा पांच भेद; पृष्ठी, जल, तेज, वायु, वनस्पति और उस इस प्रकार काय की अपेक्षा छह भेद; यदि उक्त छह भेदों में उस के सकल और विकल इस तरह दो भेद करके मिला दिये जायें तो सात भेद। इन सात भेदों में सकल के संज्ञी-असंज्ञी भेद करके मिलाने पर आठ भेद; सकल-विकल उस के द्वीन्द्रिय, श्रीन्द्रिय, चतुरन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय इस प्रकार चार भेद करके मिलाने पर नौ भेद और द्वीन्द्रिय, श्रीन्द्रिय, चतुरन्द्रिय, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय, संज्ञी पञ्चेन्द्रिय इस तरह पांच भेद करके मिलाने पर दस भेद होते हैं।

पूर्वोत्तम पांच स्थावरों के बादर-सूक्ष्म की अपेक्षा इस भेद हुए। इनमें उस सामान्य का एक भेद मिलाने पर यारह भेद तथा इन्हीं पांच स्थावर युगलों में उस के विकलेन्द्रिय, सकलेन्द्रिय वो भेद मिलाने से बारह भेद और उस के विकलेन्द्रिय और संज्ञी, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय इस प्रकार तीन भेद मिलाने से तेरह भेद और द्वीन्द्रिय, श्रीन्द्रिय, चतुरन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय ये चार भेद मिलाने से चौदह भेद तथा द्वीन्द्रिय, श्रीन्द्रिय, चतुरन्द्रिय और संज्ञी, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय ये पांच मिलाने से पचास भेद होते हैं।

पृष्ठी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के नित्यनिगोद, इतरनिगोद इन छह के सूक्ष्म, बादर की अपेक्षा बारह भेद और प्रत्येक वनस्पति, इन तेरह में उस के विकलेन्द्रिय और संज्ञी-असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय, इन तीन भेदों को मिलाने से सोलह और द्वीन्द्रिय, श्रीन्द्रिय, चतुरन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, इन चार भेदों को मिलाने से अबह और द्वीन्द्रिय, श्रीन्द्रिय, चतुरन्द्रिय तथा असंज्ञी-संज्ञी पञ्चेन्द्रिय, इन पांच भेदों को मिलाने से अठारह भेद होते हैं।

पृष्ठी, जल, तेज, वायु और नित्यनिगोद और इतरनिगोद वन-स्पति, इन यह भेदों के बादर-सूक्ष्म की अपेक्षा बारह भेद तथा प्रत्येक वनस्पति के प्रतिष्ठित और जप्रतिष्ठित वो भेद, कुल चौदह भेदों में द्वीन्द्रिय, श्रीन्द्रिय, चतुरन्द्रिय, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय, संज्ञी पञ्चेन्द्रिय, इन पांच भेदों को मिलाने से जीवस्थान के उप्पीस भेद होते हैं।

वे उन्हीं से भेद सामान्य से हैं। इनको पर्याप्त, अपर्याप्त से गुणा करने पर अङ्गतीस तथा पर्याप्त, निवृत्यपर्याप्ति और लब्ध्यपर्याप्ति से गुणा करने पर सलावत भेद होते हैं।

चार गतियों को अपेक्षा जीवस्थानों की संख्या इस प्रकार समझना चाहिए—

**तिर्यक्षगति**—जीवस्थानों के उक्त अवलोकन में एकेन्द्रिय विकासेन्द्रिय सम्बन्धी इक्यावन भेद बतलाये हैं। कर्मभूमिज पञ्चेन्द्रिय तिर्यक्ष के तीन भेद हैं—जलचर, धनचर और नभचर। ये तीनों ही तिर्यक्ष संज्ञी और असंज्ञी होते हैं तथा गर्भज और संमूचिष्ठम होते हैं। परन्तु गर्भज को पर्याप्त और निवृत्यपर्याप्त ही होते हैं और संमूचिष्ठमों में पर्याप्त, निवृत्यपर्याप्ति, लब्ध्य-पर्याप्त तीनों ही भेद होते हैं। इसलिए संमूचिष्ठमों के अठारह भेद और गर्भजों के बारह भेद। सब मिलाकर कर्मभूमिज तिर्यक्षों के तीक्ष्ण भेद होते हैं। शोषभूमिज पञ्चेन्द्रिय तिर्यक्ष के धनचर, नभचर दो ही भेद होते हैं<sup>१</sup> और ये दोनों ही पर्याप्त निवृत्यपर्याप्ति होते हैं। इसलिए शोषभूमिज तिर्यक्षों के चार भेद और कर्मभूमिज तिर्यक्षों के तीस भेदों को उक्त इक्यावन सेदों में मिलाने से तिर्यक्षगति सम्बन्धी सम्पूर्ण जीवस्थान पर्याप्ती होते हैं।

**मनुष्यगति**—आर्यखंड में पर्याप्त, निवृत्यपर्याप्ति, लब्ध्यपर्याप्ति तीनों ही प्रकार के मनुष्य होते हैं तथा म्लेच्छखंड, भीगभूमि, कुभीगभूमि में लब्ध्य-पर्याप्ति को छोड़कर दो-दो प्रकार के होते हैं। इस प्रकार तीन, दो, दो, दो, कुल मनुष्यों में नी जीवस्थान हैं।

**देव नरक गति**—लब्ध्यपर्याप्ति के सिद्धाय ऐप निवृत्यपर्याप्ति और पर्याप्त दो-दो भेद होते हैं।

इस प्रकार तिर्यक्षों के पचासी, मनुष्यों के दो, देवों के दो, नारकों के दो, कुल मिलाकर जीवस्थानों के अवालतर भेद अट्टानवै होते हैं।<sup>२</sup>

१ शोषभूमि में जलचर, संमूचिष्ठम तथा असंज्ञी जीव नहीं होते हैं।

२ दिग्घर्ष धनसंग्रह और गीमटसार जीवकाषण के आधार से।

## संज्ञी-असंज्ञी सम्बन्धी विशेषावश्यकभाष्यगत

विवेचन

नामनिक्षेप, ज्ञान और इच्छा के भेद से संज्ञी मन्त्र के तीन अर्थ हैं। नामानक्षेप व्यवहार चलाने के लिए किसी का जो नाम रख दिया जाता है—‘संज्ञा नामेत्युच्यते’। जैसे गाय, महारथी आदि। धारणात्मक या ऊहाप्रीह रूप विचारात्मक ज्ञानविशेष अथवा नोइन्द्रियावरणकर्म के क्षयोपशम से जन्म ज्ञान को संज्ञा कहते हैं। आहार, भय, मैथुन, परिप्रह आदि की इच्छा-अभिलाषा संज्ञा है—‘आहारादि विषयाभिलाषा संज्ञेति’।

जीवों के संज्ञित्व-असंज्ञित्व के विचार करने के प्रसंग में संज्ञा का आशय नामनिक्षेपात्मक न लेकर मानसिक क्रियाविशेष लिया जाता है। मानसिक क्रिया के दो प्रकार हैं—ज्ञानात्मक और अनुभवात्मक-अभिलाषात्मक (आहारादि की इच्छा रूप)। इसीलिए इस विषेष से संज्ञा के हो भेद हैं—ज्ञान और अनुभव।

माति, शूल आदि पांच प्रकार के ज्ञान ज्ञानसंज्ञा हैं और आहार, भय, मैथुन, परिप्रह, क्रोध, मान, साया, लोभ, ओषध, लोक, भोग्य, धर्म, सुख, दुःख, जुगुप्सा और शोक ये अनुभवसंज्ञा के भेद हैं।

ये अनुभवसंज्ञायें न्यूनाधिक प्रमाण में सभी जीवों के पाई जाती हैं। इसलिए ये तो संज्ञी-असंज्ञी व्यवहार की नियामक नहीं हैं किन्तु ज्ञानसंज्ञा हैं। उसका लक्षण ऊपर बताया जा चुका है कि नोइन्द्रियावरणकर्म के क्षयोपशम या तज्जन्म ज्ञान को संज्ञा कहते हैं। नोइन्द्रियावरणकर्म का क्षयोपशम होने पर जीव मन के अवलम्बन से शिक्षा आदि को ग्रहण करता है।

यद्यपि चैतन्य की अपेक्षा सभी जीव सामान्य हैं। क्योंकि चैतन्य जीव का स्वभाव-स्वरूप है। परन्तु संसारी जीवों में चैतन्य के विकास की अपेक्षा

तास्तम्य है। एकेन्द्रिय में लेकर वंचेन्द्रिय पर्यन्त के जीवों में चेतन्य का विकास क्षमणः अधिकाधिक है। इस विकास के तरलभाषाय को समझने के लिए जीवों के निम्नलिखित चार विभाग किये जा सकते हैं—

(१) अस्पृष्ट विकास आले जीव—इस विकास वाले जीव मूर्च्छित की तरह चेष्टारहित होते हैं। इनकी चेतना अव्यक्त रहती है। इस अव्यक्त चेतना को ओषधसंज्ञा कहते हैं। एकेन्द्रिय जीव ओषधसंज्ञा वाले होते हैं।

(२) कुछ अत्यन्त चेतना आले जीव—इस विभाग में विकास की इतनी मात्रा विवरित है कि जिससे कुछ भूतकाल का स्मरण किया जा सके। इस विकास में आसन्न भूतकाल का ही स्मरण किया जा सकता है, किन्तु सुदीर्घ भूतकाल का नहीं। इष्ट-अनिष्ट विषयों के प्रति प्रवृत्ति-निवृत्ति भी होती है। इस प्रवृत्ति-निवृत्तिकारी ज्ञान को हेतुकादोपदेशकी संज्ञा कहते हैं। इस दृष्टिकोण से द्विन्द्रियादि चार वस जीव संज्ञी हैं और पृथक्कार्यिक आदि पांच स्थावर असंज्ञी हैं।

(३) सुदीर्घकालिक भूत का स्मरण और वर्तमानकालिक निश्चय—इस विभाग में इतना विवरित है कि सुदीर्घकाल में अनुभव किये हुए विषयों का स्मरण और उस स्मरण द्वारा वर्तमानकाल के कर्तव्यों का निश्चय किया जाये। यह कार्य विशिष्ट मन की सहायता से होता है। इस ज्ञान की दीर्घकालोपदेशकी संज्ञा कहते हैं। इस संज्ञा के फलस्वरूप सदर्थ के विचारने की बुद्धि, निश्चयात्मक विचारणा, अन्वय-व्यतिरेक धर्म का अन्वेषण-प्रयत्नोचन तथा भूत-वर्तमान-भविष्यकालीन कार्यपरम्परा की शुल्कला का ज्ञान कि भूत में यह कार्य कैसे हुआ, वर्तमान में कैसे हो रहा है और भविष्य में कैसे होगा? इस प्रकार के विचारविमर्श से बस्तु के स्वरूप को अधिगत करने की क्षमता प्राप्त होती है। देव, नारक और गर्भज मनुष्य-तिर्यक दीर्घकालोपदेशकी संज्ञा वाले हैं।

(४) विशिष्ट भूतज्ञान—यह ज्ञान इतना मुश्किल होता है कि सम्बद्धिजीवों के सिवाय अन्य जीवों में यह सम्भव नहीं है। इस विशिष्ट विशुद्ध ज्ञान को हेतुकादोपदेशकी संज्ञा कहते हैं।

शास्त्रों में संज्ञी-असंज्ञी के उल्लेख के प्रसंग में ओषध और हेतुवादोपदेशकी संज्ञा वालों को असंज्ञी और दीर्घकालोपदेशकी और हृषिक्षादोपदेशकी संज्ञा वाले जीवों को संज्ञी कहा गया है। कथोंकि संज्ञा अथवा मनोविज्ञान और वह मनोविज्ञान रूप संज्ञा ज्ञानावरणकार्य के क्षयोपशम से प्राप्त होती है। अतः एवं मनोविज्ञान रूप संज्ञा जिनके होती हैं, वे संज्ञी कहलाते हैं, अन्य संज्ञी नहीं कहलाते हैं।

दिगम्बर लक्ष्मित्य में भी संज्ञी-असंज्ञी का विचार किया गया है। लेकिन उसमें कुछ अन्तर है। जैसे कि गर्भेज तिर्यकों को मात्र संज्ञी न मानकर संज्ञी-असंज्ञी उभय रूप माना है तथा एवेलाम्बर ग्रन्थों में जो हेतुवादोपदेशकी, दीर्घकालिकी और हृषिक्षादोपदेशकी यह तीन संज्ञा के भेद भाने गये हैं, वैसे भेद दिगम्बर ग्रन्थों में हृषिक्षोचर नहीं हुए हैं। लेकिन लक्ष्मित्य वर्णन से यह प्रति-भास अवश्य होता है कि संज्ञित्य व्यपदेश के लिये दीर्घकालोपदेशकी और हृषिक्षादोपदेशकी संज्ञा के आशय को ध्यान में रखा गया है।

## क्षमा

## प्रज्ञापनासूत्र एवं तत्त्वार्थभाष्यगत पर्याप्ति संबंधी वर्णन

‘पर्याप्तिः क्रियापरिसमानितरात्मनः’—विवक्षित आहारप्रहण, शरीर-निवृत्ततादि क्रिया करने में समर्थ करण की उत्पत्ति को पर्याप्ति कहते हैं। वह पुद्गल रूप है और उस-उस क्रिया की कर्त्ता आत्मा की करणविशेष है। जिस करणविशेष से आत्मा में आहारादि प्रहण करने का सामर्थ्य उत्पन्न हो वह करण जिन पुद्गलों से निष्पादित हो, इस प्रकार के परिणाम वाली आत्मा के द्वारा प्रहण किये हुए पुद्गल पर्याप्ति भवन से कहे जाते हैं। ऐसे कि आहार प्रहण करने में समर्थ करण की उत्पत्ति आहारपर्याप्ति, शरीर के करण की निष्पादित शरीरपर्याप्ति, इन्द्रिय के करण की उत्पत्ति इन्द्रियपर्याप्ति, उच्छ्रवास और निःश्वास के योग्य करण की उत्पत्ति श्वासोच्छ्रवासपर्याप्ति, भाषा के करण की उत्पत्ति भाषापर्याप्ति और मन के करण की उत्पत्ति मनपर्याप्ति कही जाती है।

कहा है—

आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्रवास, भाषा की उत्पत्ति जिन पुद्गलों से होती है, उनके ग्रति जो करण, वह पर्याप्ति है।

कथाचित् यह कहा जाये कि सिद्धान्त में यह पर्याप्तियाँ प्रसिद्ध हैं तो यहाँ पांच पर्याप्तियाँ ही क्यों कही गई हैं? तो इसका उत्तर यह है कि इन्द्रिय-पर्याप्ति के प्रहण से मनपर्याप्ति का प्रहण कर लिये जाने से पर्याप्तियों के पांच नाम कहे गये हैं।

प्रश्न—कास्त्रकार ने मन को अनिन्द्रिय कहा है तो इन्द्रियों के प्रहण से मन का प्रहण कैसे हो सकता है?

उत्तर—जैसे शब्दादि विषयों को ग्रहण करने वाले श्रोत्र आदि हैं, वैसा मन नहीं है और सुखादि को साक्षात् ग्रहण करने वाला मन है, पर इन्द्रिय नहीं हैं। इसलिये मन सम्पूर्ण इन्द्रिय नहीं परन्तु हृष्ट आत्मा का लिंग होने से इन्द्रिय भी है। वहाँ जो पांच ही पर्याप्तियाँ कहीं हैं, वे आधुकरण की अपेक्षा से जानना चाहिए, मन अन्तःकरण है, इसलिये मनपर्याप्ति पृथक् नहीं कही है। इसमें किसी प्रकार का दोष नहीं है। दोनों प्रकार से मनपर्याप्ति सम्भव है। यहाँ तैजस् और कार्यण शरीर सहित आत्मा की ही विवक्षित किया की परिसमाप्ति यानी विवक्षित किया करने में समर्थ करण की उत्पत्ति, वह पर्याप्ति है। शरीरशिक आदि शरीर की प्रथम उत्तरि की अपेक्षा ही यहाँ पर्याप्तियों का विचार किया है।

यह पर्याप्तियाँ एक साथ आरम्भ होकर अनुक्रम से पूर्ण होती हैं। क्योंकि उत्तरोत्तर पर्याप्तियाँ अधिक-अधिक काल में समाप्त होती हैं।

भाव्यकार के अनुसार आहारपर्याप्ति का स्वरूप इस प्रकार है—

‘शरीरेन्द्रिय-वाङ्-मनः-प्राणापात्तयोग्यदलिकद्वयाहरणकियापरिसमाप्तिरा-हृष्टपर्याप्तिः।’ शरीर, इन्द्रिय, भाषा, मन और प्राणापात्त—एवासोच्छ्वास के योग्य दलिकों-पुद्यालों के आहारण-ग्रहण किया की परिसमाप्ति, वह आहार-पर्याप्ति करणविषेष है। ‘गृहीतस्य शरीरतया संस्थापनकियापरिसमाप्ति, शरीरपर्याप्तिः’—सामान्य रूप में ग्रहण किये हुए पुद्यालों की शरीर रूप में संस्थापना-रखना करने की किया की परिसमाप्ति को शरीरपर्याप्ति कहते हैं।

प्रज्ञापनासूत्र के दीक्षकार आचार्य ने सामान्य से पर्याप्ति की व्याख्या तो भी है। किन्तु किन पुद्यालों की ग्रहण करती है, यह स्पष्ट नहीं किया है। लेकिन तत्कार्यकार ने आहारपर्याप्ति की व्याख्या में विशेष रूप से शरीर, इन्द्रिय, भाषा, मन और एवासोच्छ्वास के योग्य पुद्यालों को ग्रहण करने का बताया है। प्रथम समय में ग्रहण किये हुए और इसी प्रकार प्रति समय ग्रहण किये जाते हुए पुद्यालों से ही जो करण की निष्पत्ति होती है वह पर्याप्तिशब्द-वाच्य है। उससे यह भी प्रतीत होता है कि शरीर के योग्य पुद्यालों से शरीर-

पर्याप्ति, इन्द्रिय के योग्य पुद्गलों से इन्द्रियपर्याप्ति, भावा के योग्य पुद्गलों से भवासोच्छ्वासपर्याप्ति, शब्दसीक्षण्डास के योग्य पुद्गलों से श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति और मन के योग्य पुद्गलों से मनपर्याप्ति की निष्पत्ति सम्भव है।

इन्द्रियपर्याप्ति आदि के लक्षण इस प्रकार हैं—

‘श्वासोच्छ्वास-निर्वतेनकियापरिसमाप्तिरिन्द्रियपर्याप्ति’—स्वक्-स्पर्शनेन्द्रिय और आहार शब्द से रसन, द्वाष, चश्म, शोथ और मन। अतः उसके स्वरूप को उत्पन्न करने वाली क्रिया की परिसमाप्ति इन्द्रियपर्याप्ति है।

‘प्राणापानहक्रियायोग्यद्वय श्वाश-निसर्गाभास्ति निर्वतेनकियापरिसमाप्तिप्राणापानपर्याप्ति’—उच्छ्वास और निःश्वास की क्रिया के योग्य शब्दसोच्छ्वास-क्रमणा के द्वय को श्रहण करने और छोड़ने की अस्ति-सामर्थ्य को उत्पन्न करने की क्रिया की परिसमाप्ति को श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति कहते हैं। इसी प्रकार भावापर्याप्ति का लक्षण है। वही भावायोग्य पुद्गलों के श्रहण व छोड़ने की क्रिया जानना चाहिए।

‘मनस्त्वयोग्यद्वयश्वहणनिसर्गशक्तिनिर्वतेनकियापरिसमाप्तिमनपर्याप्तिरित्येके’—मनस्त्व में परिष्ठमन के योग्य मनोकर्मणा के द्वय को श्रहण करने और छोड़ने की सामर्थ्य को उत्पन्न करने की क्रिया की परिभ्रमाप्ति वह मनपर्याप्ति है—ऐसा कोई आचार्य इन्द्रियपर्याप्ति से अन्य मनपर्याप्ति मानते हैं और इन्द्रियपर्याप्ति के श्रहण द्वारा मनपर्याप्ति का श्रहण नहीं करते हैं। परन्तु मनपर्याप्ति को कोई मानते हैं और कोई नहीं मानते हैं यह नहीं समझना चाहिए।

‘आसा युगपदारक्षासामयि क्रमेण समाप्ति’, उत्तरोत्तरसूक्ष्मतरत्वात् सूक्ष्म-शावर्दिकर्तनष्टटनवत्’—ये छहों पर्याप्तिया बुग्यत् प्रारम्भ होती है, परन्तु अनुक्रम से समाप्त होती है। अनुक्रम से समाप्त होने का कारण यह है कि उत्तरोत्तर सूक्ष्म है। जैसे कि आहारपर्याप्ति से शरीरपर्याप्ति सूक्ष्म है, क्योंकि वह वहूत से सूखम् द्रव्यों के समूह से बनी हुई है, उससे इन्द्रियपर्याप्ति अधिक सूखम् है, उससे भी श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति सूक्ष्म है, उससे भावापर्याप्ति सूक्ष्म

है और उससे भी मनपर्याप्ति अधिक सूक्ष्म है। एतदविषयक हल्टाला यह है—सूत कातने और काढ़ बढ़ने की तरह। मोटा सूत और बारीक सूत कातने वाली एक साथ कातना प्रारम्भ करती है लेकिन उसमें से भीड़ा सूत कातने वाली जल्दी पूरा कर लेती है और बारीक सूत कातने वाली लम्बे समय में पूरा करती है। इसी प्रकार काढ़ बढ़ने में भी यही क्रम समझना चाहिए। खंभा आदि भोटी कारीगरी का काम खोड़ से समय में और यदि उसी खंभे को पत्ररचना, पुतलियाँ आदि सहित बनाया जाये तो लम्बे काल में तैयार होता है।

—तत्त्वार्थभाष्य ८/१२, प्रज्ञापनासूत्र

## अन्त

## दिगम्बर कर्मसाहित्य में जीवस्थानों में योग-उपयोग का निर्देश

ज्वेताम्बर और विभास्त्र साहित्य में कुछ अनुहिताएँ हैं, लेकिन उनमें  
अपेक्षा समानताएँ अधिक हैं। इसका मूल कारण यही है कि दोनों का मूल  
शोल एक है। यही बात कर्मविचारणा के लिये भी समझना चाहिए। कर्म-  
विचारणा के प्रसंग में तो दोनों परम्पराएँ इतनी अधिक समानताएँ हैं कि  
समान वर्णन, समान हार्षिकोण देखने से यह अनुभव नहीं होता है कि यह प्रभ्य  
तो अमुक परम्परा का है और यह अमुक परम्परा का। लेकिन संक्षेप या  
विस्तार की अपेक्षा अक्षय ज्ञात होती है।

ज्वेताम्बर कर्मसाहित्य की तरह दिगम्बर साहित्य में भी जीवस्थानों  
आदि में योग-उपयोग का विचार किया गया है। तुलनात्मक हार्षिक से उसका  
बोध कराने के लिये जीवस्थानों आदि में योग-उपयोग के विचारों का संक्षेप  
में यहाँ सारांश प्रस्तुत करते हैं।

### (क) जीवस्थानों के योग ...

सूक्ष्म एकान्दिद अपर्याप्ति-पर्याप्ति आदि चौदह जीवस्थानों के नाम पूर्व में  
कहाये गये अनुसार दिगम्बर कर्मसाहित्य में भी प्राप्त होते हैं और इनको  
आधार धनाकर उनमें प्राप्त योगों का निर्देश किया है। सामान्य से जीवस्थानों  
में योगों का निर्देश इस प्रकार है—

नो जीवस्थानों में एक योग होता है, चार जीवस्थानों में दो योग और  
एक जीवस्थान में चौदह योग होते हैं। ये योग अपने वर्तमान भव के शरीरों  
में विद्यमान जीवों में जानना चाहिए। किन्तु भवान्तरणत अर्थात् विश्ववित्ति-  
वाले जीवों के केवल एक कार्यणकाययोग होता है।

उल्लं कथन का विशेषजटीय यह है कि एकेन्द्रिय के बारे और ऐष अपवाहितक जीवों के पांच जीवस्थान कुल मिलाकर जी जीवस्थानों में साधान्व्य से एक काययोग होता है। वह इस प्रकार कि सूधम और बादर पर्याप्ति एकेन्द्रिय जीवों के औदारिक काययोग तथा सूधम आदर-अपवाहित एकेन्द्रिय जीवों के औदारिक-मिश्र काययोग होता है। कुछ आचारों के अधिप्राय से बादर बायुकायिक पर्याप्ति के बैकिय लाभप्रोत्त और बादर बायुकायिक अपवाहितकों के बैकिय-मिश्र काययोग भी होता है और ऐष द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंजी-संजी पंचेन्द्रिय अपवाहितों के यथायोग्य एकमात्र औदारिकमिश्र आदि काययोग होता है।

द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंजी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक इन चारी जीवस्थानों में औदारिक काययोग और असत्त्वामृतावचनयोग ये दो-दो योग होते हैं।

संजी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवस्थान में चारों मनोयोग, चारों वचनयोग और सालों काययोग इस तरह पन्द्रह योग होते हैं। यहाँ इतना विशेष जातव्य है कि पर्याप्त संजी पंचेन्द्रिय के जो अपवाहित दण्ड में सम्भव औदारिकमिश्र, बैकिय-मिश्र और आहारकमिश्र और कार्मण काययोग वस्तुलाभे गये हैं सो इनमें से सभोगि जिन के केवलिसमृद्धात की अपेक्षा औदारिकमिश्र काययोग और कार्मण काययोग कहा गया है तथा जो औदारिक काययोगी जीव बैकिय और आहारक लबिध प्राप्त करते हैं उनकी अपेक्षा बैकियमिश्र, आहारकमिश्र और कार्मण काययोग वस्तुलाभा गया है। अन्यथा मिश्रकाययोग अपर्याप्त दण्ड में और कार्मण काययोग विशाहणति में ही सम्भव है।

संजी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के कार्मण काययोग को छोड़कर ऐष चौदह योग जातना चाहिये। कार्मण काययोग न मानने का कारण अपने वर्तमान भव के शरीर में विश्वमान जीवों में योग मानना है। यह आपेक्षिक कथन है। कार्मण काययोग भी संजी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान की अवस्थाविशेष में सम्भव है। यह कथन ऊपर किया जा सकता है। असंजी पन्द्रह योग भी सम्भव हैं।

(अ) जीवस्थानों में उपयोग—

एकेन्द्रियों के बादर-सूक्ष्म और इन शोनों के पर्याप्तिक और अपर्याप्तिक कुल चार, द्विन्द्रिय और त्रीन्द्रिय सम्बन्धी पर्याप्तिक और अपर्याप्तिक वे चार तथा चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय, संज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्तिक ये तीन, इस प्रकार इन ग्रन्थारह जीवस्थानों में मति-अङ्गान, श्रुत-अङ्गान और अचक्षुदर्शन ये तीन-तीन उपयोग होते हैं। चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तिक इन दो जीवस्थानों में चक्षुदर्शन सहित पूर्वोक्त तीन उपयोग इस प्रकार चार-चार उपयोग होते हैं।

मिथ्याहृष्टि संज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्तिक जीवों के उपर्युक्त (मति-अङ्गान, श्रुत-अङ्गान, अचक्षुदर्शन, चक्षुदर्शन), चार तथा सम्यग्हृष्टि संज्ञी अपर्याप्तिकों के मति-अङ्गान, श्रुत-अङ्गान और अवधिद्विक—अवधिज्ञान, अवधिदर्शन ये चार उपयोग होते हैं। इनमें अचक्षुदर्शन मिलाने से पांच भी उपयोग होते हैं। कोई-कोई आचार्य मिथ्याहृष्टि-सम्यग्हृष्टि दोनों प्रकार के सभी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्तिकों को मिलाकर मति-अङ्गान, श्रुत-अङ्गान, मति-ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन ये सात उपयोग मानते हैं।

संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तिक जीवस्थान में बारह उपयोग होते हैं। यह कथम सामान्य से समझना चाहिये। लेकिन विशेषायेका छद्मस्थ और अछद्मस्थ जीवों का ऐह किया जाय तो छद्मस्थ जीवों में केवलद्विक के विना दस उपयोग और अछद्मस्थ जीवों के मिएं केवलज्ञान और केवलज्ञान यह दो उपयोग ही हैं।

प्रश्ना-

प्रश्ना-

प्रश्ना-

प्रश्ना-

प्रश्ना-

## सामायिक आदि पांच चारित्रों का परिचय

संयम और चारित्र वे दोनों समानार्थक शब्द हैं। संयम अर्थात् त्याग—सम्यक् प्रकार से विरमण, अहो और जानपूर्वक सर्वथा पापव्यापार का त्याग करना। संयम अथवा चारित्र कहलाता है। इह पांच प्रकार का है—

(१) सामायिक चारित्र, (२) छेदोपल्थापनीय चारित्र, (३) परिहारविशुद्धि चारित्र, (४) सूक्ष्मसम्पराय चारित्र, (५) यथाभ्यापार चारित्र।

इन पांचों चारित्र भेदों का संक्षेप में परिचय इस प्रकार है—

**सामायिक**—सम आय अर्थात् रागद्वेष की रहितता के द्वारा आत्मस्वरूप में प्रवृत्ति करना, विभावदशा से स्वभाव में आना—अन्तर्मुखी हृष्टि का होना। अतएव समाय के द्वारा, रागद्वेष की रहितता द्वारा हुआ अथवा समाय हीने पर होने वाला चारित्र सामायिक चारित्र है। अथवा सम् यानि सम्पराज्ञान-दर्शन और चारित्र की आय अर्थात् लाभ को समाय कहते हैं और उसी का नाम सामायिक है। जिसने-जितने अंग में आत्मा को सम्पराज्ञान, दर्शन और चारित्र प्राप्त हो जाता है, वह सामायिक है। वह सामायिक चारित्र सर्वथा पापव्यापार के त्याग रूप है।

इस सामायिक में उपलक्षण से साधुओं की अन्य क्रियाओं का भी समावेश हो जाता है। क्योंकि साधुओं की सभी क्रियायें रागद्वेष का अभाव करने रूप हैं और ये सभी क्रियायें रागद्वेष के अभाव में कारण होने से कारण में कार्य का आरोप करके साधुओं की समस्त क्रियाओं को ही रागद्वेष के अभाव रूप जानना चाहिए।

यद्यपि सभी चारित्र सर्वथा पापव्यापार का त्याग करने में कारण होने से

सामायिक रूप ही हैं किर भी पूर्वपर्याय के छेदादि रूप विभेद के बारबा छेदी-परस्थापनीय आदि चारित्र पहले सामायिक चारित्र के शब्द और अर्थ की अपेक्षा पृथक् हो जाते हैं और पहले में पूर्वपर्याय का छेद आदि किसी भी प्रकार का विभेद नहीं होने से सामायिक ऐसा सामान्य नहम ही रहता है।

सामाजिक के दो भेद हैं—(१) इत्वर और (२) यावस्कथित। इनमें से भरत और ऐरब्रत थोड़े में आदि और अन्तिम शीर्षकर के तीर्थ में जिसे पंच-महाद्वारों का उच्चारण नहीं कराया गया है, ऐसे नवदीक्षित शिष्य के अल्प-काल के लिये होने वाले चारित्र को इत्वर सामाजिक और दीक्षा स्वीकार करने के काल से लेकर भरण पर्यात के चारित्र की यावस्कथित कहते हैं। यह भरत और ऐरब्रत थोड़े के आदि और अन्तिम की छोड़कर मध्य के बाईस शीर्षकरों के तीर्थ में एवं भगविदेह थोड़े के तीर्थकरों के तीर्थ में विद्यमान साधुओं का सम्बन्ध जाहिये। इशका कारण यह है कि उनके चारित्र की उत्थापना महीं होती है। अपर्यात् उनको बड़ी दीक्षा नहीं दी जाती है। प्रारम्भ उत्थापना महीं होती है। अपर्यात् उनको बड़ी दीक्षा नहीं दी जाती है। और जीवनपर्यात् के उनका निरतिज्ञार पालन करते हैं।

**छेदोपस्थापनीय** — जिस चारित्र में पूर्ववर्याय का लेख और महावतों का स्थापन किया जाता है, उसे छेदोपस्थापनीय चारित्र कहते हैं। पुरु जब छोटी दीक्षा देते हैं तब भाव 'करेमि अदि' का उच्चारण करते हैं और उसके बाद शोगोहकहन करने के बाद बड़ी दीक्षा देते हैं और उस समय पूर्व महावतों का उच्चारण करते हैं। जिस दिन बड़ी दीक्षा ली जाती है, उस दिन से दीक्षा-षष्ठि की शुरुआत होती है और पूर्व की दीक्षावर्याय कम कर दी जाती है। पहली बड़ी दीक्षा छेदोपस्थापनीय चारित्र बहलाती है।

बड़ा दाक्षा छदमस्यपिनय चारन कहुत्तम् ॥

छेदोपस्थापनीय चारित्र के दो भेद हैं—(१) सातिकार और (२) निरति-  
चार। इनमें से इत्यर सामायिक वाले नवदीक्षित शिष्य को जो पाँच महाकलों  
का आरोपण होता है—दृढ़ी दीक्षा दी जाती है, वह अथवा एक तीर्थकर के  
तीर्थ में से अन्य तीर्थकर के तीर्थ में आने पर ग्रहण किया जाता है, जैसे कि  
भगवान् पाष्ठर्माथ के तीर्थ में से वर्धमान स्वामी के तीर्थ में आते हुए साधु-

चार भग्नावत शोदकर पांच भग्नावत स्वीकार करते हैं, वह निरतिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र कहलाता है तथा मूलगुणों का धात करने वाले साथु को पुनः जो ब्रतों का उच्चारण कराया जाता है, उसे सातिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र कहते हैं।

छेदोपस्थापनीय चारित्र के ये दोनों प्रकार स्थितकल्प में होते हैं। जिस तीर्थकर के तीर्थ में चातुर्मासि और प्रतिक्रमणादि आचार निश्चित रूप में हो ऐसे प्रथम और अन्तिम तीर्थकर के तीर्थकल्प को स्थितकल्प कहते हैं।

**परिहारविष्णुद्वि चारित्र—परिहार अश्रीत् तपोविषेष** । जिस तपोविषेष के होरा चारित्र का आचरण करने वाले के कर्म की शृंखि हो, उसे परिहारविष्णुद्वि चारित्र कहते हैं । उसके दो शब्द हैं—(१) निविष्णुभानक और (२) निविष्टकायिक । विवक्षित चारित्र की तपस्या के होरा आशाधना करने वाले निविष्णुभानक और उसकी आशाधना करने वालों के परिचारक निविष्टकायिक कहलाते हैं ।

यह परिहारविष्णुद्वि चारित्र गालक और परिचारक के बिना आरम्भित नहीं किये जा सकने के कारण उपर्युक्त नामों से जाना जाता है ।

इस चारित्र को धारण करने वालों का नी-नी का समूह होता है । उनमें से खार तपस्यादि करने के होरा पालन करने वाले होते हैं, चार परिचारक वैद्य-कल्प करने वाले और एक वाचनाचार्य होता है ।

यद्यपि इस चारित्र को धारण करने वालों के युतातिशय मण्डल होने पर भी उनका जात्यर होने से एक वाचनाचार्य के रूप में स्थापित किया जाता है ।

**निविष्णुभानक की तपस्या का रूप इस प्रकार है—**

तपस्या करने वाले श्रीधरकाल में जघन्य गुरु, मध्यम दी और उत्कृष्ट तीन उपवास, शीत चतुर्काल में जघन्य दी, मध्यम तीन और उत्कृष्ट चार उपवास और वर्षाकाल में जघन्य तीन, मध्यम चार और उत्कृष्ट पांच उपवास करते हैं (और पारणे के दिन अभिघट सहित आदर्शिल व्रत (जिसमें विग्रह—शी, दूध वादि रस शोदकर दिन में केवल एक वार अव्य खाया जाता है तथा प्रासुक पाती पिया जाता है) करते हैं ।

भिक्षा के संसृष्टि, असंसृष्टि, उद्धृत, अल्पवेषिका, अवगृहीत, प्रगृहीत और उचित्त-धर्म इन सात प्रकारों में से आदि के दी प्रकार से यज्ञानिर्भत साधु के आहार का ग्रहण नहीं होने से ऐप पांच प्रकार से भिक्षा को ग्रहण किया जाता है और इन पांच में से भी एक के द्वारा आहार और एक के द्वारा जल इस तरह दो प्रकारों में अभियह धारण किया जाता है।

इस प्रकार छह मास तक तपस्या का कम चलता रहता है। वाचनाचार्य और परिचारक सदा आयमिल करते हैं।

छह मास पर्वत तप करने वाले निविशमालक परिचारक होते हैं और एविचारक तपस्या करते हैं। अर्थात् अभी तक जो मुनि वैयागृह्य कर रहे हैं वे, वे पूर्वोक्त विधि के अनुसार तपस्या करते हैं और तपस्या करने वाले परिचारक, वैयागृह्य करने वाले होते हैं। वे परिचारक और वाचनाचार्य आयमिल करते हैं।

इस प्रकार से छह मास पर्वत पूर्वोक्त के परिचारकों के द्वारा तपस्या सम्पन्न हो जाने के अनुसार वाचनाचार्य पूर्वोक्त प्रमाण छह मास पर्वत तपस्या करते हैं तथा आठ में से एक वाचनाचार्य तथा ऐप सात परिचारक—वैयागृह्य करने वाले होते हैं।

इस प्रकार इस परिहारविशुद्धि वारित्र की आसाधन अठारह मास में पूर्ण होती है। इन अठारह मासों में से प्रत्येक तपस्यी एक वर्ष के आयमिल और छह मास के उपवासों के अल्परात्र में आयमिल करते हैं।

इस अठारह मास प्रभाष कल्प के पूर्ण होने पर आसाधक पुनः इसी परिहारविशुद्धि कल्प को या जिनकल्प को स्वीकार करते हैं अथवा चतुष में लौट जाते हैं।

इस चारित्र को तीर्थेकर से अथवा पूर्व में तीर्थकर से स्वीकार करके आसाधना करने वालों से ही ग्रहण किया जाता है, अन्य से नहीं।

इस चारित्र के अधिकारी बनने के लिये मूहस्य पर्याय (उच्च) का जप्तत्य प्रभाष २६ वर्ष तथा साधु पर्याय (दीदाकाल) का जप्तत्य प्रभाष २० वर्ष तथा दीनों का उल्कुष्ट प्रभाष कुछ कम पूर्वकोटि वर्ष माना है।

इस संयम के अधिकारी को साढ़े नी पूर्व का ज्ञान होता है तथा इस संयम के धारक मुनि दिन के तीसरे प्रहर में भिक्षा और विहार कर सकते हैं तथा शेष समय में ध्यान, कायोरसर्ग आदि करते हैं।

दिग्भवर साहित्य में इसके बारे में कुछ भत्तेद है कि जन्म से लेकर तीस वर्ष तक गृहस्थ पर्याय में पहले के बाद दीक्षा ग्रहण कर तीर्थकर के पादमूल में आठ वर्ष तक प्रस्थान्यात् नामक नीर्वै पूर्व का अध्ययन करने वाले इस संयम को धारण कर सकते हैं। इस संयम के धारक तीस संघ्या कालों को छोड़कर प्रतिदिन दो कोस गमन कर सकते हैं। तीर्थकर के अतिरिक्त अन्य किसी के पास से इस संयम को ग्रहण नहीं किया जा सकता है।

**सूक्ष्मसम्पराय चारित्र**—किट्टिरूप लिये गये सूक्ष्म लोभकषाय का उदय जिसके अन्दर हो, उसे सूक्ष्मसम्पराय चारित्र कहते हैं। यह चारित्र दसवें शुण-स्थान में होता है तथा किट्टिरूप की गई लोभकषाय के अवशिष्ट भाग का यही उदय होता है।

सूक्ष्मसम्पराय चारित्र के दो भेद हैं—विशुद्धमानक और संक्षिलश्य-मानक। शापकश्चेणि अथवा उपशमश्चेणि पर आरोहण करने पर विशुद्धमानक होता है। क्योंकि उस समय प्रब्रह्ममान विशुद्धि वाले परिणाम होते हैं और उपशमश्चेणि से बिल्ले समय संक्षिलश्यमानक होता है। क्योंकि इस समय में फलनोन्मुखी परिणाम होते हैं।

**यथारूपात् चारित्र**—सर्वजीवलोक में अक्षय चारित्र प्रसिद्ध है। उस प्रकार का जो चारित्र ही उसे यथारूपात् चारित्र कहते हैं। यथारूपात् चारित्र का अक्षयात् यह अपर नाम है। जिसका निष्ठक्षिपूर्वक अर्थ इस प्रकार है—अथ अथत् यथार्थ और आइ यात्री अभिविधि—मर्यादा। अतएव इस प्रकार का अक्षय रूप जो चारित्र हो वह यथारूपात् चारित्र है। इन दोनों का समान अर्थ यह है कि कथायोदय से रहित चारित्र को अक्षयात्—यथारूपात् चारित्र कहते हैं।

यथारूपात् चारित्र के दो भेद हैं—(१) छाद्यस्थिक और (२) कैवलिक।

छाद्मास्थिक के दो प्रकार हैं—(१) क्षायिक और (२) वौषधिक। इनमें से चारित्रमोहनीय के सर्वथा धय से उत्पन्न हुआ क्षायिक यथार्थात्तचारित्र वारहवें जीणमोहगुणस्थान में और चारित्रमोहनीय के सर्वथा उपशम से जन्म वौषधिक धथार्थात्तचारित्र यारहवें उपशात्तमोहगुणस्थान में होता है।

कैवलिक यथार्थात्तचारित्र के भी ये प्रकार हैं—(१) सयोगिकेवलि-समवन्धी और (२) अयोगिकेवलि-समवन्धी। सयोगिकेवलि यात्मक तोरहवें तुल-स्थानकर्ती आत्माओं के चारित्र को सयोगिकेवलि यथार्थात्तचारित्र तथा चौहवें अयोगिकेवलिगुणस्थानकर्ती आत्माओं के चारित्र को अयोगिकेवलि यथार्थात्तचारित्र कहते हैं।

इस प्रकार से संक्षेप में सामायिक आदि पात्र चारित्रों का स्वरूप समझना चाहिये।



## औपशमिक सम्यकत्व-प्राप्ति विषयक प्रक्रिया का सारांश

अनन्तानुबंधि क्रोधादि कथायचतुष्क और दर्शन-भीहितिक (सम्यकत्व भोहनीय, सम्यग्मिथात्व भोहनीय—मिथ मोहनीय और मिथ्यात्व भोहनीय), इन सात प्रकृतियों के उपराम होने पर जीव की जी तस्करी होती है, उसे औपशमिक सम्यकत्व कहते हैं। इस स्थिति में मिथ्यात्व प्रेरक कर्मदलिक सत्ता में रहकर भी भस्माच्छादित अस्ति की तरह कुछ समय तक उपशांत रहते हैं, किन्तु साधन मिलने पर तुनः जपना रूप प्रकट कर देते हैं। औपशमिक सम्यकत्व के दो भेद हैं—ग्रंथिभेदजन्य और उपरामश्रेणिभावी। ग्रंथिभेदजन्य को प्रथमोधारम और उपरामश्रेणिभावी को द्वितीयोधारम सम्यकत्व भी कहते हैं।

ग्रंथिभेदजन्य औपशमिक सम्यकत्व असादि मिथ्याइष्टि भज्य जीव को प्राप्त होता है। इसकी प्राप्ति सुखुलंभ है। तत्सम्बन्धी प्रक्रिया इस प्रकार है—

अग्राध गम्भीर संसार समृद्ध के भूय में बत्तमान जीव मिथ्यादर्शन मोहनीयादि हेतु से अनाम पुद्गल-परावर्तन पर्यन्त अनेक प्रकार से शारीरिक और मानसिक दुःखों का अनुभव कर अत्यन्त कठिनाई से यत्किञ्चित् तथाभव्य-स्वभाव का परिपाक होने के कारण पर्वतीय नदी के पल्लव के गोल, चौकोर आदि होने के ल्याय से कि जैसे पर्वत की नदी का पल्लव टकराते-टकराते, छिसटते-न्धिसटते अपने आप गोल, चौरस आदि हो जाता है, उसी प्रकार अन्त-भोगिक-उपर्योग बिना के शूभ परिणाम रूप अथाप्रत्युत्तिकरण के द्वारा जिसका पूर्व में भेद नहीं किया, ऐसी कमपरिणामजन्य जीव रागद्वेष परिणाम रूप कक्ष, गाढ़ और सुदीर्घकाल से लड़ गुत गांठ जैसी ग्रंथिदेश को प्राप्त करता है।

कर्म से उत्पन्न हुए तीव्र रागद्वेष रूप मंथि लक अभव्य भी यथाप्रवृत्तिकरण के होने जितनी धारा आता है, पात्यु इस प्रका का भेदन अर्थात् आत्मा की सम्पत्ति प्राप्त करने के अवरोधक रागद्वेष का भेदन नहीं कर पाता है। यथापि अभव्य जीव भी इस यथाप्रवृत्तिकरण द्वारा मंथिदेश पर्यन्त आते हैं और अरिहंत आदि की विभूति को देखने अथवा इसी प्रकार की विभूति प्राप्त होने की भावना से अथवा अन्य किसी दूसरे हेतु से धर्मक्रिया में प्रवृत्ति करने से शुतोष्मा की प्राप्त करते हैं और कुछ अधिक नी पूर्व लक का अभ्यास भी करते हैं ; किन्तु सर्वविरति, वेषविरति या सम्यक्त्व या अन्य कोई आत्मिक लाभ नहीं कर पाते हैं।

यथाप्रवृत्तिकरण होने के बाद जिसको मोक्ष का सुख निषट है और उत्पन्न हुई वीर्य शक्ति का लीक्र देख रोका न जा सके ऐसा कोई भव्य जीव महात्मा तीक्ष्ण तज्ज्वार की धार जैसी अपूर्वकरण रूप परम विशुद्धि के द्वारा उत्पूर्त स्वरूप बाली मंथि का भेदन कर अनिवृत्तिकरण में प्रवेश करता है। अर्थात् अपूर्वकरण द्वारा उस रागद्वेष की कर्कष मांड के टूटने से जीव के परिणामों में अधिक विशुद्धि होने पर अनिवृत्तिकरण होता है।

रागद्वेष की दुर्भाव मंथि को तोड़ने में कारणमूल अपूर्वकरण भव्य जीव की चार-चार नहीं आता है, कदाचित् ही आता है और जब आता है तब मंथि का भेदन और अनिवृत्तिकरण के होने पर जीव की सम्यक्त्व का लाभ होता अवश्यम्भावी है, सम्यक्त्व प्राप्त होता ही है। इसीलिये इसको अनिवृत्तिकरण कहते हैं।

अनिवृत्तिकरण की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। अनिवृत्तिकरण के असंख्यात् मोग जाने के बाद एक सुल्यात्मा भाग बाकी रहता है, तब उद्य समय से सेकर उस सुल्यात्मे भाग जितनी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति को छोड़कर ऊपर की अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण स्थिति का एक भाग शेष रहने पर अन्तरकरण की किया गुण होती है। इस किया में अन्तर्मुहूर्त काल में बेदन करने योग्य मिथ्यात्म-मोहनीय कर्म के पुद्यगलों का अभाव होता है। इस किया के द्वारा मिथ्यात्म-मोहनीय कर्म की स्थिति के दो विभाग हो जाते हैं—अन्तरकरण से नीचे की

अन्तर्मुहूर्त प्रमाण प्रथम स्थिति और अन्तरकरण से क्षार की द्वितीय स्थिति। अन्तरकरण में के मिथ्यात्व के पुद्गलों को प्रथम और द्वितीय स्थिति में प्रक्षेप करके दूर किया जाता है और उतना वह स्थान मिथ्यात्व के पुद्गलों से पूर्ण-खेष रहित होता है। अब अब तक आत्मा प्रथम स्थिति का अनुभव करती है, वहाँ तक मिथ्याहृष्टि कहलाती है और उस प्रथम स्थिति के पूर्ण हो जाने पर अन्तरकरण—शुद्ध भूमि में प्रवेश करने से मिथ्यात्व का रस या प्रदेश द्वारा उदय नहीं होने से उपर्यम सम्यक्त्व प्राप्त करती है।

अनिवृत्तिकरण विषयक उक्त समय कथन का सारांश यह है कि अनिवृत्तिकरण की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। उस स्थिति का एक भाग ये रहने पर अन्तरकरण की क्रिया प्रारम्भ होती है। इस क्रिया के द्वारा अनिवृत्तिकरण के क्रम समय में मिथ्यात्वमोहनीय के दलिकों को आगे-पीछे कर दिया जाता है। कुछ दलिकों को अनिवृत्तिकरण के अन्त तक उदय में आने योग्य कर्म-दलिकों के साथ और कुछ को अन्तर्मुहूर्त के बाद उदय में आने वाले कर्मदलिकों के साथ कर दिया जाता है कि जिससे मिथ्यात्वमोहनीय का कोई दलिक नहीं रहता है। इस करण त्रिस्तका अवाधाकाल पूर्ण हो चुका है ऐसे मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के दो विभाग हो जाते हैं। एक विभाग वह कि जो अनिवृत्तिकरण के चरण समय पर्यन्त उदय में रहता है और दूसरा वह जो अनिवृत्तिकरण के बाद एक अन्तर्मुहूर्त बीतने पर उदय में आता है। इनमें से पहले विभाग को मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति और दूसरे विभाग को द्वितीय स्थिति कहते हैं। अन्तरकरण क्रिया के जुरु होने पर अनिवृत्तिकरण के अन्त तक तो मिथ्यात्व का उदय रहता है, उसके बाद नहीं रहता है। क्योंकि उस समय जिन दलिकों के उदय की सम्भावना है, वे सब दलिक अन्तरक्रिया के द्वारा आगे और पीछे उदय में आने योग्य कर दिये जाते हैं और अनिवृत्तिकरण काल के बीत जाने पर औपशमिक सम्यक्त्व होता है।

इस औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर जीव को स्पष्ट एवं असंदिक्ष प्रतिष्ठित होने लगती है। क्योंकि उस समय मिथ्यात्व मोहनीय का विपाक और प्रदेश दोनों प्रकार से उदय नहीं होता है। इसी कारण जीव का स्वाभाविक

गुण सम्यकत्व मुण्ड व्यक्त होता है। मिथ्यात्व रूप महान् रोग हट जाने से जीव को ऐसा आनन्द आता है, जैसे कोई पुराने एवं भयकर रोग से स्वस्थ होने पर अनुभव करता है।

औपशमिक सम्यकत्व की स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। क्योंकि इसके बाद मिथ्यात्व-मोहनीय के वे पुद्मल जिन्हें अन्तरकरण के समय अन्तर्मुहूर्त के बाद उदय आने वाला बनाया है उदय में आ जाने में या सांखेषण्य रूप में परिणाम कर दिये जाते हैं।

औपशमिक सम्यकत्व के काल को उपशांताद्वा कहते हैं। उपशांताद्वा के पूर्व अथवा अन्तरकरण के समय में जीव अपने विशुद्ध परिणाम से द्वितीय स्थितिमत मिथ्यात्व के तीन पुञ्ज करता है—(१) सर्वविशुद्ध (सम्यकत्व रूप), (२) अर्धविशुद्ध (सम्बन्धमिथ्यात्व रूप) और (३) अशुद्ध (मिथ्यात्व रूप)। औपशमिक सम्यकत्व का समय पूर्ण होने पर जीव के परिणामानुसार उक्त तीन पुञ्जों में से कोई एक अवश्य उदय में आ जाता है। यदि परिणाम शुद्ध है तो सम्यकत्व रूप सर्वविशुद्ध पुञ्ज का उदय होता है। जिससे सम्यकत्व का घाट नहीं होता है और उस समय प्रगट होने वाले सम्यकत्व को आयोपशमिक सम्यकत्व कहते हैं। जीव के परिणाम अर्धविशुद्ध होने पर दूसरा अर्धविशुद्ध पुञ्ज का उदय होता है, जिससे जीव मिथ्याहृष्ट कहलाता है और परिणामों के अशुद्ध होने पर अशुद्ध पुञ्ज का उँ होता है, तब जीव मिथ्याहृष्ट हो जाता है।

## ८

## दिगम्बर कार्मग्रन्थिकों का मार्गणस्थानों में योग कथन

मार्गणा के वासठ भेदों में योगों को इस प्रकार वस्तुताया है—

मतिपार्मणा की अपेक्षा नारक और देवों में औदारिकहिक - औदारिक और औदारिकभित्र काययोग सथा आहारकहिक - आहारात् और आहारकहिक काययोग इन चार योगों को छोड़कर शेष र्घारह योग होते हैं। तिर्यचों में कैकिय, वैकियभित्र काययोग, आहारक और आहारकभित्र काययोग इन चार योगों को छोड़कर शेष र्घारह योग तथा मनुष्यों के वैकियहिक की छोड़कर शेष तेरह योग होते हैं।

इन्द्रियमार्गणा की अपेक्षा एकेन्द्रियों में कार्मण काययोग और औदारिक हिक ये तीन योग होते हैं। विकलेन्द्रिय में उपर्युक्त तीन योग तथा अन्तिम बचनयोग अर्थात् असत्यमनूष्या बचनयोग सहित चार योग तथा धनेन्द्रियों में सर्व योग होते हैं।

कायमार्गणा में पृथक्की आदि पांचों स्थावरकायिकों में कार्मण काययोग और औदारिकहिक ये तीन योग तथा उसकायिकों में सभी योग होते हैं।

शोगमार्गणा की अपेक्षा स्व-स्व योग वाले जीवों के स्व-स्व योग होते हैं। अर्थात् सत्यमनोयोगियों के सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोगियों के असत्य-मनोयोग इत्यादि।

वेदमार्गणा की अपेक्षा पुरुषवेदियों के सभी योग होते हैं तथा स्त्रीवेदी और नपुंसकवेदी जीवों के आहारकहिक को छोड़कर शेष तेरह योग होते हैं।

कथावमार्गणा ही अपेक्षा क्रोधादि चारों कथाय वाले जीवों में सभी योग पाये जाते हैं।

आनन्दमार्गणा की अपेक्षा मनि, धूत और अवधिज्ञानी जीवों के सभी पद्धति योग होते हैं। मति-अज्ञानी, धूत-अज्ञानी जीवों में आहारकट्टिक को छोड़कर शेष तेरह योग तथा विभागज्ञानी जीवों के अपर्याप्तिकाल सम्बन्धी औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र और कामण काययोग तथा आहारकट्टिक हन पांच योगों को छोड़कर रूप दस योग होते हैं। केवल शिक्षिक अधर्म केवलज्ञान और केवलदर्शन काव्य जीवों के सत्यमनोयोग, असत्यामृषामनोयोग, सत्यवचनयोग, असत्यामृषावेचनयोग, औदारिकट्टिक और कामण काययोग ये सात योग होते हैं।

मनपर्याप्तिज्ञान तथा संयम मार्गणा को भैंद सूक्ष्मसम्प्रदायसंयम, परिहार-विशुद्धिसंयम और मनमामेयम (देशविरति) वाले जीवों के धनोयोगज्ञातुष्टक, वचनयोगचतुष्टक और औदारिककाययोग से भी योग होते हैं।

संयममार्गणा की अपेक्षा मामायिक और छोड़करस्थापना संयम वाले जीवों के चारों धनोयोग, चारों वचनयोग, आहारकट्टिक और औदारिक काययोग वे र्यारह योग तथा यथास्वात्मसंयम वाले जीवों के चारों धनोयोग, चारों वचनयोग, औदारिकट्टिक और कामण काययोग वे र्यारह योग और असंयमी जीवों के आहारकट्टिक को छोड़कर शेष तेरह योग होते हैं।

लेख्यमार्गणा की अपेक्षा कुण्डादि तीन लेख्यर वालों के आहारकट्टिक को छोड़कर शेष तेरह योग होते हैं। जेजोलेख्या आदि नीन लेख्यर वालों के सभी पद्धति योग पाये जाते हैं। अचशुद्धिन और अवधिदर्शन वाले जीवों में सभी योग होते हैं।

वर्णनमार्गणा की अपेक्षा चक्रुद्धीन वाले जीवों में अपर्याप्त काल सम्बन्धी तीनों मिश्रयोगों (औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र, कामण) को छोड़कर शेष चारह योग पाये जाते हैं। अचशुद्धिन और अवधिदर्शन वाले जीवों में सभी योग होते हैं।

भव्यमार्गणा की अपेक्षा अभव्य जीवों के आहारकट्टिक को छोड़कर शेष तेरह योग तथा भव्य जीवों के सभी योग होते हैं।

सम्यक्त्वमार्गणा की अपेक्षा उपशमसम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सासादन-सम्यग्दृष्टि जीवों के आहारकट्टिक को छोड़कर शेष तेरह योग जानना चाहिये।

ब्रेदक—शायोपशमिकसम्यमहिट और शायिकसम्यमहिट जीवों के सभी योग और मिथ अवलि सम्यमसिद्धाहिट वाले जीवों में अद्यात्म कालसम्बन्धी नित्यत्विक और आहारकहिट हो छोड़कर ऐसे इस योग पाये जाते हैं।

संज्ञीमार्गभा की अपेक्षा संज्ञी जीवों के सभी योग और असंज्ञी जीवों में कार्मणकायद्योग, जीदारिकत्विक और अनित्य वचनयोग (असत्यामृष्यावचनयोग) ये चार योग होते हैं।

आहारमार्गभा की अपेक्षा आहारक जीवों में कार्मणकायद्योग को छोड़कर शेष चौदह योग पाये जाते हैं और अनाहारक जीवों में मात्र कार्मणकायद्योग ही पाया जाता है।



## दिग्म्बर कर्मसाहित्य में मार्गणिस्थानों में उपयोग— विचार

मतिज्ञाम आदि उपयोग के बारह भेद गति आदि के क्रम से प्रत्येक मार्गणा के अवान्तर भेदों में हस प्रकार है—

मतिमार्गणा की अपेक्षा सरक, तिर्यच और देव मति में केवलट्रिक और मम-प्रयोग ज्ञान इन तीन दो छोड़कर शेष नी उपयोग होते हैं। मनुष्यगति में सभी बारह उपयोग पाये जाते हैं।

इन्द्रियमार्गणा की अपेक्षा प्रकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय और त्रीन्द्रिय जीवों में अचक्षु-दर्जन और मति-अज्ञान, शूल-अज्ञान वे तीन तथा चतुरन्द्रिय जीवों में चक्षुदर्शन सहित उक्त तीनों उपयोग, इस तरह कुल ज्ञान उपयोग पाये जाते हैं। प्रचेन्द्रिय जीवों में सभी उपयोग होते हैं। लेकिन इतना विशेष है कि जिन भगवान में उपचार से प्रचेन्द्रियत्व माना है, इस अपेक्षा से बारह उपयोग अन्यथा के बल-ट्रिक को छोड़कर शेष दस उपयोग ज्ञानमा ज्ञाहिये।

कायमार्गणा की अपेक्षा पृथ्वी आदि पाँचों स्थावर कार्यों में अचक्षुदर्शन, मति-अज्ञान और शूल-अज्ञान वे तीन उपयोग तथा ऋसकाय में सभी उपयोग पाये जाते हैं।

योगमार्गणा की अपेक्षा प्रथम और अन्तिम मनोयोग और वचनयोग और औदारिक काययोग में सभी उपयोग होते हैं। मध्य के दो मनोयोग (असत्त्व, सत्त्वासत्त्व) और दो वचनयोग (असत्त्व, सत्त्वासत्त्व) में केवलट्रिक को छोड़कर शेष दस उपयोग अदारिकमिशकाययोग और कार्यांकयोग में मन-प्रयोगज्ञान, विभंगज्ञान और चक्षुदर्शन इन तीन को छोड़कर शेष नी उपयोग

होते हैं। वैकियकाययोग में मनपर्यायज्ञान और केवलद्विक के छोड़कर शेष नी उपयोग पाये जाते हैं। वैकियमित्रकाययोग में केवलद्विक, मनपर्यायज्ञान, विभंगज्ञान और चक्षुदर्शन इन पांच को छोड़कर शेष सात उपयोग होते हैं। आहारक और आहारकास्थ काययोग में केवलद्विक, मनपर्यायज्ञान और अज्ञान-द्विक इन छह उपयोगों को छोड़कर शेष छह उपयोग होते हैं।

वेदसामार्गिणा की अपेक्षा पुश्पवेद में केवलद्विक को छोड़कर शेष दस उपयोग, स्त्रीवेद और नग्नसक वेद में केवलद्विक और मनपर्यायज्ञान इन तीन को छोड़कर शेष नी उपयोग होते हैं।

कथायमार्गणा की अपेक्षा ब्रोधादि चारों कथायों में केवलद्विक को छोड़कर शेष दस उपयोग जानना चाहिये।

आनपार्गिणा की अपेक्षा तीनों अज्ञानों में भृति-अज्ञान आदि अज्ञानविक और चक्षुदर्शन व अचक्षुदर्शन ये पांच उपयोग होते हैं। भृति आदि प्रथम चार सम्पर्यज्ञानों में अज्ञानविक और केवलद्विक के बिना शेष सात उपयोग होते हैं। केवलज्ञान में केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो उपयोग जानना चाहिये।

संग्रहमार्गणा की अपेक्षा सामायिक, शेदोषस्थापना और मूक्षसम्पर्याय संयम में अज्ञानविक और केवलद्विक के बिना शेष सात उपयोग, परिहारविश्वद्विसंयम और देशदिवतसंयम में आदि के तीन दर्शन और तीन सद्ज्ञान...मसि, शूत, अवश्य ज्ञान इस प्रकार छह उपयोग होते हैं। यथाक्रमातसंयम में पांचों सद्ज्ञान और आरों दर्शन इत्य प्रकार नी उपयोग होते हैं। असंयम में मनपर्यायज्ञान और केवलद्विक के बिना ऐष नी उपयोग होते हैं।

दर्शनमार्गणा की अपेक्षा आदि के दो दर्शनों में केवलद्विक के बिना शेष दस उपयोग होते हैं। अवधिदर्शन में केवलद्विक और अज्ञानविक के बिना शेष सात उपयोग और केवलदर्शन में केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो उपयोग होते हैं।

सेष्यमार्गणा की अपेक्षा कुण्डादि तीनों अशुभ लेप्याओं में मनपर्यायज्ञान और केवलद्विक के बिना शेष नी, तेजोलेप्या और पद्मलेप्या में केवलद्विक के बिना शेष दस और मूक्षसेष्या में सभी दारह उपयोग जानना चाहिये।

भव्यमार्गणा की अपेक्षा अक्षय जीवों में केवलद्विक के बिना शेष इस उपयोग और अभ्यन्तर जीवों के अज्ञानविक और चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन यह पांच उपयोग पाये जाते हैं।

सम्यकत्वमार्गणा की अपेक्षा सिंध्याल्प और सासादन सम्यकत्व में मति-अज्ञान आदि अज्ञानविक तथा चक्षुदर्शन व अचक्षुदर्शन ये पांच उपयोग पाये जाते हैं। अपीणशमिकसम्यकत्व में आदि के सीन दर्शन और लौन सदृशाभ ये सह उपयोग होते हैं। सम्यग्मिश्याल्प में यह यह मिथिल उपयोग होते हैं। क्षायिकसम्यकत्व में अज्ञानविक के बिना शेष नी उपयोग नहा वेदकसम्यकत्व में केवलद्विक और अज्ञानविक के बिना शेष सात उपयोग पाये जाते हैं।

संज्ञीमार्गणा की अपेक्षा संज्ञी जीवों में केवलशिक के बिना शेष दस उपयोग होते हैं। क्योंकि स्थोरि अयोगि केवलियों के तो संज्ञनियजन्य ज्ञान का अभाव होते से संज्ञी, असंज्ञी ऋषदेश नहीं होता है। इसलिये संज्ञी जीवों में केवलद्विक उपयोग नहीं माने जाते हैं। असंज्ञी जीवों में मति-अज्ञान, अतः-अज्ञान, अचक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन ये चार उपयोग होते हैं।

आहारमार्गणा की अपेक्षा आहारक जीवों में सभी बारह उपयोग तथा अनाहारक जीवों में विभंगज्ञान, मनवर्याधज्ञान और चक्षुदर्शन के बिना शेष नी उपयोग होते हैं।

इस प्रकार से मार्गणाजीवों में उपयोगों का विवार आनन्द वाहिने।



## अपूर्वकरणगुणस्थान में उत्तरोत्तर अपूर्व स्थितिबंध<sup>१</sup> एवं अध्यवसाय-मुद्दि का विवेचन

पूर्व में नहीं हुए अथवा अभ्य गुणस्थानों के साथ तुलना न की जा सके ऐसे स्थितिवाल आदि कार्य और परिणाम जिस गुणस्थान में होते हैं, उसे अपूर्व-करणगुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान में स्थितिवाल, रसधात, गुणश्रेणि, नुस्खेकरण और अपूर्वस्थितिबंध—ये पाँच कार्य होते हैं। ये कार्य इससे पूर्व के गुणस्थानों में नहीं होते हैं और इन सबके कारण हैं—आध्यात्मिक अध्यवसाय। अध्यवसायों की अपूर्व मुद्दि होने पर वे स्थितिवाल आदि कार्य होते हैं। जिन पर मंकोप में प्रकाश ढालते हैं।

कभीं की दोष स्थिति को अवर्तनकरण द्वारा घटाकर अत्य कठोर की स्थितिवाल कहते हैं और इसी प्रकार अशुभ प्रकृतियों के सौकर रस को अपवर्तनकरण द्वारा घटाकर कम कर देना रसधात है। इसका कारण है—पूर्व की अपेक्षा यहाँ बादर कषायों का महंगाय अभाव हो जाना। क्योंकि स्थितिबंध और अनुभवबंध की कारण कषाय है और कषायों की मंदता के कारण इस गुणस्थान में अशुभ प्रकृतियों के स्थिति और अनुभाग बंध में अत्यता आते जाने से उसका घाट होना अवश्यंभवी है।

सत्ता में रहे हुए कम्बलिकों का क्षय करने के लिये विशुद्ध अध्यवसायों के द्वारा उत्तरोत्तर उद्य समय में उन कम्बलिकों की पूर्व श्री अपेक्षा गुणकार रस से ऐसी रखना की जाती है कि आगे के समय में अद्विक दलिकों का क्षय हो पहुँच गुणश्रेणि का असंबोध है। इसी प्रकार सत्ता में रहे हुए अवध्यमान

अशुभ प्रकृतियों के दलितों को बंध्यमान शुभ प्रकृतियों में पुर्व पूर्व समय की अपेक्षा उत्तरोत्तर समय में असंख्यात गुणवृद्धि से संकात करना गुणसंकरण कहलाता है।

अशुभ प्रकृतियों की बैसी अवस्था हो जाने पर भी अभी गूण तिकर्म अवस्था प्राप्त नहीं होती है। अनेक अशुभ प्रकृतियों का बंधविच्छिद होने पर भी शुभ प्रकृतियों का बंध होता है। लेकिन पुर्व में अशुभ परिणामों के होने से जिन कमों की दीर्घतिथि बंधती थी उनकी इस गुणस्थान में तीव्र विशुद्धि होने से अल्प-अल्प हितनि बंधने यगती है और कह भी पुर्व-पूर्व से उत्तरोत्तर परिवर्तन का असंख्यातकों भागहीन बंधती है। इस प्रकार का स्थितिबंध होने के कारण अध्यवसाय हैं। अतएव यहाँ अपूर्व स्थितिबंध एवं अध्यवसायों की वृद्धि के सम्बन्ध में विचार करते हैं।

अपूर्व स्थितिबंध होने का काम अपूर्वकरणगुणस्थान के प्रथम समय से प्रारम्भ हो जाता है। यहसे समय में जो स्थितिबंध होता है, उससे अनुक्रम से घटते-घटते उसके बाद का स्थितिबंध परिवर्तन के असंख्यातके भागहीन होता है। इस प्रकार प्रत्येक स्थितिबंध बदलता है।

इस गुणस्थान में शिकालबर्ती अनेक जीवों की अपेक्षा समय-समय असंख्य लोकाकाश प्रदेशप्रभाण अध्यवसायस्थान होते हैं और वे पुर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर बढ़ते हुए होते हैं। जो इस प्रकार समझना चाहिये—

जिन्होंने भूतकाल में इस गुणस्थान के प्रथम समय को प्राप्त किया था, वहाँमान में प्राप्त करते हैं और भवित्व में प्राप्त करेंगे, उन सभी जीवों की अपेक्षा अध्यवसाय से लेकर उत्कर्ष पर्याप्त अनुक्रम से प्रवर्ध्यमान असंख्यात लोकाकाश प्रदेशप्रभाण अध्यवसायस्थान होते हैं। क्योंकि एक साथ इस गुणस्थान पर कुछ ही प्रथम समयबर्ती कितने ही जीवों ने अध्यवसायों में उत्तमता सम्भव है और सरलमता की यह संख्या केवलज्ञानी भगवतों ने इतनी ही देखी है। अतएव यह नहीं कहा जा सकता है कि इस गुणस्थान के प्रथम समय को प्राप्त करने वाले शिकालबर्ती जीव अनन्त होने से तथा परस्पर अध्यवसायों का हारण्य

होने के अध्यवसाय असंख्यत रूपों होते हैं। क्योंकि प्राथः समान अध्यवसाय वाले होने से जीवों की संख्या अनन्त होने पर भी अध्यवसायों की संख्या तो असंख्य नोकाकाश प्रवेशप्रसारण ही है तथा प्रथम समय में जिस स्वरूप वाले और जिसने अध्यवसाय होने हैं उससे द्वितीय समय में अन्य और संख्या में अधिक अध्यवसाय होते हैं। दूसरे समय में जो अध्यवसाय होते हैं, उनसे अन्य और अधिक नीसरे समय में होते हैं। इसी प्रकार अपूर्वकरण के चरम समय पर्यन्त समझना चाहिये।

इस गुणस्थान में पूर्व-पूर्व समय में उत्तर-उत्तर के समय में अध्यवसायों की तृदि में अविस्वभाव ही कारण है। इस गुणस्थान की प्राप्ति करने वाले अधिक प्रत्येक समय शब्दोपाधि की विचिकिता के कारण विशुद्धि की प्रकारता से अवभाव में ही भिन्न-भिन्न अध्यवसायों में रहते हैं, जिससे पहले समय में साथ चढ़े हए जीवों में जो अध्यवसायों की भिन्नता है, उसकी अपेक्षा दूसरे समय में अधिक भिन्नता जात होती है। इस गुणस्थान के प्रथम समय के अधिक्य अध्यवसाय से प्रथम समय का उत्कृष्ट अध्यवसाय अनन्तगुण विशुद्ध है। वहाँ जाथस्य अध्यवसाय इस गुणस्थान की अपेक्षा समझना चाहिये। क्योंकि अप्रभाससंयत-नुणस्थान के उत्कृष्ट अध्यवसाय से इस गुणस्थान का जाथस्य अध्यवसाय भी अनन्तगुण विशुद्ध होता है। पहले समय के अध्यवसाय से दूसरे समय के अध्यवसाय अलग हैं। पहले समय के उत्कृष्ट अध्यवसाय से दूसरे समय के अध्यवसायों में दूसरे समय के अध्यवसाय अलग ही हों। उससे उसी समय का उत्कृष्ट अध्यवसाय अनन्तगुण विशुद्ध है—इस प्रकार वहाँ तक कहाँ चाहिये कि द्वितीय समय के उत्कृष्ट अध्यवसाय ऐ चरम समय का जाथस्य अध्यवसाय अनन्तगुण विशुद्ध है। उससे उसी चरम समय का उत्कृष्ट अध्यवसाय अनन्त-गुण विशुद्ध है।

इस प्रकार एक ही समय के अध्यवसाय भी परमार्थ अनन्तभागवृद्ध, असंख्यात्मागुणवृद्ध, संहयात्मागुणवृद्ध, संख्यात्मगुणवृद्ध और अनन्तगुणवृद्ध—इस तरह छह स्थान गुण होते हैं। जिसका अर्थ यह है कि

विशुद्धि की अपेक्षा जबन्य अध्यवसाय में कितने ही अध्यवसाय असन्तभावत्वाद् अधिक विशुद्धि, कितने ही असंख्यातभाव अधिक विशुद्धि, कितने ही संख्यात-भाव अधिक विशुद्धि, इसी प्रकार कितने ही संख्यातमुण, असंख्यातमुण और अनन्तमुण अधिक विशुद्ध होते हैं। इस प्रकार इस गुणस्थान में किसी भी समय में वर्तमान अध्यवसाय पद्धत्यात्मकित होते हैं। ॥३॥

इस गुणस्थान में एक साथ चक्रहुए जीवों के अध्यवसायों में इस प्रकार की परस्पर विशुद्धि का तारतम्य होने से अपूर्वकरणगुणस्थान का अपश्च नाम निरुचि अवधा निरुसिकारण भी है।

● ●

३५८

३५९

३६०

३६१

## केवलिसमुद्घात—सम्बन्धी प्रक्रिया

जब आत्मा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन शाति-कर्मों का निःशेष रूप में थाय करके आत्मरमणसा के साथ सम्पूर्ण लीकव्यापी पश्चात्यों को हस्तामलकवत् जानने-देखने का शीघ्र प्राप्त कर लेती है, तब उसे केवलजानी कहते हैं। लेकिन अभी भी वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र नामक चार अव्यातिकर्मों के ज्ञेय रहने के कारण अपने दर्तमान भव में रहते हुए भन-वचन-काययोगों सहित होती है, तब सधोगिकेवली कहलाती है और इस अवस्था का घोषक सधोगिकेवलीगुणस्थान है।

सधोगिकेवलियों में से जिनके आयुकर्म की स्थिति काम और वेदनीय आदि जबशिष्ट तीन अव्यातिकर्मों की स्थिति अधिक होती है, तब आयुकर्म की स्थिति से अधिक स्थितियाले वेदनीय आदि उन तीन कर्मों की स्थिति को आयुकर्म की स्थिति के बराबर करने के लिये आत्मा का जो प्रयत्नविशेष होता है, उसे समुद्घात कहते हैं। इस समुद्घात का काल आठ समय प्रमाण है। इतने समय में वह आत्मा वेदनीय आदि तीन अव्यातिकर्मों की अधिक स्थिति को आयुकर्म की स्थिति के बराबर कर लेती है। जिसमें आयुकर्म के साथ-साथ जबशिष्ट वेदनीय आदि तीन कर्मों का भी क्षय हो जाने पर सर्वेदा के लिये निष्कर्म अवस्था को प्राप्त करके सिद्धिस्थान में रहते हुए आत्मरमणसा का अनुभव करती है। संसार के कारण शूल कर्मों का निःशेषरूपेण क्षय हो जाने से पुनः संसार में नहीं जाती है। अर्थात् सिद्ध होने के अनन्तर अनन्तकाल तक आत्मरमण करती रहती है।

एस्य आत्मरमणता ही श्रीवस्त्र का साध्य है और उसकी मिथि ही जाने के बाद अन्य कुछ करता थें नहीं रहता है।

समुद्धात में आत्मप्रदेश पारीर से बाहर विकल्प हैं और फिर उस पर्यन्त आत्मा के आकार प्रभाग हो जाते हैं। केवली आत्मा के द्वारा यह समुद्धात रूप प्रवलविशेष होने से इसे केवलिसमुद्धात कहते हैं।

केवलिसमुद्धात करने वाले सभी केवली उसके पूर्व आयोजिकाकरण करते हैं। आयोजिकाकरण का अर्थ यह है कि आ-मर्यादा, योजिका-व्यापार, करण-क्रिया अर्थात् केवलि की दृष्टिरूप मर्यादा के द्वारा अस्यन्त प्रशस्त मन-सञ्चय-कार्य के व्यापार को आयोजिकाकरण कहते हैं। यद्यपि केवलज्ञानसम्पद आत्मा के योग का व्यापार प्रशस्त ही होता है, फिर भी यहाँ ऐसी विशिष्ट योगप्रवृत्ति होती है कि उसके अनन्तर समुद्धात अथवा योगों के निर्णय की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। आयोजिकाकरण के अवजितकरण और आवश्यक-करण यह दो अपर नाम हैं। जिनका अर्थ इस प्रकार है—

तथा भव्यरूप परिणाम के द्वारा मोक्षमत्व के प्रति सम्मुच्छ दुर्द आत्मा के अत्यन्त प्रशस्त योग-व्यापार को अवजितकरण कहते हैं और जो क्रिया अवश्य करने योग्य होनी है वह आवश्यकाकरण है। अर्थात् अत्यन्त प्रशस्त मन, कर्म और काय व्यापार रूप क्रिया अवश्य करने योग्य होती है, इसीलिये वह आवश्यककरण कहलाती है। यद्यपि समुद्धात सभी केवली नहीं करते हैं, कुछ एक करते हैं और कुछ नहीं भी करते हैं, परन्तु यह आवश्यककरण तो सभी केवली करते हैं।

इस प्रकार का आयोजिकाकरण अथवा आवश्यककरण करने को पश्चात् वर्ते केवलज्ञानी आत्मा अपनी आयुर्लिंगि में वेदनीय आदि कर्म दीर्घस्थिति बर्दे हों तो उन्हें लक्ष करने के लिये समुद्धात करती है, परन्तु जिस केवली आत्मा की आयुर्लिंगि के साथ ही पूर्ण मर्यादा होने वाले कर्म हों तो वह समुद्धात नहीं करती है।

यह समुद्धात अन्तमुहूर्त आग्र शेष रहने पर होता है।

यहाँ प्रवन्त ही सकता है कि देखा कौनसा नियम है कि आयुकर्म से वेदनीय नाम और गोत्र कर्म ही अधिक स्थिति वाले होते हैं ? परन्तु किसी भी समय

में वेदनीय आदि से आयु अधिक स्थितिवाली नहीं होती है ? तो इसका उत्तर यह है—

जीवस्वभाव ही यही कारण है। आत्मा का उसी प्रकार का परिणाम है कि जिसके द्वारा वेदनीय आदि कर्म के बरबार अथवा न्यून ही आयुस्थिति होती है, किन्तु किसी भी समय वेदनीय आदि कर्म से अधिक नहीं होती है, जैसे आयुकर्म के अन्तर्वर्षध में जीवस्वभाव कारण है। आयुकर्म के सिवाय जाग्रत्वरूप आदि सातों कर्म तो प्रति समय बंधते रहते हैं, किन्तु आयु तो अपने भूज्यमान भव की आयु के तीसरे भाग, तीव्र भाग आदि निश्चित काल में ही बंधती है, परन्तु प्रतिसमय नहीं बंधती है। इस प्रकार के दंड की विचित्रता के मियम में जैसे स्वभाव के सिवाय अन्य कोई हेतु नहीं है, उसी प्रकार वेदनीय आदि कर्म न्यून अथवा समान आयु होते में जीवस्वभावविभेद ही कारण है, इसके सिवाय अन्य कोई हेतु नहीं है।

समुद्घात करने वाली केवली आत्मा पहले समय में मोटाई में अपने शरीर-प्रमाण और ऊर्ध्वरूपकालीन प्रमाण अपने आत्मप्रदेशों को दंड रूप बनाती है। दूसरे समय में अपने प्रदेशों को धूर्व-पश्चिम अथवा दक्षिण-उत्तर में कपाट रूप करती है। तीसरे समय में मध्याह्नी रूप करती है और चौथे समय में अवशिष्ट अन्तर्शालों को पूर्ण करती है। जिससे सम्पूर्ण चौदह रात्रि लोकव्यापी आत्मा हो जाती है। इसके बाद संहरण का द्वारा प्रतरम्भ होता है। जिससे पांचवें समय में असंख्यालों का, छठे समय में मध्याह्नी का, सातवें समय में कपाट का संहरण करती है और अगठवें समय में दंड का संहरण करके शारीरक होती है। इस प्रकार आठ समय प्रमाण केवलिसमुद्घात होता है।

इस आठ समय प्रमाण वलि समुद्घात के पहले दंडसमय में वेदनीय, नाम और शीत कर्म की पल्योगम के असंख्यालवें भाग प्रमाण जो स्थिति थी, इसके बुद्धि के द्वारा असंख्याल भाग करके उसमें का एक असंख्यालवां भाग शेष रख याकी की असंख्यालभाग प्रमाण स्थिति का आत्मप्रदेशों को दंड रूप करती आत्मा एक साथ धात करती है और पहले तीन कर्मों के रूप के अनन्त भाग कर उनमें से दंड समय में असत्तावेदनीय, प्रथम को छोड़कर शेष संख्यालपंचक और

महनत्यंचक, अप्रशस्त वर्णादि चतुष्क, उपवास, अप्रशस्तविहायोगति, अपर्याप्त, अस्थिर, अमूल, दुर्बल, दुःखर, अनादेय, अयग्नकीर्ति और नीचगोच रूप पञ्चवीस अशूल प्रकृतियों के अनन्त भागप्रमाण रस का घात करती है और एक अनन्त भाग शेष रहता है।

उसी समय सातावेदनीय, वेष्टिक, मनुष्यद्विक, चंचेन्द्रियजाति, शरीर-पंचक, अंगोपायाद्य, प्रथम संहनन, प्रथम संस्थान, प्रशस्त वर्णादि चतुष्क, अनुकलघु, पराधात, उक्तव्यास, प्रशस्तविहायोगति, अस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक, आसुप, उच्चोत, स्थिर, खुम, खुफ्प, खुस्वर, आदेय, वज्रःकीर्ति, निर्माण, तीर्थकार और उच्चगोच रूप उनसातीस प्रकृतियों के रस को पापप्रकृतियों के रस में प्रवेश कराने के द्वारा—संक्रमित करने के द्वारा नाश करती है। यह परिणाम समुद्धात की सामर्थ्य से होता है।

पहले समय जो असंख्यातवें भागप्रमाण लिथिति और अनन्तवें भागप्रमाण रस शेष रहा था, उसके बुद्धि द्वारा अनुक्रम से असंख्यात और अनन्त भाग करके उसमें से एक-एक भाग शेष रख बाकी की लिथिति के असंख्यातवें भाग और रस के अनन्त भागों की दूसरे कपाट के समय एक साथ घात करती है। यही भी प्रथम समय की तरह अप्रशस्त प्रकृतियों के रस में प्रवेश कराने के द्वारा—संक्रमित कराने के द्वारा प्रशस्त प्रकृतियों के रस का क्षय करती है।

दूसरे समय में क्षय होने से शेष रही हुई लिथिति और अवशिष्ट रस के पूलः बुद्धि के द्वारा अनुक्रम से असंख्यास और अनन्त भाग करके उसमें से एक एक भाग को शेष रख बाकी की लिथिति के असंख्यात भागों और रस के अनन्त भागों की तीसरे मंथानी के समय में एक साथ घात करती है। यही भी पुष्प प्रकृतियों के रस को पाप प्रकृतियों के रस में संक्रमित करके क्षय करती है।

तीसरे समय में अवशिष्ट लिथिति के असंख्यातवें भाग और रस के अनन्तवें भाग के बुद्धि के द्वारा अनुक्रम से असंख्यात और अनन्त भाग करके उनमें से चौथे समय में लिथिति के असंख्यात भागों का क्षय करती है और एक भाग शेष रखती है। इसी प्रकार रस के अनन्त भागों का क्षय करती है और एक भाग शेष रखती है। पुष्प प्रकृतियों के रस का क्षय भी पूर्व की तरह ही होता है।

इस प्रकार प्रति समय स्थितिषालाद्वि करने पर चौथे समय में अपने प्रदेशों द्वारा जिसने समूणे लोक पूर्ण किया है, ऐसी केवलजानी आत्मा की वेदनीय आदि तीन कर्मों की स्थिति अपनी आयु से संख्यात भूषी ही जाती है और रस तो अभी भी अनन्तयुग ही है।

अब चौथे समय में क्षय होने से अवशिष्ट रही स्थिति और अवशिष्ट रहे रस के बुद्धि द्वारा अनुक्रम से संख्यात और अनन्त भाग करके, उसमें का एक-एक भाग ऐष रख वाकी की स्थिति के संख्यात भागों को और रस के अनन्त भागों को पांचवे अंतर्गत के संहरण के समय में क्षय करती है।

इस प्रकार पहले चार समय पर्यन्त प्रति समय जितनी स्थिति और रस होता है उसके अनुक्रम से असंख्यात और अनन्त भाग करके एक-एक भाग ऐष रख वाकी के असंख्यात और अनन्त भागों का धरत करती है और चौथे समय में जो स्थिति और जो रस सत्ता में होता है, उसके संख्यात और अनन्त भाग करके एक भाग ऐष रख वाकी के असंख्यात और इन्हा भागों के पांचवे समय में धार करती है।

यहाँ से आगे छठे समय से लेकर स्थितिकांडक और रसकांडक का अन्तर्मुद्रूत काल में नाश करती है, यानि कि पांचवे समय में क्षय होने के काद जो स्थिति और रस की सत्ता ऐष रहती है उसके अनुक्रम से संख्यात और अनन्त भाग करके प्रत्येक का एक-एक भाग ऐष रख वाकी की स्थिति के असंख्यात और रस के अनन्त भागों को क्षय करने का प्रयत्न करती है। उसमें से किसीही भाग छठे समय में और किसीही भाग सातवें समय में इस प्रकार समय-समय में क्षय करते अन्तर्मुद्रूत काल में समस्त असंख्यात और अनन्त भागों का क्षय करती है तथा जो स्थिति और रस ऐष रहता है, उसके संख्यात और अनन्त भागों को कलामुद्रूत काल में क्षय करती है।

इस प्रकार अन्तर्मुद्रूत काल में स्थितिकात और रसधात करते-करते वही तक जाती है कि जब सांखोगिकेवलीयुणत्वान का अनन्त समय आता है।

समुद्धात के छठे समय से सधोगिकेवलिगुणस्थान के बहम समय तक के काल में अन्तर्मुहूर्त काल वाले अलंकृत्यात् स्थितिचाल और रसायन होते हैं और वेदनीय आदि तीव्र कमों की स्थिति भी आयु के समान हो जाती है। अधिक स्थिति वाले वेदनीय आदि तीव्र अवस्थिकमों की स्थिति को आयु की स्थिति के वरावर करना ही समुद्धात् तथा प्रथम का उद्देश्य है। लेकिन जिन सधोगिकेवली आत्माओं की वेदनीय आदि तीव्र अवस्थिकमों की स्थिति आयु के वरावर है, वे समुद्धात् करने का प्रयत्न भही करती है और विना समुद्धात् किये ही अस-परण आदि से रहित होकर भोक्षस्थान को प्राप्त कर लेती है।

जब आयु का अन्तिम समय आता है तब ये सधोगिकेवलि आत्माएँ योग-निमिसक बंध का नाश करने के लिये योगनिरोध की प्रक्रिया की और उम्मुख होती हैं। अतएव प्रामाणिक होने से संक्षेप में योगनिरोध की प्रक्रिया का वर्णन करते हैं।

### योगनिरोध की प्रक्रिया

योगनिरोध करने वाली—शीर्घ्यापार को बन्द करने वाली आत्मा प्रथम बादर काययोग के लक्ष से अन्तर्मुहूर्त मात्र काल में बादर वचनयोग का निरोध करती है और उसका निरोध करने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त उसी अवस्था में रहकर बादर काययोग के अवलम्बन में बादर भनोयोग का अन्तर्मुहूर्तकाल में निरोध करती है। वचनयोग और भनोयोग को रोकने हेतु अन्तर्मुहूर्त साधन के लिये बादर काययोग शीर्घ्यापार आत्मा का कारण—उस्कृष्ट साधन मात्रा है। यानि वज्जन, भन और काया द्वारा शीर्घ्यापार का रोध करने के लिये अवलम्बन की आवश्यकता होती है और उसके लिये काययोग अवलम्बन है। अतएव काय द्वारा होने वाले शीर्घ्यापार से पहले बादर वचनयोग और तत्पश्चात् बादर भनोयोग का रोध करती है।

बादर भनोयोग का रोध करने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त उसी स्थिति में रहकर उस्कृष्टसिविभास को अन्तर्मुहूर्तकाल में रोकती है। तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त उसी स्थिति में रहकर सूक्ष्म काययोग के द्वारा बादर काययोग का

रोध करती है। क्योंकि बादर काययोग रहने तक सूक्ष्म योग रोके नहीं जा सकते हैं तथा समस्त बादर योगों का निरोध हीने के अनन्तर ही सूक्ष्म योगों का रोध होता है।

बादर काययोग को रोकती हुई अस्त्रा पूर्वस्पर्धकों के भीचे अपूर्वस्पर्धक करती है। अर्थात् पहले जो अधिक वीर्यव्यापार बाले स्पर्धकों को करती थी, अब यही अस्त्र द्वीन वीर्यव्यापार बाले अपूर्वस्पर्धकों को करती है। किन्तु पूर्व में इस प्रकार के अस्त्रन्त द्वीन वीर्यणु बाले स्पर्धक किसी काल में नहीं किये थे, इसीलिये इस समय किये जाने बाले स्पर्धक अपूर्व कहलाते हैं। उसमें पूर्वस्पर्धकों की जो पहली दूसरी आदि वर्गणाएँ हैं, उनमें जो वीर्यविभाग-परिच्छेद-जीर्याणु होते हैं, उनके असंख्यात् योगों को खीचती है और एक असंख्यात् भाग शेष रखती है और जीवप्रदेशों में का एक संख्यात् भाग खीचती है और शेष सभको रखती है। यानि इतनी संख्या बाले जीवप्रदेशों में से पूर्वोत्तम वीर्यव्यापार को रोकती है। बादर काययोग का रोध करने पर पहले समय में इस प्रश्ना का किया होता है।

उत्तरात् दूसरे समय में पहले समय में खीचे गए असंख्यात् भागप्रमाण जीवप्रदेशों में से असंख्यात् गुण जीवप्रदेश खीचती है। अर्थात् प्रथम समय में एक भाग खीचा था, किन्तु दूसरे समय में असंख्यात् भाग खीचती है—इतने अधिक जीवप्रदेशों में से वीर्यव्यापार को रोकती है तथा पहले समय में जो वीर्यणु खीचे थे उनसे असंख्यात् गुणहीन यानि असंख्यात् भाग प्रमाण वीर्याणुओं को खीचती है। तात्पर्य यह हुआ कि पहले समय की अपेक्षा असंख्यात् भाग प्रमाण वीर्यव्यापार को रोकती है।

इस प्रकार पूर्व-पूर्व समय से उत्तर-उत्तर के समय में असंख्यात् गुण, असंख्यात् गुण असंख्यप्रदेशों में से पहले समय में रोके थे वीर्यव्यापार की अपेक्षा पीछे-पीछे के समय में असंख्यात् गुणहीन-असंख्यात् गुणहीन वीर्यव्यापार रोकती हुई रही तक जाती है कि जब अपूर्वस्पर्धक करने के अन्तर्मुहूर्त का चरम समय प्राप्त होता है।

इस अन्तर्मुहूर्त काल में अस्त्रन्त अंत्यं वीर्यव्यापार बाले सूक्ष्मिक्य के वीर्य-

मूल के असंख्यातवै भागप्रभाण अपुर्वस्पर्धक होते हैं। जोष पूर्वस्पर्धक क्षण ही रहते हैं। सभी पूर्वस्पर्धक अपुर्वस्पर्धक नहीं होते हैं।

अपुर्वस्पर्धक करने के अन्तर्मुहूर्ते के इसशब्दी समय में किट्ठि करने की अनुमति होती है, वह अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त होती है। एक-एक वीर्याणि की बुद्धि का नाश करने के यानि अधिक-अधिक वीर्याणि वाली वर्गाणाओं का क्रम से साथ-साथ उनके अनन्तगुणहीन वीर्याणि वाली एक-एक वर्गाणा को रखने के द्वारा योग की अल्प करने को किट्ठि कहते हैं। किट्ठि करने के अथवा समय में पूर्वस्पर्धकों और अपुर्वस्पर्धकों खल पहली आदि वर्गाणाओं के अविभाग परिच्छेदों—वीर्याणाओं के असंख्यातवै भागों को खीचती है और एक असंख्यातवै भाग जोष रखती है तथा जीवप्रदेशों का भी असंख्यातवै भाग खीचती है और जोष सभी भागों को रखती है। इसका तात्पर्य यह है कि किट्ठने जीवप्रदेशों को खीचती है, उसने जीवप्रदेशों में से जिसने वीर्याणि खीचती है उसने वीर्याणि प्रभाण वीर्यव्यापार को गोकर्ती है। यह किट्ठिकारण के पहले समय की किधा है।

इसरे समय में पूर्व में खीचे गये वीर्यविभाग परिच्छेद—वीर्याणि के भाग से असंख्यातगुणहीन वीर्याणाओं के भाग को खीचती है और जीवप्रदेशों के पहले समय में खीचे गये जीवप्रदेशों के असंख्यातवै भाग से असंख्यातगुण भागों की यानि असंख्यात भागों को खीचती है। इस प्रकार की किट्ठियों अन्तर्मुहूर्त के चरण समय तक चाहती है।

पहले समय में की गई किट्ठियों से दूसरे समय में की गई किट्ठियां असंख्यात-गुणहीन हैं। इसी प्रकार जोष सभी समयों के लिये जानना चाहिये। यहाँ गुणाकार पल्योपम का असंख्यातवै भाग है। पहले समय में की गई कुल किट्ठियां सूचिशेषि का असंख्यातवै भाग प्रभाण है। इसी प्रकार दूसरे जादि प्रत्येक समयों के लिये भी समझना चाहिये, परन्तु वे उत्तरोत्तर हीन-हीन हैं और सभी किट्ठियों का कुल योग भी सूचिशेषि का असंख्यातवै भागमात्र है।

किट्ठियों करने की किया पूर्ण होने के बाद भी पूर्वस्पर्धक और अपुर्वस्पर्धक जोष रहते हैं। सभी की किट्ठियां नहीं होती हैं। किट्ठि करने की किया पूर्ण होने के पश्चात् पूर्वस्पर्धक और अपुर्वस्पर्धक का नाश करती है। जिस

समय उनका नाम हुआ, उस समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त आत्मा किंद्रियतयोग—किंद्रिय योग वाली होती है। उस अन्तर्मुहूर्त में कुछ भी क्रिया नहीं करती है, परन्तु उसी स्थिति में रहती है। उसके बाद के समय में सूक्ष्म काययोग के अवलम्बन से अन्तर्मुहूर्त काल में सूक्ष्म वचनयोग का रोध करती है। सूक्ष्म वचनयोग का रोध करने के बाद अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त उसी अवस्था में रहती है। किसी भी अन्य सूक्ष्म योग को रोकने का प्रयत्न नहीं करती है।

उसके बाद के समय में सूक्ष्म काययोग के अवलम्बन से सूक्ष्म मनोयोग को अन्तर्मुहूर्त काल में रोकती है। उसके बाद भी अन्तर्मुहूर्त तदबस्थ रहती है। उसके बाद सूक्ष्म काययोग को अन्तर्मुहूर्त काल में रोकती है। उस सूक्ष्म काययोग को रोकने की क्रिया करती हुई वह सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाति नामक तीसरे सूक्ष्मस्थान पर आरूढ़ होती है। इस ध्यान की सहायता से मुख, उदर औरि का फौला भाग आत्मप्रदेशों से पूरित हो जाता है और शरीर के एक तृतीयांश भाग में से आत्मप्रदेश सिकुड़कर शरीर के दो तृतीयांश भाग में रहने वोम्य प्रदेह बाले हो जाते हैं।

सूक्ष्म काययोग को रोकती हुई आत्मा यहले समय में किंद्रियों के असंख्यात भागों का नाश करती है और एक भाग प्रोष्ठ रहती है। फिर प्रोष्ठ रहे एक भाग के भी असंख्यात भाग करके एक भाग को शेष रख वाली सभी भागों की दूसरे समय में नाश करती है। इस प्रकार समय-समय किंद्रियों का नाश करती हुई सयोगिकेवलीगुणस्थान के चरम समय तक जाती है और चरम समय में जितनी किंद्रियां रही हैं उनका नाश कर आत्मा अयोगिकेवलीगुणस्थान में जाती है। सयोगिकेवलीगुणस्थान के चरम समय में सभी कर्म अयोगिकेवलीगुणस्थान के काल जितनी स्थिति बाले हो जाते हैं, भाँत जिन कर्मप्रकृतियों का अयोगिकेवलीगुणस्थान में उदय नहीं है, उनकी स्थिति इवलपसत्ता की अपेक्षा समय-न्यून रहती है। सत्ताकाल की अपेक्षा सामान्यतया प्रत्येक प्रकृति का संताकाल अयोगिगुणस्थान के समान होता है।

सयोगिकेवलीगुणस्थान के चरम समय में सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाति ध्यान, सभी किंद्रियों, साताकेदनीय के बंध, नाम और गोष्कर्म की उदीरण, योग,

शुक्ललेश्या, स्थिति और रस का धात इन सात पदार्थों का एक साथ माल होता है और उसके बाद के समय में आरम्भ अयोगिकेवली हो जाती है।

इस अयोगिकेवलीयुग्मस्थान में आत्मा कर्मों का क्षय करने के लिये चतुषरत-क्रिया-अनिवृत्ति नामक चौथे शुक्लध्यान पर आरूढ़ होती है। इस समय में स्थितिवात, रसधात, उदीरण आदि किसी भी प्रवर्त्तन के बिना अयोगिकेवली यमवान जिन कर्मों का उदय है, उनको भोग द्वारा क्षय करते हैं और जिन कर्मों का यही उदय नहीं है, उनको वेदमान प्रकृति में स्त्रियुक्तसंक्रम के द्वारा संक्रान्त करते हुए अथवा स्त्रियुक्तसंक्रम द्वारा वेदमान प्रकृति रूप से अवृभव करते हुए वहीं तक जाते हैं, जब अयोगिकेवलीयुग्मस्थान का द्विचरम समय आता है। इस द्विचरम समय में देवटिक आदि अन्यादि देवतीय वर्ण-वृहत्तर इष्टजिलों का और ऐसे उद्यवक्ती तेरह प्रकृतियों का अरम समय में क्षय हो जाने पर परिपूर्ण रूप से विलक्षण हुई आत्मा एक समग्रमात्र में इच्छाति से गमन कर लोक के अपरभाग में स्थित हो जाती है और अनन्तकाल उसी रूप में स्थित रहती है।

समुद्रधात रूप प्रवर्त्तन से आरम्भ हुई प्रक्रिया का यह अन्तिम स्थिर्थ है।



## दिगम्बर साहित्य में गुणस्थानों में योग-उपयोग निर्देश

गुणस्थानों के चौकहं नाम दोनों परम्पराओं में समान है। दिगम्बर परंपरा-  
नुसार उनमें प्राप्त योगों का विवेचन इस प्रकार है—

तीन में तेरह-तेरह, एक में दस, सात में तीन, एक में चारह, एक में सात  
योग कमज़ोः जानना चाहिये। अधोगिकेवलीगुणस्थान में कोई भी योग नहीं  
पाया जाता है। पृथक्-पृथक् गुणस्थानों में प्राप्त योगों का निष्पण नीचे लिखे  
अनुसार है—

मिथ्यात्म, सासादन और अविरतसम्बद्धिट इन तीन गुणस्थानों में  
आहारकट्टिक के बिना शेष तेरह योग होते हैं।

तीसरे मिथ्यागुणस्थान में औदारिक-वैकिय-काययोगद्वय तथा सत्य, असत्य,  
उभय, अनुभय ये चारों मनोयोग और यही चारों वचनयोग, कुल मिलाकर  
दस योग होते हैं।

इन दस योगों में से वैकियकाययोग को छोड़कर शेष तीन योग पांचवें  
वेष्टविरत तथा अप्रभासविरत, जप्तुर्बंकरण, अग्निवृत्तिकरण, सूक्ष्मसंपराय, उप-  
शासंभोह और क्षीणभोह इन सात गुणस्थानों में होते हैं। जिनके नाम हैं—  
औदारिककाययोग, मनोयोगचतुष्टय, वचनयोगचतुष्टय।

छठे प्रमत्तसंदर्भतगुणस्थान में इन योगों के साथ आहारकट्टिक को मिला-  
कर कुल चारह योग पाये जाते हैं।

स्योगिकेवलीगुणस्थान में सत्य, असत्यामूला मनोयोगद्वय, सत्य, असत्या-  
मूला वचनयोगद्वय तथा औदारिकट्टिक एवं कार्यण ये तीन काययोग इस प्रकार

कुल सात योग होते हैं। अयोगिकेवलीगुणस्थान में योग का अभाव होने से कोई भी योग नहीं होता है।

इस प्रकार से गुणस्थानों में योगों को जानना चाहिये। अब उपयोग का निर्देश करते हैं।

### गुणस्थानों में उपयोग—

मिथ्यात्म और सासादन इन दो गुणस्थानों में मति-अज्ञान आदि अशान-शिक और मधुदर्शन, अचलदर्शन के पांच उपयोग पाये जाते हैं। अविद्य-सम्बन्धित और देशविरत इन दो गुणस्थानों में आदि के तीन ज्ञान—मति-श्रुत-अवधिज्ञान और आदि के तीन दर्शन—मधुदर्शन, अचलदर्शन और अवधिदर्शन के छह उपयोग होते हैं। तीसरे मिथ्यगुणस्थान में भी यही छह उपयोग हैं, किन्तु ज्ञान से मिश्रित ज्ञाना चाहिये।

छठे अमलविरत से लेकर बारहवें क्षीणमोह पर्यन्त सात गुणस्थानों में आदि के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनस्यरथिज्ञान और चक्रदर्शन, अचक्रदर्शन एवं अवधिदर्शन इस प्रकार कुल सात उपयोग होते हैं। सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इन तेरहवें चौदहवें गुणस्थान में केवलज्ञान और केवलदर्शन के दो उपयोग पाये जाते हैं।

गुणस्थानों में प्राप्त उपयोगों का क्रमन इस प्रकार से जानना चाहिये।



१३

## दिगम्बर कर्मग्रन्थों में वर्णित मार्गणास्थानों में जीवस्थान

मार्गणास्थानों के अवाभास वासठ भेदों में प्राप्त जीवस्थान इस प्रकार बतलाये हैं—

गतिमार्गणा की अपेक्षा तिर्यचयति में एकेन्द्रिय से लेकर संकी पञ्चेन्द्रिय फल्गुन सभी प्रकार के जीव होने से सभी जीवस्थान होते हैं तथा शेष देव, मनुष्य और नरक गति में संकी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्ति-अपर्याप्ति रूप दो-दो जीवस्थान जानना चाहिये ।

एन्द्रियमार्गणा की अपेक्षा एकेन्द्रियों में बादर पर्याप्ति, बादर अपर्याप्ति, सूक्ष्म पर्याप्ति, सूक्ष्म अपर्याप्ति ये चार जीवस्थान होते हैं । विकलेन्द्रियत्रिक में द्वीन्द्रिय पर्याप्ति, द्वीन्द्रिय अपर्याप्ति, त्रीन्द्रिय पर्याप्ति, त्रीन्द्रिय अपर्याप्ति, चतुरिन्द्रिय पर्याप्ति, चतुरिन्द्रिय अपर्याप्ति, ये छह जीवस्थान होते हैं और अपनी-अपनी अपेक्षा प्रत्येक में दो-दो जीवस्थान समझना चाहिये । पञ्चेन्द्रिय में असंकी पर्याप्ति, असंकी अपर्याप्ति, संकी पर्याप्ति और संकी अपर्याप्ति ये चार जीवस्थान होते हैं ।

वायमार्गणा की अपेक्षा पृथ्वी आदि गतियों स्थावर कार्यों में से प्रत्येक में बादर सूक्ष्म और में दोनों भी पर्याप्ति-अपर्याप्ति इस प्रकार चार-चार जीवस्थान जानना चाहिये । अस जीवों में से विकलत्रयों में प्रत्येक के पर्याप्ति-अपर्याप्ति ये दो-दो जीवस्थान जानना चाहिये तथा सकलेन्द्रियों (पञ्चेन्द्रियों) में संकी, असंकी और उनके पर्याप्ति, अपर्याप्ति ऐसे दो-दो मिलकर कुल चार जीवस्थान जाने जाते हैं ।

योगमार्गणा में असत्यमृषावचनयोग को छोड़कर शेष तीन वचनयोगों में और चारों मनोधीयों में एक संकी पर्याप्ति के जीवस्थान जानना चाहिये ।

असत्यामृतावचनयोग में पर्याप्त द्विनिधि, शीक्षिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय.....ये पांच जीवस्थान होते हैं। औदारिकमिश्रकाययोग और कार्यकाययोग में सुधम एकेनिधि आदि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त सातों अपर्याप्तक तथा संज्ञी पर्याप्तक ये आठ जीवस्थान होते हैं तथा औदारिककाययोग में सातों पर्याप्तक जीवस्थान जानना चाहिये। बौद्धिकत्वार्थ, भावहासिद्धिकाययोग में एक संज्ञी पर्याप्तक जीवस्थान जानना चाहिये। औदारिककाययोग में एक संज्ञी अपर्याप्तक जीवस्थान होता है।

केदमार्गणा की अपेक्षा स्वीकृत और पुरुषवेद में संज्ञी-अगंजी पर्याप्तक-अपर्याप्तक ये चार जीवस्थान होते हैं तथा नपुंसकवेद और काशयमार्गणा की अपेक्षा क्रोधादि चारों कथाओं में सभी चौदह जीवस्थान जानना चाहिये।

ज्ञानमार्गणा की अपेक्षा मति-अज्ञान, शुल-अज्ञान में चौदह जीवस्थान होते हैं तथा मति, शुल और अवधि ज्ञान में संज्ञी पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो जीव-स्थान पाये जाते हैं तथा विभेदज्ञान, भनपर्याप्त और केवलज्ञान में एक संज्ञी पर्याप्तक जीवस्थान होता है।

केवलज्ञान में विशेषापेक्षा संज्ञी पर्याप्त और संज्ञी अपर्याप्त ये दो जीव-स्थान भी माने जा सकते हैं और यह अपर्याप्तता भयोगिकेवलियों के समुद्दर्शन अवस्था में पाई जाती है। इसी हिटि से दो जीवस्थान समझना चाहिये। अन्यथा सामान्य से एक संज्ञी पर्याप्त जीवस्थान होता है।

संयममार्गणा की अपेक्षा सामाधिक, लेखोपस्थानभीय, परिहारविषयुदि, सूक्ष्म-सम्पर्काय, धनाख्यात और देशविगत इन छहों में एक संज्ञी पर्याप्तक जीवस्थान जानला चाहिये। असंयम में सभी चौदह जीवस्थान पाये जाते हैं।

बर्णमध्यमार्गणा की अपेक्षा चक्रदर्शन में पर्याप्त-अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय असंज्ञी, संज्ञी ये छह और अचक्रदर्शन में सभी चौदह जीवस्थान पाये जाते हैं। अक्षध्रिदर्शन में संज्ञी पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये दो जीवस्थान होते हैं। केवलदर्शन में एक संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवस्थान होता है। यदि सद्योग्य-केवली की समुद्दर्शन अवस्था की अपेक्षा विवार किया जाये तो संज्ञी अपर्याप्त जीवस्थान भी समझ द्वारा होने से केवलदर्शन में दो जीवस्थान माने जायेंगे।

लेश्याभार्गणा की अपेक्षा कुप्तावितीनों अशुभ लेश्याक्तों में चौथे तथा तेज, पदम और शुक्ल इन शुभ लेश्यात्मिक में संजी पर्याप्ति और अपर्याप्ति के दोनों जीवस्थान पाये जाते हैं।

अध्यमार्गणा की अपेक्षा अत्य और अभ्य के सभी चौथे जीवस्थान होते हैं।

सम्यक्त्वमार्गणा की अपेक्षा अपेक्षात्मिक, कायोग्यात्मिक और क्षायिक इन तीनों सम्पर्कदण्डों में संजी पर्याप्ति-अपर्याप्ति के दोनों जीवस्थान होते हैं। विशेषता के साथ स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि प्रथमोपशम सम्यक्त्व में मरण नहीं होने में एक संजी पर्याप्ति जीवस्थान होगा। द्वितीयोपशम सम्यक्त्व में मनुष्य की अपेक्षा संजी पर्याप्ति और देवों की अपेक्षा संजी अपर्याप्ति—इस प्रकार दो जीवस्थान होते हैं। कायोग्यात्मिक सम्यक्त्व में संजी अपर्याप्ति जीवस्थान मानने का कारण यह है भवनत्तिक को छोड़कर देवों के, प्रथम पृथ्वी के नारकों के साथ भौमभूमिज मनुष्य-तिर्यचों के अपर्याप्त अवस्था में भी यह सम्भव है। अहारप्रथम पृथ्वी के नारकों, भौमभूमिज मनुष्य-तिर्यचों और वैमानिक देवों को अपर्याप्त अवस्था में भी क्षयिकसम्यक्त्व सम्भव होने से क्षयिकसम्यक्त्व में संजी पर्याप्ति, अपर्याप्ति ये दो जीवस्थान माने जाते हैं।

सामाजिकसम्यक्त्व में चिह्नहस्ति की अपेक्षा सातों अपर्याप्ति और संजी पर्याप्ति के जाय जीवस्थान होते हैं। मिथ्यसम्यक्त्व में एक संजी पर्याप्ति जीवस्थान तथा मिथ्यात्मा में सभी जीवस्थान जानका चाहिए।

मंत्रिमार्गणा वरि अपेक्षा संजी पंचेन्द्रियों में संजी पर्याप्ति और अपर्याप्ति ये दो जीवस्थान पाये जाते हैं तथा असंजी पंचेन्द्रियों में संजी पंचेन्द्रिय सम्बन्धी दो जीवस्थानों को छोड़कर शेष जीवस्थान होते हैं।

आहारमार्गणा की अपेक्षा आहारका जीवों में सभी चौथे जीवस्थान और अनाहारक जीवों में सातों अपर्याप्ति और एक संजी पर्याप्ति कुल मिलाकर अठ-जीवस्थान होते हैं।

इस प्रकार मार्गणारथानों में जीवस्थानों की प्राप्ति का कथन समझना चाहिए।—... ●

## दिग्म्बर साहित्य में निर्दिष्ट मार्गणस्थानों में गुणस्थान

मार्गणस्थानों में गुणस्थानों की प्राप्ति का विचार इस प्रकार है—

गतिमार्गणों की अवेक्षा नरकगति और देवगति में पहले मिथ्यात्म से चौथे अविरतसम्यग्गृहिणि पर्यन्त तार गुणस्थान, लिंगचरिति में मिथ्यात्मपरि देशविरत पर्यन्त पाँच गुणस्थान तथा मनुष्यगति में सभी चौथह गुणस्थान होते हैं।

इन्द्रियमार्गण की अपेक्षा एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीवों में मिथ्यात्म और सासादन ये दो गुणस्थान होते हैं। यहाँ इतना विशेष है कि एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियों में पर्याप्तकाय में एक मिथ्यात्म गुणस्थान तो सर्वथ होता है तथा उसके जीवों में सासादनगुणस्थान किसी-किसी को मित्रत्वपर्याप्तक दशा में मरम्भन है। इसीलिये एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियों में दो गुणस्थान माने जाते हैं। पञ्चेन्द्रिय में सभी चौथह गुणस्थान होते हैं।

कायमार्गण की अपेक्षा यृथीकाय, जलकाय और वनस्पतिकाय जीवों में आदि के दो गुणस्थान होते हैं तथा सेषकाय और वायुकाय के जीवों में मिथ्यात्मगुणस्थान होता है। क्योंकि सासादनस्थ जीव मरकर तेज और वायु काय जीवों में उत्पन्न नहीं होते हैं तथा असकायिक जीवों में सभी चौदह गुणस्थान होते हैं।

योगमार्गण की अपेक्षा प्रथम और अन्तिम (सत्य और असत्यमृषा) मनो-वोगदाय और वज्रमयोगदाय तथा अद्वितीयिकाययोग में ईमण्डोगिकेवली पर्यन्त तेज़ह गुणस्थान होते हैं। मध्य के दोनों मनोवोगों और वज्रमयोगों में शोष-

कषाय तक के बारह गुणस्थान पाये जाते हैं। वैक्रियकाययोग में मिथ्यात्म आदि चार गुणस्थान होते हैं तथा वैक्रियमिथकाय में मिथगुणस्थान को छोड़कर आदि के तीन गुणस्थान पाये जाते हैं। उनके नाम हैं—मिथ्यात्म, सासादन और अविरतसम्यग्हटि। आहारकाययोग और आहारकमिथकाययोग में एक छठा प्रमत्तसंयत गुणस्थान होता है। श्रीदारिकमिथकाययोग और कार्यकाययोग में मिथ्यात्म, सासादन, असंयतसम्यग्हटि और सधोगिकेवली ये चार गुणस्थान होते हैं।

केदमार्गणा की अपेक्षा लीनों वेदों में तथा काव्यमार्गणा की अपेक्षा क्रोध, भान और माया इन तीन कषायों में मिथ्यात्म आदि अनिवृत्तिवादी पर्यन्त नी गुणस्थान तथा लोभकाय में आदि के मिथ्यात्म से लेकर सूक्ष्मसम्पराय पर्यन्त इस गुणस्थान पाये जाते हैं।

ज्ञानमार्गणा की अपेक्षा अज्ञातविक अथवा मति-ज्ञान, शुत-अज्ञान और किञ्चित्ज्ञान वाले जीवों के आदि के दो गुणस्थान होते हैं। ज्ञानत्रिक—मतिज्ञान, शुतज्ञान और अक्षिज्ञान वाले जीवों में असंयतसम्यग्हटि से लेकर नी गुणस्थान अर्थात् चौथे से बारहवें तक के नी गुणस्थान होते हैं। भ्रमपरिविज्ञान वाले जीवों के छठे प्रमत्तसंयत को आदि लेकर बारहवें शीणमोहृ पर्यन्त सात गुणस्थान होते हैं। केवलज्ञान और केवलदर्शन मार्गणा वाले जीवों के अन्तिम दो सधोगिकेवली, अयोगिकेवली गुणस्थान होते हैं।

संयममार्गणा की अपेक्षा संयमार्थिक और छोटीपृष्ठाघाना संयम वाले जीवों के प्रमत्तसंयत आदि चार गुणस्थान होते हैं। वधाख्यातसंयम वाले जीवों के उपसांतमोहृ आदि चार गुणस्थान होते हैं तथा सूक्ष्मसम्परायसंयम वाले जीवों के एक सूक्ष्मसम्पराय नासक दसवां और देशसंयम वालों के देशविरस नासक पांचवां गुणस्थान होता है। असंयत जीवों के मिथ्यात्म आदि चार गुणस्थान होते हैं तथा परिहारविशुद्धिसंयम वाले के प्रमत्तसंयत आदि दो गुणस्थान होते हैं।

दर्शनमार्गणा की अपेक्षा व्यधुदर्शन और अचक्षुदर्शन वाले जीवों के मिथ्यात्म आदि शीणमोहृ पर्यन्त बारह गुणस्थान होते हैं तथा अक्षिदर्शन वाले जीवों के

अविवेकसम्यग्हटित की आदि लेकर क्षीणमोह पर्यन्त नी गुणस्थान पाये जाते हैं। केवल स्वर्णमार्गणा के लिये पूर्ण में संकेत किया जा चुका है।

लेख्यामार्गणा की अपेक्षा कुल्लादि तीन लेख्या वाले जीवों के मिथ्यात्व आदि चार गुणस्थान, शुक्ललेख्या वालों के मिथ्यात्व आदि तेरह गुणस्थान तथा तेज और पद्मलेख्या वालों के मिथ्यात्व से अप्रमत्तसंयत पर्यन्त सात गुणस्थान होते हैं।

भव्यमार्गणा की अपेक्षा भव्य जीवों के मिथ्यात्व से लेकर क्षीणमोह पर्यन्त चारह गुणस्थान होते हैं। क्योंकि स्थयोगिकेवली और अयोगिकेवली को भव्य-ब्यपदेश नहीं होता है। इसीलिये भव्य जीवों के आदि के चारह गुणस्थान माने जाते हैं। अभव्य जीवों के तीन एकमात्र मिथ्यात्वगुणस्थान होता है।

सम्यक्त्वमार्गणा की अपेक्षा उपशम सम्यक्त्वी जीवों के जीये अविरत सम्यक्त्व से लेकर उपशात्मीह पर्यन्त आठ गुणस्थान तथा ज्ञायिक सम्यक्त्व वाले जीवों के अविरतसम्यक्त्व से लेकर अयोगिकेवली पर्यन्त चारह गुणस्थान और आयोपज्ञभिक सम्यक्त्वी जीवों के अविरतसम्यक्त्व आदि चार गुणस्थान होते हैं। मिथ्यात्वादित्रियों में उस-उस नाम वाला एक-एक ही गुणस्थान होता है। अधर्तृ मिथ्याहृषियों में पहला मिथ्यात्वगुणस्थान, सासादनसम्यग्हटित्यों में सासादन नामक दूसरा गुणस्थान और सम्यग्मिथ्याहृषियों में सम्यग्मिथ्यात्व नामक तीसरा गुणस्थान होता है।

संज्ञीमार्गणा की अपेक्षा संज्ञी जीवों के मिथ्यात्वादि धीणकथायात्म चारह गुणस्थान तथा असंज्ञी जीवों में मिथ्यात्वादि दो गुणस्थान होते हैं।

आहारमार्गणा की अपेक्षा आहारक जीवों के मिथ्यात्वादि सयोगिकेवली पर्यन्त तेरह गुणस्थान तथा असाहारक जीवों के मिथ्यात्व, सासादन, अविरत-सम्यग्हटित और सयोगिकेवली, अयोगिकेवली ये पांच गुणस्थान जासना चाहिये।

इस प्रकार मार्गणाओं में गुणस्थानों का विवान है।

### चतुर्दश गुणस्थानों में योगों का प्रारूप

गुणस्थान	सत्य सतीयोग												कुल योग
	असत्य अनीयोग	असत्य अनीयोग	सत्यसत्य सतीयोग	असत्यसत्य सतीयोग	सत्य वयनयोग	असत्य वयनयोग	सत्यसत्य वयनयोग	वैक्षिक्य काययोग	आहारक्रिया काययोग	आहारक्रिया काययोग	वैचारिक्य काययोग	वैचारिक्य काययोग	
भित्त्याहटि	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	३	११३
सासाशन	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	१	११३
सम्यग्भित्याहटि (मिश्र)	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	१	०१०
अविस्त सम्यग्हटि	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	१	११३
देवधिरति	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	१	११३
प्रमत्सत्यल	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	११३
अप्रमत्सत्यल	१	१	१	१	१	१	१	१	०	१	०	१	०११
अपूर्वकरण	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	१	०११
अमिहृतिवादर संपराय	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	१	०८
सूक्ष्म सम्पराय	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	१	०८
उषजातभोह	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	१	०६
क्षीणभोह	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	१	०६
सयोगिकेवली	१	०	०	१	१	०	०	१	०	०	०	१	१६
अयोगिकेवली	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०६
कुल गुणस्थान	१३	१२	१२	१३	१३	१२	१२	१३	५	६	१	२	३१०

चतुर्दश शुण्ठवानों में उपयोगों का प्रारूप

गुणस्थान	भृत्यादित	भृत्यादि	विभृत्यादि	भृत्यादि	भृत्यादि	भृत्यादि	केवलतादि	वर्णदर्शन	अचयुत्यादि	अचयित्यादि	केवलतादि	कुल उपयोग
मिथ्याद्विट	१	१	१	०	०	०	०	०	१	१	०	०
सासादन	१	१	१	०	०	०	०	०	१	१	०	०
मिथ्या	१	१	१	१	१	१	०	१	१	१	०	१
अविरत सम्बन्धद्विट	०	०	०	१	१	१	०	०	१	१	१	०
देहविरत	०	०	०	१	१	१	०	०	१	१	१	०
प्रभृत्यसंयत	०	०	०	१	१	१	१	०	१	१	१	०
अप्रभृत्यसंयत	०	०	०	१	१	१	१	०	१	१	१	०
अपूर्वकरण	०	०	०	१	१	१	१	०	१	१	१	०
अनिवृति वादरस्मिन्पराय	०	०	०	१	१	१	१	०	१	१	१	०
सूक्ष्मसम्पराय	०	०	०	१	१	१	१	०	१	१	१	०
उपशातमोह	०	०	०	१	१	१	१	०	१	१	१	०
क्षीणमोह	०	०	०	१	१	१	१	०	१	१	१	०
समोगिकेवली	०	०	०	०	०	०	०	१	०	०	०	१
असमोगिकेवली	०	०	०	०	०	०	१	०	०	०	०	१
कुल गुणस्थान	३	३	३	०	१	०	७	२	१२	१२	१०	२

## भारतीयों में जीवस्थानों का प्रारूप

नामांका	जीवस्थानों का प्रारूप											
	एकेन्द्रिय सूक्ष्म अपर्याप्ति	एकेन्द्रिय सूक्ष्म अपर्याप्ति	एकेन्द्रिय आवार अपर्याप्ति	एकेन्द्रिय आवार स्वर्णित	दोषीन्द्रिय अपर्याप्ति							
नरकमति	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०
तियंकरति	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
मनुष्यमति	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	२
देवमति	०	०	०	५	०	०	५	०	०	०	१	२
शकेन्द्रिय	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	४
हीन्द्रिय	०	०	०	०	१	१	०	०	०	०	०	२
त्रीन्द्रिय	०	०	०	०	०	०	१	१	०	०	०	३
चतुर्विन्द्रिय	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	०	२
पञ्चविन्द्रिय	०	०	०	०	०	०	०	०	०	३	१	४
पृथ्वीकाय	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	४
अध्याय	१	१	१	१	०	०	५	५	०	०	०	४
लेजस्काय	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	४
वायुकाय	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	४
वनस्पतिकाय	१	१	१	१	०	५	०	०	०	०	०	४
भूर्योग	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	२
वचनयोग	०	०	०	०	१	१	१	१	१	१	०	६
					०	१	०	१	०	०	१	५
					१	१	१	१	१	१	१	१०
काव्ययोग	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	४
	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१५
स्त्रीवेद	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	१	४
पुरुषवेद	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	१	४





## विशेष

सामान्य से मनोयोग वाले जीवों के वचन का काययोग और वचनयोग वालों के काययोग होता है। जिससे काययोग में चीज़ह, वचनयोग में एकेन्द्रिय के चार भेद विना शेष दस और मनोयोग में संक्षी पर्याप्त-अपर्याप्ति ये दो जीव-भेद होते हैं। परन्तु यहाँ मनोयोग वालों के वचनयोग और काययोग की तथा वचनयोग वालों के काययोग की दौषिण्या मानकर मनोयोग में दो, वचनयोग में छाड़ और काययोग में चार जीवस्थान का संकेत किया है।

जेकिम छठी गाथा में लक्ष्मि-अपर्याप्ति की विवक्षा होने से और उनके क्रिया का समाप्ति काल न होने से उसकी शैषिता मान लक्ष्मि-अपर्याप्ति द्वीन्द्रियादि चार भेद में वचनयोग और संक्षी-अपर्याप्ति में मनोयोग की विवक्षा नहीं की है, जबकि यहाँ लक्ष्मि-पर्याप्ति की विवक्षा होने से करण-अपर्याप्ति अवस्था में उन लक्ष्मि-पर्याप्ति जीवों के करण-पर्याप्ति जीवों की तरह क्रिया का प्रारम्भ काल और समाप्ति काल एक मान अपर्याप्ति द्वीन्द्रियादि चार में भी वचनयोग और संक्षी-अपर्याप्ति में मनोयोग कहा है। तथा मनोयोग की प्रश्नानता वाले जीवों के वचन व काययोग की और वचनयोग की प्रश्नानता वालों के काययोग की दौषिण्या मानकर छठी गाथा के अनुसार लक्ष्मि-अपर्याप्ति की विवक्षा करें और वहाँ बताये गये अनुसार योग घटित करें तो सात्र संक्षी पर्याप्ति रूप एक जीवभेद में मनो-योग, पर्याप्ति असंक्षी पंचेन्द्रिय और पर्याप्ति विकलेन्द्रिय इन चार में वचनयोग और शेष नौ जीवभेदों में काययोग होता है।

## वार्गिकीयों में गुणस्थानों का प्रारूप

आर्थिका	भिन्नताहीन गुणस्थान										कुल गुणस्थान			
	सामाजिक	सम्बन्धित्याहीन (विभ.)	अधिकार सम्बन्धीहीन	देवानिरीति	प्रबन्धालंबन	व्याप्रवत्सर्पण	अपृष्ठकर्त्तव्य	आनिष्टिकार्यसंपर्क	सूक्ष्मसंपर्क	उपहारानुकूलान् वीक्षणात्	छम्भेश्वर	समीक्षकान् वीक्षण	क्षम्भेश्वरी	
नरकमति	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	५
तिर्यचमति	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	५
मनुष्यगति	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१५
देवगति	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	४
एकानिक्य	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	३
द्विनिक्य	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	२
त्रिनिक्य	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	२
चतुर्विनिक्य	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	२
पंचनिक्य	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१५
पूर्वांकान्य	१	१	०	०	०	०	०	*	*	०	०	०	०	३
अष्टकान्य	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	३
तेजस्तकान्य	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	२
वायुकोण्य	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	२
वनस्पतिकान्य	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	३
प्रसकान्य	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१५
मनोयोग्य	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	१२
वज्रयोग्य	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	१३
काययोग्य	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	१३
स्त्रीवेद	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	८
पुरुषवेद	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	८
लघुसंक्षेप	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	८
क्रोध	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	८
भान	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	८

भारतीया	मिथ्याहृषि युक्तप्रधान	सामर्थ्यादान	सम्पन्नमिथ्याहृषि	अविरत-सम्प्रदायक्ष	देवाविरत	प्रसारसंगत	असम्भवसंयत	अपुरुषकरण	अनिष्टिसंवादरसेपराय	सूक्ष्मसंपराय	उपशोतकशाय वीक्षण	छात्रपद्धति	सायोगिकेवली	अयोगिकेवली	कुल-युक्तप्रधान
भाया	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	१०
लोभ	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	११
मतिअज्ञान	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	३
शुलभज्ञान	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	२
विभेगज्ञान	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	३
मतिज्ञान	०	०	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	१०
शुलभज्ञान	०	०	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	६
अवधिज्ञान	०	०	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	१०
मनपर्देक्षज्ञान	०	०	०	०	०	१	१	१	१	१	१	१	०	०	५
केवलज्ञान	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	२
सामा, चारित्र	०	०	०	०	०	१	१	१	१	१	१	०	०	०	४
छोटीपस्थापनीय	०	०	०	०	०	१	१	१	१	१	०	०	०	०	५
परिहारविशुद्धि	०	०	०	०	०	१	१	०	०	०	०	०	०	०	२
सूक्ष्म सम्पराय	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	०	०	०	१
मध्याह्यात्	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	१	१	४
देवाविरति	०	०	०	०	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१
अविरति	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	४
चक्रुद्धान	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	१२

वार्तावाह	निष्पत्तिशुल्कसंबंधी										कुल निष्पत्तिशुल्क						
	सासादन	सम्याग्रामिक्याहाइट	अविवरिति सम्याग्राहिटि	देवविवरिति	प्रभावसंयत	अप्रभावसंयत	अप्रभावकरण	अभिवृत्तिवादर सवराय	सुहम संपराय	उपग्राहकवाय कीतराय		कुलमस्थ	दीप्तिकावाय वीतराय	जन्ममस्थ	समोर्जिकेवली	अपोर्जिकेवली	
अचक्षुदर्शन	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७
अदशिदर्शन	०	०	०	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	१८
केकलदर्शन	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	२
कुष्णलेश्वर	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	४
नीसलेश्वरा	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	५
काषोत्तेश्वरा	१	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	५
लेकोलेश्वरा	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	६
पाष्ठलेश्वरा	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	७
शुक्ललेश्वरा	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	१	९
मव्य	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	४
अमव्य	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१
क्षायिक	०	०	०	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	११
क्षायोपशमिक	०	०	०	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	४
ज्येष्ठशमिक	०	०	०	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	४
घिर्य	०	०	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१
सासादन	०	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१
मिथ्याल्ल	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१
सफ्ली	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	१२
असफ्ली	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१२
आहारी	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	१३
अनाहारी	१	१	०	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	५

## योगोपयोग-मार्गणा अधिकार की शाथा—अकाराद्यनुक्रमणिका

ग्राथांश	ग्रा. सं./पृ.	ग्राथांश	ग्रा. सं./पृ.
अच्चवद्यु अवद्यु वेसण	१६।१५७	दस तसकाहु चउ चउ	२३।१६७
अज्जोयो अज्जोयी	१८।१२६	दुमु नाण-वेसणाई	२६।१७८
अक्षाण्मतिगं नाणाणि	४।१६०	दो मटसुष औड़ि दुमे	२७।१८०
अप्मस्तुवसन्त अजोयि	२३।१२००	नमिडण जिण वीरे	१३
अपुछ्याइसु सुक्का नविथि	३१।१६०	मश्सुष अक्षाण अच्चवद्यु	२७।१८२
अभ्लिक्ष्यु यहम्	३२।१६८	मणनाण विभगेसु	११।१८८
आलान्नोम लेस	३४।१२०२	मणुयगईए वारख	१३।११६
आहारद्वां जायड	५२।१२	मिम्मिय वा मिम्मी	२०।१४७
इगि विग्ल यावरेसु	६।१२	अझीए करणेहि य	७।१६८
एत्थ य जोगुयपोग-ण	३।१०	विग्लाधिपञ्जताएसु	८।४४६
काम्मुरलदुयमपञ्जे	०।१८	वेडविग्लाय जुया लै	१५।१२६
मइ इंदिए य काए	२।११६२	सब्बमसन्त्व उधर्य	४।१६६
चउ चउ पुमित्वि वेस	२४।१७०	सच्चा असच्चभीमा	१०।१८३
जा बायरो ता वेएसु	३०।१८८	सम्मत कारणेहि	१६।११८
जोए वेए सधी	४।४।११०	सयगाह पंचांथा	३।१३
जोगाहार दुगुणा	१६।१८८	सूरनारएसु चसारि	२८।१८५
तिरिअग्न्याए चोद्दस	२२।१६४	सव्वेसु वि मिर्छी	२६।१८८
तेउलेसाइसु योनि	२५।१७१		

## विवेचन में प्रयुक्त सन्दर्भ ग्रन्थ शूली

अनुयोग द्वार हरिभद्रीका टीका	पंचसंग्रह (दिवम्बर)
आचारांग सूत्र टीका	पंचसंग्रह प्राकृत वृत्ति
आप्लपरीक्षा	पंचाड्यावी
आवश्यक निर्युक्ति	प्रमेयकमल मालेश्व
नर्मप्रकृति (कम्मपथडी)	प्रब्रह्मनसार
कर्मस्तव-स्वोकिन्द्राणि वृत्ति	प्रब्रह्मनसारोदार
कषम्पाहुङ्ग	प्रजापना सूत्र
शोभमटसार-जीवकाण्ड	प्रजापना चूर्णि
तत्त्वार्थसूत्र	प्रकामरति प्रकारण
तत्त्वार्थराजवालिक	बृहत्संग्रहणी
तत्त्वार्थभाष्य	भगवती सूत्र
इत्यसंग्रह	लोकप्रकाश
नन्दी सूत्र टीका	षट्क्षणागम धर्मला टीका
नियमसार	समवायांग सूत्र
पंचसंग्रह-स्वोपजनृति	सर्वार्थसिद्धि
पंचसंग्रह-मनवधिर टीका	

